मुद्रक—
श्री सीता यन्त्रालय, लहुरी, बनारस।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक पश्चात्य तर्क-विषय पर लिखी गई है। यद्यपि पाश्चात्य तर्क का अध्ययन, अध्यापन भारतवर्ष में लगभग २०० वर्ष से अधिक काल से हो रहा है—किन्तु यह अगरेजी भाषा के माध्यम से होता था। सन् १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद हमारे देश के चिन्तकों का ध्यान हमारी भाषा की ओर भी गया है। भाषा और भाव का कितना सम्बन्ध है यह विषय पुस्तक में चर्चा का विषय बन चुका है। यहाँ केवल इतना ही समझना है कि प्रत्येक देश के लिये वहाँ की मातृभाषा वहाँ के लोगों को तत्वज्ञान समझाने के लिये अधिक सरल होती है, और उसके द्वारा अल्प काल में ही लोग किसी विषय के वेत्ता बन जाते हैं। इसी उद्देश्य को लेकर लेखक का यह प्रयत्न है।

भारत में भी बड़ी समुन्नत तर्क पद्धति बहुत सुदूर काल से प्रचलित है और उसका पठन पाठन यहाँ होता है, किन्तु यह मानकर सतोष कर लेना कि जो कुछ हमारे पूर्वजों ने लिखा है और सोचा है वही ठीक है और वही सब कुछ है—कम से कम इस वैज्ञानिक युग में इस विचार-धारा से अधिक जन सहमत न होंगे। ज्ञान सार्वभौम होता है। यह कहीं भी हो, कैसे भी हो, हमें ग्रहण करने में सकोच नहीं करना चाहिये। जिस तर्क-पद्धति को अरस्तू, बेकन, मिल आदि विचारकों ने ससार के सामने रक्खा है वह अद्भुत है। उससे लाभ उठाना हमारा धर्म है।

हमारी बहुत दिनों से भावना थी कि हम सरल, सुन्दर और उपयोगी भाषा मे तर्कविषय ग्रन्थ लिखें जिससे भारतीय विद्यार्थी अपनी भाषा द्वारा पाश्चात्य तर्क का लाभ उठा सकें। एक दिन बाबू नन्दकिशोरजी डिपार्टमेण्ट में पधारे और उन्होंने अपने विचार हमसे व्यक्त किये। उनकी

सद्भावना के अनुसार हमने उनका प्रस्ताव स्वीकार किया और यह पुस्तक मध्यम श्रेणी (Intermediate) के विद्यार्थियों के हितार्थ लिख डाली। भाषा को हमने दुरूह करने का प्रयत्न नहीं किया है। हमारा प्रयत्न अधिकतर विद्यार्थियों को तर्कशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कराने का ही है। इस पुस्तक को हमने दो भागों में विभक्त किया है विशेषानुमान (Deduction) और सामान्यानुमान (Induction) । शब्दावली हमने बहुत समझ बूझकर ग्रहण की है। जहां तक हमारा प्रयत्न रहा है हमने यही प्रयत्न किया है कि शब्द के मूल अर्थ का व्याघात न होने पाये।

समग्र तर्कशास्त्र में हमने अंगरेजी का रूप एवं शब्दः क्रियाविक्रम को मौलिक भाषा से निष्पन्न प्रकाश डाला है ग्रहण किया है। यद्यपि हमने उनका समानार्थी प्रामाण्य परित्याग किया है किन्तु वह अधिक लम्बा और बुद्धि पर भार देनेवाला होने के कारण अधिक प्रयोग में नहीं लिया है। इसके अतिरिक्त हमारी अपरिचित शब्दावली उपयुक्त और स्पष्टार्थ की व्यंजक है।

दोनों भागों का विषय वही है जो लगभग भारतीय विश्वविद्यालयों के इण्टरमीडियेट कक्षाओं का कोर्स है। क्योंकि मुझे स्वयं अध्यापकी का कार्य करते बहुत अधिक समय बीता है इसलिये विद्यार्थियों को जिन विषयगत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनको स्पष्ट करने का मैंने अधिक प्रयत्न किया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास प्रश्न दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थी पढ़ने के बाद परीक्षा के लिये प्रश्नों का हल करके विषय को तय्यार कर सकें। अन्त में दो परिशिष्ट देने का विशेष उद्देश्य यह है कि क्रियाविक्रम के विषय में जो मिथ्या की धारणा है तज्जन्य भ्रम दूर हो जाय तथा भारतीय और पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जो समानता है उसका भी चित्र हमारे सामने कुछ आ जाय।

अन्त में मैं उन लेखकों का आभार प्रदर्शन किये बिना नहीं रह सकता

जिनके पढ़ने, पढ़ाने के बिना मैं इस पुस्तक को लिख ही नहीं सकता था। वे हैं, ब्रेडले, बोसांके, डीवी, जोसेफ, स्टेबिङ्ग, क्राइटन, भोलानाथ आदि। ये सब महानुभाव मेरे गुरुतुल्य हैं इसलिये इनके ग्रथों के प्रति मेरी श्रद्धाञ्जलि है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक अधिकारी-वर्ग द्वारा तथा विद्यार्थियों द्वारा अपनाई जायगी। पुस्तक का मूल्य एक बार पढ़ने पर ही प्रतीत होगा।

विमलदास कौंदिया, जैन
न्यायतीर्थ, शास्त्री
M A (Phil) M A (Sans) LL B
प्रो० दर्शन विभाग हि० वि० वि०
बनारस

१०-३-५०

द्वितीय संस्करण

तर्कशास्त्र के लेखक को इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता है कि पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई थी, उसकी पूर्ति हुई है। परिणाम रूप इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया है। द्वितीय संस्करण शुद्ध करके मुद्रित किया जा रहा है। पुस्तक की उपयोगिता के विषय में अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ने अपने २ अच्छे अभिमत प्रकट किये हैं और इसकी भूरि २ प्रशंसा की है। इससे लेखक को पूर्ण संतोष है। शीघ्रता के कारण प्रथम संस्करण में पारिभाषिक शब्दों की सूची छूट गई थी। वह अब दी जा रही है। लेखक और प्रकाशक को पूर्ण आशा है कि अध्यापक तथा विद्यार्थी वर्ग इसका उपयोग कर तर्कशास्त्र के ज्ञान के प्रचार में सहायक होंगे।

विमलदास कोंदिया, जैन
M. A LL. B

१-६-५४

विषय-सूची

अध्याय १

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ६

अध्याय १०

अध्याय ११

अध्याय १२

अध्याय १३

अध्याय १५

अध्याय १६

अध्याय १७

अध्याय १

१—विषय-प्रवेश

तर्क करना यह बतलाता है कि मनुष्य अन्य प्राणियों से अधिक ज्ञान रखता है। सभी प्राणियों मे कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होता है। ज्ञान होने मात्र से तर्क करना नहीं होता है। तर्क मे हम सर्वदा दृश्य से अदृश्य या प्रदत्त से अप्रदत्त की ओर सोचते हैं। सोचना और तर्क करना एक ही बात है। यह मनुष्य में स्वाभाविक है। मनुष्य हमेशा से देश से परे, काल से परे, भाव से परे या इन्द्रियों से परे की वस्तुओं के विषय में तर्क द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा है। इस तर्क करने की या सोचने की प्रक्रिया ने ही तर्कशास्त्र को जन्म दिया है। तर्कशास्त्र का आधार, विचार है। जो वस्तु विचारकोटि में आ जाती है वह तर्क का विषय बन जाती है। विचार का पर्यालोचन मनोविज्ञान,[1] अतिभौतिक शास्त्र[2] या अन्य विज्ञान भी करते हैं, किन्तु तर्कशास्त्र[3] का विषय, विचार उन सबसे भिन्न है। तर्कशास्त्र केवल सामान्य विचारों को लेकर चलता है और सामान्य विचारों को आधार मान कर विशेष विचारों का निष्कर्ष निकालता है, या विशेष विचारों के आधार पर सामान्य विचारों के समूहात्मक वाक्य बनाकर सामान्य सत्यों को

---

1 Psychology 2 Metaphysics. 3. Logic

ग्रीक विशेषण 'लॉजिके' (Logike), जो ग्रीक संज्ञा शब्द 'लोगस' (Logos) के अनुरूप है, से बनाया गया है। लोगस शब्द का अर्थ है 'विचार'[1] और 'वाणी'[2]। इस शब्द का दो अर्थों में प्रयोग, यह प्रकट करता है कि विचार और वाणी में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और प्रायः दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसलिये तर्कशास्त्र मे वाणी द्वारा वर्णन किये हुए विचारों का यथारीति विचार किया जाता है।

'विचार' (Thought) से लोग भलीभाँति परिचित हैं और साधारण रूप से इसके अर्थ को भी जानते हैं। 'विचार' एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। यद्यपि विचार शब्द का अर्थ दार्शनिकों की दृष्टि मे अत्यधिक जटिल है तथापि हम यहाँ इस शब्द को तर्क शब्द के समानार्थ में प्रयोग करते हैं। विचार करना मानो तर्क करना है। तर्कशास्त्र, तर्क और तत्सम्बन्धी विविध प्रक्रियाओं का पूर्ण विचार करता है।

'तर्क' (Reasoning) **का अर्थ है ज्ञात से अज्ञात का परिज्ञान करना।** ज्ञात से हम प्रदत्त को लेते हैं अर्थात् वह हमारे तर्क का आधार होता है और अज्ञात से हम उसका ग्रहण करते हैं जिसका हमें अनुमान करना है। एक बालक पैदा हुआ है, हम तर्क करते हैं और परिणाम निकालते हैं कि वह मर जायगा। सम्भव है बालक अधिक काल तक जीवित रहे और पूर्णायु को भोग कर मरण को प्राप्त हो, किन्तु यह निश्चित है कि किसी न किसी दिन वह मरेगा अवश्य। यहाँ बालक का जन्म और उसका मरणधर्म हमारे प्रदत्त को बनाते हैं और इस प्रदत्त से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह अवश्य मरेगा। विधिपूर्वक उक्त तर्क इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

"सभी मनुष्य मरणशील हैं।
बालक मनुष्य है।

1 Thought 2 Speech

नाशक मरणशील है'।

इसी प्रकार हम एक पर्वत को धूएँ से ढका हुआ देखते हैं और उसको देखकर तर्क करते हैं कि वहाँ अग्नि होनी चाहिये। इस उदाहरण में धूएँ प्रदत्त है और वह ज्ञात है इस प्रदत्त से जो ज्ञात है, हम अप्रदत्त अर्थात् अज्ञात का—अग्नि का—ज्ञान करते हैं। यह ज्ञान हमारा सम्यक् ज्ञान[1] होता है। तर्क के पूर्ण और सही अर्थ को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इसके लक्षण में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ सुचारु रूप से समझ लें। लक्षण में आए हुए शब्दों की सार्थकता यथास्थान में बतलाई जायगी। तर्कशास्त्र, अनुमान-ज्ञान के अतिरिक्त 'लक्षण'[2], 'विभाग'[3] 'नामकरण'[4], 'वर्गीकरण'[5] इत्यादि का भी साथ-साथ अध्ययन कराता है क्योंकि तर्कशास्त्र के अध्ययन में इनकी भी अत्यन्त उपयोगिता है।

२—ज्ञान

'ज्ञान' (Knowledge) वह व्यवस्थित[6] विचार है जो वस्तुस्थिति के अनुरूप हो और जो इस प्रकार की अनुरूपता[7] में विश्वास कराता हो। इस लक्षण में ज्ञान के तीन अंश हैं—(१) ज्ञान व्यवस्थित विचार है (२) विचार वस्तुस्थिति के अनुरूप होता है (३) और ज्ञान इस प्रकार की अनुरूपता में विश्वास कराता है। उदाहरणार्थ, हम सूर्य को ले सकते हैं। हमें सूर्य का ज्ञान तभी होगा जब हमारे मन में एक गोल चमकीले, चमते हुए पदार्थ का विचार हो तथा इस विचार के अनुरूप आकाश में सूर्य नामक पदार्थ की

---

1 Right Knowledge. 2. Definition. 3. Division. 4. Nomenclature. 5. Classification. 6. Systematic. 7 Correspondence.

वास्तविक स्थिति हो तथा इस प्रकार की अनुरूपता में हमें विश्वास भी हो। यदि इनमें से एक भी अंश छूट जायगा तो हमें सूर्य का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस व्याख्या के अनुसार सीप के टुकड़े में चाँदी के ज्ञान या अँधेरे में रस्सी में सर्प के ज्ञान को हम यथार्थ ज्ञान नहीं कह सकते; क्योंकि इन दोनों ज्ञानों में हमें विचार और वस्तुस्थिति की अनुकूलता नहीं मिलती और इसीलिये विश्वास भी नहीं होता। वस्तु-स्थिति के अनुसार ज्ञान जितना अधिक व्यवस्थित होगा उसमें उतना ही अधिक नैर्मल्य होगा। ज्ञान की निर्मलता और निश्चायकता[1] उसके अधिकाधिक व्यवस्थित होने पर निर्भर है। उदाहरण के लिये, एक हीरे के टुकड़े का ज्ञान लें। एक बालक उसे खेलने की वस्तु समझता है, एक जौहरी के लिये वह बहुत मूल्यवान वस्तु है, एक खनिज-विज्ञान-वेत्ता[2] के लिये वह एक अद्भुत वस्तु है जो विकासक्रम से हीरे के रूप में परिणत हुई है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि एक ही वस्तु प्रत्येक व्यक्ति को एक सा ज्ञान पैदा नहीं कराती, उसकी प्रामाणिकता विचार के अधिकाधिक व्यवस्थित होने में ही है। जो ज्ञान जितना अधिक व्यवस्थित होगा वह उतना ही अधिक कार्यकारी होगा।

४—ज्ञान के स्रोत

'ज्ञान' के स्रोत तीन हैं:—(क) **प्रत्यक्ष**, (ख) **अनुमान**, और (ग) **आगम**:—

(क) **प्रत्यक्ष** (Perception) **वह ज्ञान है जिसमें हम इन्द्रियों या मन के द्वारा किसी वस्तु का स्पष्ट ज्ञान करते हैं। इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान को बाह्य-प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।** इन्द्रियाँ पाँच हैं —स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। इनके विषय पाँच हैं:—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द।

---

1 Definiteness 2 Minerologist

उपर्युक्त इन्द्रियाँ क्रमानुसार अपने-अपने विषय का ज्ञान कर लेती हैं। उदाहरणार्थ, हम सूर्य को देखते हैं और स्पष्ट रूप से जानते हैं कि वह आकाश में स्थित वस्तु है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी पदार्थों को उन् उन् गुणों के अनुसार जान लेती हैं। मन के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान को 'अभ्यन्तर-प्रत्यक्ष'[1] या मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में इसे अन्तर्निरीक्षण (Introspection) भी कहते हैं। हम अपने सुख-दुःखादि अनुभवों का ज्ञान मन से ही करते हैं; इनके ज्ञान में बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार प्रत्यक्ष हमारे ज्ञान का स्रोत है।

(ख) 'अनुमान' (Inference) वह ज्ञान है जिसमें साधन[2] से साध्य[3] का ज्ञान किया जाता है। यहाँ साधन प्रत्यक्ष होता है और साध्य अप्रत्यक्ष। इस तरह प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान करना अनुमान है। प्रत्यक्ष हमें प्रदत्त देता है और उसी के आधार से हम अप्रत्यक्ष का अनुमान कर लेते हैं। उदाहरणार्थ हम कहीं धुआँ उठता हुआ देखते हैं और उससे अग्नि के अस्तित्व का अनुमान करते हैं अथवा किसी के मुस्कराते हुए चेहरे को देख कर उसके आन्तरिक आनन्द का अनुमान लगाते हैं। इसलिये अनुमान भी हमारे ज्ञान का स्रोत है।

(ग) आगम (Authority) वह ज्ञान है जिसे हम आप्त वचन से प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य यथार्थ वक्ता है वही आप्त कहलाता है। उसका व्यवहार कपट या छल रहित होता है इसीलिये वह प्रामाणिक पुरुष या आप्त कहलाता है। आप्तत्व की मात्राएँ[5] होती हैं। जिस मनुष्य में जितनी अधिक आप्तत्व की मात्रा होगी वह उतना

---

1 Internal perception. 2. Probans. 3. Probandum. 4 True Speaker 5. Degrees.

ही अधिक प्रामाणिक पुरुष गिना जायगा। मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है इसलिये हम हर एक मनुष्य के कहने पर विश्वास नहीं कर लेते हैं। कभी-कभी हम उनके अनुभवों की परीक्षा करते हैं, अर्थात् प्रश्नादि करके उनके अनुभवों का निर्णय करके विश्वास करते हैं। आप्तत्व सर्वदा अन्य के विचारों को प्रभावित करता है और अपने अन्दर विश्वास करवाता है। यह आप्तत्व, व्यक्ति, पुस्तक या संस्था[1] आदि जिनका हमारे हृदय में आदर होता है, से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, हम माता-पिता, गुरुजन, धर्मग्रन्थ तथा धार्मिक संस्थाओं को ले सकते हैं जिनकी आज्ञाओं को हम बगैर 'नु, च' के पालन करते हैं। लेकिन आप्त वचन-जन्य ज्ञान की प्रामाणिकता में हमें सदा सतर्क रहना चाहिये, क्योंकि श्रद्धा अन्धी होती है और उसके कारण हम असत्य का भी ज्ञान कर सकते हैं। तथापि आप्तवचन हमारे ज्ञान के साधन हैं। संसार का बहुत कुछ व्यवहार आप्त-वचन से चलता है।

५—ज्ञान के भेद

ज्ञान दो प्रकार का होता है :—**प्रत्यक्ष[2] और परोक्ष[3]। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रियों और मन के द्वारा वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान कराता है।** प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं :—**बाह्य-प्रत्यक्ष[4] और आन्तर-प्रत्यक्ष[5]। बाह्य-प्रत्यक्ष, हमें इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं, जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि का ज्ञान कराता है। आन्तर-प्रत्यक्ष, आन्तर चित्तवृत्तियों, जैसे सुख, दुःख इत्यादि का स्पष्ट ज्ञान कराता है।** परोक्ष ज्ञान के विविध प्रकार हैं। **अनुमान[6], आगम आदि प्रकारों से**

---

1 Institution 2 Immediate 3. Mediate 4 External Perception 5 Internal Perception 6 Inference.

प्राप्त किया हुआ ज्ञान परोक्ष ज्ञान के अन्दर अन्तर्गत होता है। अनुमान, परोक्ष ज्ञान कहलाता है क्योंकि इसमें हमें वस्तु का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इसके ज्ञान के लिये हमें किसी अन्य ज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है। और दूसरे के बीच में पड़े हुए हमें अनुमान ज्ञान हो ही नहीं सकता। जब हम धुएँ से अग्नि का ज्ञान करते हैं उस समय और धुएँ के अग्नि का ज्ञान हो ही नहीं सकता। आप्तवचन से प्राप्त किया हुआ ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान है क्योंकि इस ज्ञान में, व्यक्ति पुस्तक या संस्था आदि माध्यम द्वारा ही ज्ञान सम्पादित होता है। इतिहास का ज्ञान भी इसी प्रकार का है क्योंकि जिन मनुष्यों ने उस प्रकार की घटनाओं को होते हुए देखा है और जिन्होंने उनका वर्णन पुस्तकों में किया है, उनको प्रामाणिक पुरुष मानकर हम उनके वचनों पर विश्वास करते हैं। धार्मिक पुस्तकों से ज्ञान भी, ऋषियों मुनियों तीर्थंकरों[1] आदि के अनुभव को प्रमाण मान कर ही होता है।

वास्तव में विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आप्तवचन-जन्य ज्ञान[2] भी अनुमान का ही प्रकार है। हम इस प्रकार तर्क करते हैं— हम कहते हैं कि आप्त-पुरुष द्वारा दिया हुआ ज्ञान सत्य है क्योंकि वह विश्वस्त पुरुष है। पुरुष की विश्वस्तता से हम उसके वचन को भी प्रमाण या सत्य मानते हैं। एक साधारण मनुष्य के लिये यह सर्वथा असम्भव है कि वह समस्त ज्ञान और विज्ञानों का अध्ययन कर उनका ज्ञान प्राप्त कर ले। जीवन[3] अल्प है; कला और विज्ञान का विस्तार अत्यधिक है इसलिये हमें बहुत-सी बातों के ज्ञान के लिये अन्य प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव या ज्ञान के ऊपर अवलम्बित रहना पड़ता

---

1 Prophets. 2. Knowledge based on authority
3. 'Life is short and art and science are long

है, इसलिये आगमीय ज्ञान अनुमान में भलीभाँति अन्तर्भूत हो सकता है।

६—तर्कशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से है या परोक्ष से ?

इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न तर्कशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है किन्तु बहुभाग तर्कशास्त्रियों का यही मन्तव्य है कि तर्कशास्त्र प्रत्यक्ष से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु परोक्ष से सम्बन्ध रखता है। उनके अनुसार तर्कशास्त्र मुख्य रूप से सिद्धि से सम्बन्ध रखता है अर्थात् तर्कशास्त्र में हम किसी वस्तु की सत्यता सिद्ध करते हैं। जहाँ तक प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध है साधारण अवस्थाओं में यह, निस्संशय सत्य होता है। माना कि हमारी आँखें निर्दोष हैं और ठीक हैं तो जो हम देखेंगे वह सत्य होगा। इसी प्रकार आतर-प्रत्यक्ष (मानसिक प्रत्यक्ष) भी मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान कराने में सत्य होता है। इसलिये इन ज्ञानों मे सिद्धि[1] (सबूत) की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के सत्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमें किसी प्रकार के विज्ञान[2] की आवश्यकता नहीं और न कला[3] ही हमें इस प्रकार के सत्यों के परिज्ञान के लिये पर्याप्त प्रतीत होती है। किन्तु ज्यों ही हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से परे जाने का प्रयत्न करते हैं और अनुमान या आगम का आश्रय लेते है त्योंही दोषों[4] के प्रवेश होने की सम्भावना हो जाती है। स्थल[5] को भीगे हुए देखने से हम वर्षा का अनुमान करते हैं। यह अनुमान ठीक भी हो सकता है और ग़लत भी हो सकता है। इसलिये सत्य और असत्य अनुमान का प्रश्न उपस्थित होता है। इसी कारण से हम कहते हैं कि तर्कशास्त्र परोक्ष से सम्बन्ध रखता है, प्रत्यक्ष से नहीं।

ज्ञान के दो भेद और हैं—१ साक्षात् (Direct) और २ असाक्षात्

---

1 Proof 2 Science 3 Art 4 Fallacies 5 Ground

(Indirect)। प्रत्यक्षज्ञान को साक्षात् ज्ञान भी कहते हैं। इसलिये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष दोनों ज्ञान साक्षात् ज्ञान हैं। परोक्ष ज्ञान को असाक्षात् ज्ञान भी कहते हैं। इसलिये अनुमान और आगम-जन्य-ज्ञान असाक्षात् ज्ञान है।

७—विचार

तर्कशास्त्र भाषा में प्रकट किये हुए विचारों का पर्यालोचन करता है। विचार (Thought) शब्द बड़ा अस्पष्ट है। इसका प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया जाता है। कभी-कभी विचार और ज्ञान दोनों एकार्थक माने जाते हैं। किन्तु तर्कशास्त्र में विचार शब्द सामान्य[1] के ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह विचार या सामान्य का ज्ञान कभी-कभी विचार की प्रक्रियाओं का बोध कराता है। जैसे—(१) विचार प्रक्रिया[2] (२) निर्णय-प्रक्रिया[3] और (३) तर्क-प्रक्रिया[4]। तथा कभी-कभी यह विचार के परिणाम का बोध कराता है जैसे—(१) विचार, (२) निर्णय और (३) तर्क।

विचार (Concept) का अर्थ सामान्य-विचार[5] है। हम 'घोड़ा' शब्द को ले सकते हैं। यदि हम इसका व्यक्ति के अर्थ में प्रयोग करें तो इसका अर्थ एक घोड़ा होगा और यदि इसका प्रयोग घोड़ा की जाति के अर्थ में किया जाय तो इसका अर्थ सामान्य घोड़ा होगा। हम घोड़ा का प्रयोग सामान्य घोड़ा के अर्थ में करते हैं, क्योंकि सब घोड़ों में कुछ असाधारण गुण होते हैं जिनके कारण हम प्रत्येक घोड़ा व्यक्ति को घोड़ा कह सकते हैं। इसलिए सामान्य विचार को बनाने की प्रक्रिया को हम विचार प्रक्रिया कहते हैं तथा उसके परिणाम को विचार कहते हैं।

---

1 General. 2. Conception. 3. Judgement. 4. Reasoning 5. General Idea.

निर्णय (Judgement) वह प्रक्रिया है जिसमें दो विचारों की आपस में तुलना की जाती है तथा जिसका परिणाम निर्णय कहलाता है। 'मनुष्य मरणशील है' इस वाक्य में 'मनुष्य' और 'मरणशील' दो विचारों का सतुलन किया गया है और उसके परिणाम-स्वरूप हमे एक निर्णय प्राप्त हुआ है कि 'मनुष्य मरणशील है'।

तर्क (Inference) वह प्रक्रिया है जिसमें हम एक या अधिक निर्णयों से दूसरे या अन्य निर्णयों पर पहुँचते हैं। अर्थात् जो प्रदत्त निर्णय होते हैं उन निर्णयों द्वारा हम अप्रदत्त निर्णयों पर पहुँचते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया को तर्क प्रक्रिया कहा जाता है तथा उसका परिणाम तर्क कहलाता है। इसको अनुमान भी कहते हैं। जैसे

"मनुष्य मरण धर्मा है।

कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं।"

इसलिये जब कभी हम विचार का प्रयोग करेंगे तब हम हमेशा सामान्य-विचार के अर्थ में ही प्रयोग करेंगे। यहाँ यह बात विशेष रूप से जानने की है कि जब हम विचार को भाषा में प्रयोग करेंगे तब वह शब्द[1] कहलायेगा, निर्णय को भाषा में प्रयोग करेंगे तब वह वाक्य[2] कहलायेगा, तथा तर्क को भाषा में प्रयोग करेंगे तब वह अनुमान[3] कहलायेगा।

८—विचार-निर्माण

विचार निर्माण मे ४ प्रक्रियाएँ काम मे लाई जाती हैं—**(१) तुलना**[4] **(२) भाव पृथक्करण**[5] **(३) सामान्यीकरण**[6] **(४) नामकरण**[7]। तुलना में हम व्यक्तियों की तुलना करते हैं और

---

1 Word 2 Sentence 3 Inference 4 Comparision 5 Abstraction 6 Generalisation 7 Naming

देखते हैं कि किन किन व्यक्तियों में कौन-कौन गुण पाए जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप जब हम देखते हैं कि ये गुण सर्वसाधारण हैं और ये गुण असाधारण हैं। जिन असाधारण गुणों के कारण कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से भेद रखते हैं उन्हें हम पृथक् कर लेते हैं और कहते हैं कि ये गुण इन व्यक्तियों में साधारण और आवश्यक हैं। इन साधारण और आवश्यक गुणों के आधार पर हम उन गुणों का सामान्यीकरण कर देते हैं। सामान्यीकरण करने के पश्चात् हम उनका नामकरण कर डालते हैं। पश्चात् उन व्यक्तियों का उसी नाम से व्यवहार किया जाता है। उदाहरण के लिये, हम मनुष्य को ले सकते हैं। मनुष्य और अन्य जीवों में अनेक गुण पाए जाते हैं। किन्तु अन्य सब गुणों को लक्ष्य में न लेते हुए हम मनुष्य के गुणों को अन्य जीवों के गुणों से तुलना करके देखते हैं कि मनुष्य में जीवत्व[1] और समझदारी[2] दो गुण ऐसे हैं जो इनमें पाए जाते हैं और अन्य में नहीं। फिर हम देखते हैं कि ये गुण सब मनुष्यों में मिलते हैं या नहीं। जब हम ये गुण सब उपलब्ध मनुष्य व्यक्तियों में पाते हैं तो हम उनका सामान्यीकरण कर डालते हैं। सामान्यीकरण के पश्चात् जीवत्व और समझदारी के आधार पर हम इन गुणों से विशिष्ट जीव का नाम 'मनुष्य' रख देते हैं। बाद में उसका मनुष्य शब्द से सर्वत्र व्यवहार होता है। इसी प्रकार विचारों का निर्माण किया जाता है।

६—विचारों का स्वरूप[3]

उपर्युक्त प्रक्रियाओं से जो विचार बनते हैं उन्हें हम अपने मस्तिष्क में धारण कर सकते हैं तथा जब आवश्यकता हो तब उनको पैदा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, हम इन विचारों को दूसरों के लिए लिख कर

1. Animality 2. Rationality 3 Nature.

भेज भी सकते हैं। कुछ दार्शनिक विचारों के स्वरूप के विषय मे भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं। उनके विचारों के स्वरूप के सम्बन्ध में ३ वाद प्रसिद्ध हैं —(१) **यथार्थवाद**, (२) **विचारवाद** और (३) **नामवाद**।

(१) **यथार्थवाद** (Realism) **वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक विचार के अनुरूप कोई न कोई पदार्थ अवश्य होता है**। जैसे मनुष्य, एक विचार है और इसके अनुरूप मनुष्य नाम का पदार्थ अवश्य है, लेकिन यह मनुष्य एक व्यक्ति मनुष्य नहीं किन्तु सामान्य मनुष्य वा भावात्मक मनुष्य है जिसमे सब मनुष्य व्यक्तियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। इस मनुष्य की सत्ता वास्तव में पाई जाती है। इस सिद्धान्त के अनुयायी प्लेटो, अरिस्टोटल और स्पेन्सर आदि विद्वान हैं।

(२) **विचारवाद** (Conceptualism) **वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार विचार यथार्थ नहीं है किन्तु सामान्य विचार मात्र है**। विचार एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु के सामान्य और आवश्यक गुणों के आधार पर उसका विचार बनाते हैं। इनमें हम, जो गुण परिवर्तनशील[1] या आकस्मिक[2] होते हैं उनको अलग कर देते हैं। इसके परिणाम रूप केवल विचार मात्र रह जाता है। जैसे 'हाथी' कुछ सामान्य और आवश्यक गुणों के कारण ही हाथी कहलाता है। इस सिद्धान्त के माननेवाले लॉक और ब्रेडले इत्यादि विद्वान हैं।

(३) **नामवाद** (Nominalism) **वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार विचार केवल नाम मात्र है**। ससार में विचार नामक कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। जितने विचार हैं वे सब व्यक्तिवाचक हैं।

---

1 Variable. 2 Accidental

इसलिये व्यक्तियों के नाम[1] ही सत्य हैं। ये नाम ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं के वाचक होते हैं और अपने वाच्यों का बोध कराते हैं। बिना 'हाथी' शब्द के हम किसी हाथी का विचार ही नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त को माननेवाले हाब्स और बर्कले आदि विद्वान हैं।

१०—विचार और भाषा

भाषा (Language) और विचार (Thought) का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचारों की उत्पत्ति भाषा के बिना नहीं हो सकती। विचार भाषा के अभाव में न धारण ही किये जा सकते हैं और न हम उनको अन्य विचारों के साथ तुलना में ला सकते हैं। इसलिये तर्कशास्त्र से सम्बन्धित भाषा का पर्यालोचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा वह है जिसके द्वारा प्राणी अपने भाव दूसरों के प्रति प्रकट करे। यह भाषा दो प्रकार की होती है:—(१) व्यक्तात्मक[2] और (२) अव्यक्तात्मक[3]। व्यक्तात्मक भाषा वह है जो ध्वनियों या संकेतों से बनती है। हम अपने भावों को प्रकट करने के लिये कुछ ध्वनियें या संकेत निश्चित कर लेते हैं पश्चात् उनके द्वारा हम भाव और पदार्थों को जानने का प्रयत्न करते हैं। सब भाषाओं की सृष्टि इसी प्रकार से होती है। कभी-कभी एक ही शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतक होता है। हाँ यह अवश्य है कि जो भाषा अधिक से अधिक विचारों को प्रकट करने में समर्थ होती है वह उतनी ही महत्वशाली समझी जाती है। भाषा का महत्व तर्कशास्त्र में इसलिये है कि वह (१) विचारों की वाहक[4] होती है (२) उसके द्वारा हम सरलता से अपने भावों को दूसरों तक लिखकर या बोलकर पहुँचा सकते हैं (३)

---

1 Particular names. 2. Articulate. 3. Inarticulate. 4 Vehicle.

तथा भाषा के अन्दर अनन्त काल का सञ्चित ज्ञान एकत्रित करके सदा के लिये स्थिर रक्खा जा सकता है। यह भाषा की विशेषता है। **अनक्षरात्मक भाषा वह है जिसमें हाव-भाव, रूप, इशारे आदि से प्राणी अपने भावों को दूसरे के प्रति व्यक्त करते हैं।** इसका तर्कशास्त्र में विशेष उपयोग नहीं होता। पशु, पक्षी इसका अधिक व्यवहार करते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी इसको उपयोग में लाते हैं।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है:—क्या भाषा के अभाव में विचार रह सकता है या नहीं? इस प्रश्न के बारे में भिन्न-भिन्न उत्तर हैं। कुछ का कहना है कि भाषा के बिना विचार रह सकते हैं और कुछ का कहना है, नहीं रह सकते। वास्तव में यह प्रश्न तर्कशास्त्र से सम्बन्ध ही नहीं रखता, इसका सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। हाँ, इतना अवश्य है कि तर्कशास्त्र उन विचारों का अध्ययन करता है जो भाषा में प्रकट किये जाते हैं। हेमिल्टन के शब्दों में "भाषा विचारों के लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी कमानी सुरग के लिये।" यह सम्भव है कि प्राथमिक विचार भाषा के बिना भी रह सकते हों किन्तु भावों के व्यञ्जन के लिये भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध ही हमें तर्कशास्त्र और व्याकरण के सम्बन्ध की चर्चा के लिये प्रेरित करता है। इसका विचार आगे किया जायगा।

११—विचार का 'रूप' और 'विषय'

संसार में जितने भौतिक[1] पदार्थ हैं उनमें रूप (Form) और विषय (Matter) दोनों पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये 'घड़ा', इसमें टेढ़ी गर्दन आदि रूप भी है और मिट्टी, जिसका वह बना हुआ है, विषय भी है। यह निश्चित है कि इस प्रकार का कोई भी पदार्थ

---

1. Material

बिना रूप और विषय के उपलब्ध नहीं हो सकता। यही नहीं, बिना रूप के विषय नहीं मिल सकता और न विषय के बिना रूप ही मिल सकता है। लेकिन यह सुविदित है कि रूप और विषय एक दूसरे के ऊपर प्रभाव न डालते हुए अनेक प्रकार से परिवर्तित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ चाँदी की घड़ी के गोल, तिकोना आयताकार आदि अनेक रूप हो सकते हैं। उसी प्रकार इन रूपों में अनेक प्रकार के विषयों जैसे चाँदी सोने, निकल आदि की घड़ियाँ बनाई जा सकती हैं।

जिस प्रकार हम भौतिक पदार्थों में रूप और विषय पाते हैं उसी प्रकार विचार, जो अभौतिक पदार्थ हैं उनमें भी ये दोनों पाये जाते हैं। विचार के रूप से हमारा अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा मस्तिष्क उसके बारे में सोचता है तथा विचार के विषय से हमारा मतलब उस वस्तु से है जिसके बारे में हम विचार करते हैं। विचार जब भाषा में प्रगट किये जाते हैं तब वे पद[1], वाक्य[2] और अनुमान[3] आदि के रूपों में उपस्थित किये जाते हैं। मनुष्य और अमनुष्य ये दोनों पद रूप की दृष्टि से विधिवाचक और निषेधवाचक हैं किन्तु उनका विषय उनके अर्थों में निहित है। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' यह सामान्य विधिवाचक वाक्य रूप की दृष्टि से है किन्तु इसका विषय इसका अर्थ निर्धारित करता है। अनुमान का यह रूप कि—

'सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
नागार्जुन मरणशील है।'

रूप की दृष्टि से है किन्तु इसका विषय, उन तीनों वाक्यों से जो इसके निर्माता हैं, उनसे बना हुआ है।

---

1 Term. 2. Sentence or Judgement, 3 Inference.

जिस तरह भौतिक पदार्थों के रूप और विषय बदल सकते हैं उसी तरह विचारों के भी रूप और विषय बदल सकते हैं। विचारों मे रूप वही रहता है किन्तु विषय बदल जाता है, विषय वही रहता है किन्तु रूप बदल जाता है। उदाहरणार्थ, 'सब मनुष्य मरण-धर्मा हैं' और 'सब गाएँ चार पैर वाली हैं', इन दोनों वाक्यों का रूप एक ही है यद्यपि विषय भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार उदाहरणार्थ, 'सब मनुष्य मरणशील हैं' और 'कोई मनुष्य अमर नहीं है', इन दोनों वाक्यों का रूप अलग-अलग है किन्तु विषय एक ही है। इस प्रकार के उदाहरण, पद और अनुमान के भी हो सकते हैं।

१२—सत्य, रूप-विषयक और विषय-विषयक

जिस प्रकार रूप और विषय की चर्चा अभी की गई है उसी प्रकार तर्कशास्त्र में रूप-विषयक सत्य और विषय-विषयक सत्य का भी विचार करना है।

रूप-विषयक सत्य (Formal Truth) से यह अभिप्राय है कि वह स्वसंगत[1] और [2]आत्यन्तिक विरोध से रहित हो। उदाहरणार्थ, हम आयताकार वृत्त[3] का सत्यता को कभी स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि जो वस्तु आयताकार होगी वह गोल नहीं हो सकती और जो गोल होगी वह आयताकार नहीं हो सकती। इस प्रकार की वस्तु का अस्तित्व ही सभव नहीं इसलिये वह विचार का विषय भी नहीं हो सकती। इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यह स्वय असिद्ध है।

विषय-विषयक सत्य (Material Truth) से यह अभिप्राय है कि वह वास्तविक जगत् में विचारों के अनुरूप वस्तुओं का साम-

---

1 Self-consistent 2. Free from contradiction
3 Circle

धारण रखता हो। यदि हम देखते हैं कि हमारे विचारों के अनुरूप पदार्थ संसार में उपलब्ध नहीं होते तो हम इस प्रकार के विचारों को असामञ्जस्यता[1] से परिपूर्ण समझते हैं; जैसे आकाश-कुसुम, नरसिंह, शशशृङ्ग। ये सब विचार काल्पनिक[2] और मिथ्या[3] हैं क्योंकि इनके अनुरूप संसार में त्रिकाल में भी पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती। वे सब विचार अपनी असामञ्जस्यता के कारण असम्भव कहलाते हैं और इन्हें सत्य नहीं माना जा सकता।

सत्य के इस विचार से हम यह निर्धारित करते हैं कि जो अनुमान रूप-विषयक और विषय-विषयक सत्यता से परिपूर्ण होगा वही निर्दोष कहलायेगा। जैसे —

> "सब मनुष्य मरणशील हैं।
> सब दार्शनिक मनुष्य हैं।
> *सब दार्शनिक मरणशील हैं।*

इस अनुमान में हम देखते हैं कि जितने रूप-विषयक या विषय-विषयक नियम हैं उनका पूर्णरूप से परिपालन किया गया है। इसलिये यह अनुमान सत्य है और इसमें दोनों दृष्टियों से कोई दोष नहीं।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि रूप-विषयक सत्य[4] और विषय-विषयक सत्य[5] सर्वदा साथ-साथ रहते हैं। यह हो सकता है कि एक अनुमान, रूप की दृष्टि से ठीक हो और विषय की दृष्टि से दोषयुक्त हो। जैसे —

> "सब मनुष्य अमर हैं।
> सब दार्शनिक मनुष्य हैं।
> सब दार्शनिक अमर हैं।"

---

1 Inconsistency 2. Imaginary 3. False.
4. Formal truth. 5. Material truth.

इस अनुमान मे हम देखेंगे कि रूप-विषयक सब नियमों का पूर्ण रूप से परिपालन किया गया है। किन्तु यदि विषय की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि विषयगत नियम नहीं पाले गये हैं, इसलिये यह अनुमान गलत है। इसी प्रकार इसके विरुद्ध उदाहरण भी गलत ठहरेगा। जैसे.—

"कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
सब मनुष्य जीवधारी हैं।
. कोई जीवधारी पूर्ण नहीं है।"

यह अनुमान विषय की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु रूप-विषयक नियमों का उल्लंघन करने के कारण दोषयुक्त समझा जाता है। यहाँ अनियमित अमुख्य वाक्य[1] का दोष है जिसके कारण इस अनुमान को दूषित गिना गया है।

१३—विज्ञान

साधारण ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान[2] में बहुत अन्तर होता है। मामूली तौर से प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान रखता है किन्तु इस प्रकार का ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। एक गली का गलिहारा भी यह जानता है कि राहू नाम का एक देवता है और जब वह सूर्यनारायण को ग्रस लेता है तब ग्रहण होता है। यह ज्ञान साधारण ज्ञान है। किन्तु जो व्यक्ति ज्योतिषी है वही जानता है कि ग्रहण क्यों पडता है और उसके नियम क्या हैं? वास्तव में वह उन नियमों के आधार पर कई वर्ष पहले घोषणा कर देता है कि अमुक दिन इस समय पर पूर्ण या अर्ध-ग्रास ग्रहण होगा। लोग ज्योतिषी की घोषणा को प्रामाणिक मानते हैं किन्तु गलिहारे के ज्ञान को कोई सत्य नहीं मानता है। इस कारण वैज्ञानिक ज्ञान साधारण ज्ञान से सर्वथा पृथक् समझा जाता है।

---

1 Illicit minor 2 Scientific knowledge

विज्ञान (Science) विश्व के किसी एक खंड के परिपूर्ण सुसम्बद्ध या क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं। सर्वप्रथम विज्ञान समस्त विश्व को जानने का प्रयत्न नहीं करता किन्तु उसके एक क्षेत्र या खंड को जानता है और उसी क्षेत्र के अन्दर अनुसंधान और प्रयोग द्वारा उस सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। जैसे—प्राणि विज्ञान, इसमें केवल प्राणि-विषयक जितने सिद्धान्त होते हैं उन सबका पूर्ण और स्पष्ट रूप से विवेचन किया जाता है।

मनोविज्ञान में मनविषयक सब बातों का पूर्ण वर्णन रहता है। रसायन विद्या[1] में रासायनिक तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान कराया जाता है। इसी प्रकार सब विज्ञान अपने-अपने विषयों का स्पष्ट और पूर्ण विवेचन करते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि सब विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं किन्तु सम्बन्धित रहने पर भी भिन्न भिन्न विज्ञान भिन्न-भिन्न विषयों का ही प्रतिपादन करते हैं। विषय भेद ही विज्ञानभेद का कारण होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान सुसम्बद्ध, क्रमिक उपयुक्त और संगठित होता है साधारण ज्ञान इसके विपरीत, असम्बद्ध, अक्रमिक अनुपयुक्त और विघटित[3] होता है। वैज्ञानिक ज्ञान सर्वदा सम्बद्ध सामान्यनियमों का ज्ञान कराता है किन्तु साधारण ज्ञान बिल्कुल विशेष नियमों को बतलाता है जो सदा दोषपूर्ण होते हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषता यह भी है कि वह विशेष प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग करके ज्ञान को सत्य और ठीक बनाने का प्रयत्न करता है किन्तु यह बात साधारण ज्ञान में नहीं पाई जाती। इससे सिद्ध होता है कि साधारण ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में अत्यधिक अन्तर होता है। इसमें प्रकार का भेद नहीं होता किन्तु मात्रा का भेद होता है। वैज्ञानिक ज्ञान अत्यधिक मात्रा में सुसम्बद्ध और संगठित होता है।

---

1 Chemistry 2. Orderly 3. Disorderly 4 Instruments.

१४—वस्तुस्थिति-विज्ञान और नियामक-विज्ञान

विज्ञान के दो भेद माने गये हैं —(१) वस्तुस्थिति-विज्ञान और (२) नियामक विज्ञान ।

वस्तुस्थिति विज्ञान (Positive Science) **वह विज्ञान है जो वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करता है। तथा नियामक विज्ञान** (Normative Science) **वह विज्ञान है जो विचार करता है कि वस्तु स्वरूप कैसा होना चाहिये।** यदि एक का विषय 'है'[1] है तो दूसरे का विषय 'चाहिये'[2] है। जो विज्ञान, वस्तु का स्वरूप क्या है, इसकी चर्चा न कर यह विचारता है कि वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिये, वही नियामक विज्ञान है। नियामक विज्ञान की यह भी विशेषता है कि वह एक मापदण्ड[3] रखता है और उसके द्वारा वस्तुस्थिति का निर्णय करता है और अन्तत निर्धारित करता है कि वस्तु का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिये। मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान,[4] रसायनविज्ञान, प्राणिविज्ञान[5] आदि वस्तुस्थिति विज्ञान है किन्तु तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र[6] और नीति-शास्त्र[7] नियामक विज्ञान हैं। तर्कशास्त्र को नियामकविज्ञान इसलिये कहा गया है क्योंकि यह विचारों और तर्कों को, वे जिस प्रकार के हैं उसी प्रकार नहीं जानता, किन्तु वे किस प्रकार के होने चाहिये यह बतलाता है। जैसे सौन्दर्यशास्त्र का ध्येय सौन्दर्य प्राप्ति है, नीति-शास्त्र का ध्येय कल्याण[8] की प्राप्ति है उसी प्रकार तर्कशास्त्र का ध्येय सत्य[9] की प्राप्ति है। इसी हेतु से **तर्कशास्त्र नियामक-विज्ञान कहलाता है।**

विज्ञान और कला (१३)

विज्ञान एक सुसम्बद्ध ज्ञान को कहते हैं जो विश्व के किसी एक

---

1 Is 2 Ought 3 Standard 4 Physics 5 Zoology 6 Aesthetics 7 Ethics 8 Good 9 Truth

भाग या तत्व से सम्बन्ध रखता है। कला हमें सिखाती है कि उस ज्ञान को हम किस प्रकार प्रयोग में लावें जिससे इच्छित ध्येय की प्राप्ति हो। यह कहा जाता है कि 'विज्ञान वस्तु का ज्ञान कराता है और कला उसके प्रयोग को बतलाती है'। यह सत्य है कि विज्ञान के बिना प्रयोग नहीं हो सकता और प्रयोग के लिये विज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। जहाँ तक कला का विचार है यह भी दो तरह की होती है— (१) प्रयोग जन्य (Empirical) और (२) विज्ञान जन्य (Scientific)। कला प्रयोग-जन्य तब कहलाती है जब यह प्रयोग पर ही निर्भर रहती है। विज्ञान जन्य कला वह है जो वैज्ञानिक सिद्धान्तों या नियमों पर अवलम्बित रहती है। यह देखा जाता है कि वैज्ञानिक कला के प्रथम प्रायोगिक कला होती है। उदाहरणार्थ प्राचीनकाल में नाविककला प्रयोगजन्य थी और लोग इसीसे सन्तुष्ट थे किन्तु आधुनिककाल में यह पोत-विज्ञान[1] बन गया है और उसके लिये गणित ज्योतिष, वायुविज्ञान आदि का ज्ञान परमावश्यक है।

हम देखते हैं कि तर्कशास्त्रियों में इस विषय पर अत्यन्त विवाद होता है कि तर्कशास्त्र विज्ञान है या कला। ह्वेटली आदि विद्वान इसे कला मानते हैं तथा मैन्सेल जेवन्स आदि विद्वान इसे विज्ञान मानते हैं। मिल और हामले आदि कहते हैं कि तर्कशास्त्र कला और विज्ञान दोनों रूप है। तथ्य अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि यह दोनों है, अर्थात् यह कला भी है और विज्ञान भी है। यह कला इसलिये कहलाता है क्योंकि इसका विशेष व्यापार प्रयोग और सिद्धि[3] से है और विज्ञान इसलिये कहलाता है क्योंकि यह विचार और तर्क के लिये नियम[4] बनाता है। कुछ लोग इसे प्रयोगजन्य विज्ञान

1 Science of Navigation. 2. Aerology 3. Proof. 4. Principles.

भी कहते हैं क्योंकि तर्कशास्त्र के सब नियम अनुमान विधि में प्रयुक्त होते हैं।

कुछ तर्कशास्त्री तो इसे **विज्ञानों का विज्ञान** (Scientia Scientiarum) कहते हैं। कारण, तर्कशास्त्र के सिद्धान्त और नियम प्राय: सभी विज्ञानों में काम में लाए जाते हैं। ऐसा कोई विज्ञान नहीं जो तर्कशास्त्र के नियमों का प्रयोग न करता हो। प्रत्येक विज्ञान तर्कपूर्ण होना चाहिये, यह नहीं कि उसके सिद्धान्त तर्कातीत हो। इसी प्रकार अन्य तर्कशास्त्री इसे **कलाओं की कला** (Arts artium) कहते हैं क्योंकि अन्य कलाएँ इसके ही नियमों का पालन करती हैं जो सत्य प्राप्ति में साधक होती हैं, किन्तु तर्कशास्त्र उन सब कलाओं का आधार होने से कलाओं की कला कहलाने का दावा करता है और यह ठीक है।

१५—तर्कशास्त्र के भिन्न-भिन्न लक्षण और निर्दोष लक्षण

जब से तर्कशास्त्र का आरम्भ हुआ है तब से ही तर्कशास्त्री इसका लक्षण करते आये हैं। अब तक तर्कशास्त्र के अनेक लक्षण पाए जाते हैं। उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य लक्षणों का विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे हम इसके सही लक्षण को जान सकें।

आलड्रिच महोदय तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

"**तर्कशास्त्र तर्क करने की कला है**" यह लक्षण अव्यास[२] दोष से युक्त है क्योंकि यह लक्षण के एक देश में रहता है। तर्कशास्त्र विज्ञान भी है। तथा तर्कशास्त्र केवल तर्क करने में ही समाप्त नहीं हो

---

1 Correct,

२ अव्यास दोष —जो लक्ष्य के एक देश में रहता है उसे अव्यास दोष कहते हैं।

यह लक्षण भी शुद्ध नहीं है क्योंकि तर्क शास्त्र केवल विध्यात्मक ही नहीं है किन्तु प्रयोगात्मक भी है। विचार शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होने से इसमें किस प्रकार के विचार ग्रहण किये गये है यह निश्चित नहीं किया जा सकता। तथा सबसे बडा दोष इस लक्षण में यह है कि यह विधि या रूप मे ही तर्क शास्त्र को सीमित रखता है और विषय का बिलकुल विचार नहीं करता।

आरनॉल्ड महोदय का लक्षण अन्य प्रकार का है :—

"तर्कशास्त्र बुद्धि का विचार करने वाला विज्ञान है जिससे सत्य की प्राप्ति की जाती है"

यह लक्षण भी प्रायोगिक पक्ष का सर्वथा त्याग कर देता है। सत्य का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। यहाँ किस प्रकार के सत्य की प्राप्ति अभिलषित है—कुछ नहीं जान पड़ता। तथा तर्कशास्त्र केवल बुद्धि विषयक विचार ही नहीं करता किन्तु लक्षण, विभाग, वर्गीकरण आदि प्रक्रियाओं का भी सुविवेचन करता है।

सब से सुन्दर और निर्दोष लक्षण मिल महोदय का है —

'तर्कशास्त्र वह विज्ञान है जो बुद्धि के सब कार्यों का समुचित रीति से साक्षी[1] के मूल्याङ्कन के अनुसार विचार करता है तथा उन सब प्रक्रियाओं का, जिनके द्वारा हम ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान करते हैं तथा अन्य बौद्धिक[2] प्रक्रियाओं का, जो इसमें सहायक होती हैं, विवेचन करता है'।

मिल का यह लक्षण कई प्रकार से परिपूर्ण है क्योंकि इसके अनुसार तर्कशास्त्र विज्ञान ही नहीं ठहरता किन्तु साक्षी के मूल्याङ्कन का भी विचार करता है अर्थात् यह कला भी है। तथा यह केवल बुद्धि के कार्यों मे ही सीमित नहीं है किन्तु अन्य प्रक्रियाओं का भी वर्णन करता है जो तर्क करने मे सहायक होती हैं, अर्थात् यह लक्षण, विभाग, वर्गीकरण

---

1 Evidence 2 Intellectual operations

इत्यादि अन्य प्रक्रियाओं का भी समुचित विचार करता है। इस हेतु से मिल का लक्षण सब विद्वानों द्वारा सम्मत माना गया है। सरल शब्दों में तर्क शास्त्र का सर्वोत्तम लक्षण यह है :—

"तर्कशास्त्र वह विज्ञान और कला है जो समग्र सत्य विचारों के नियमों का सम्यक् रूप से विचार करता है तथा अन्य ऐसी प्रक्रियाओं का भी वर्णन करता है जो इनकी प्राप्ति में सहायक हों।"

१६—तर्क शास्त्र के भेद

तर्क शास्त्रियों ने तर्कशास्त्र को दो विभागों में विभक्त कर दिया है :–(१) रूप-विषयक तर्कशास्त्र और (२) विषय-विषयक तर्क शास्त्र।

रूप-विषयक तर्कशास्त्र (Formal Logic) का उद्देश्य केवल रूप-विषयक सत्य का अन्वेषण करना है। यह केवल विचारों के रूप से सम्बन्धित है विषय से इसका कोई प्रयोजन नहीं। यदि रूप सत्य है तो तर्क अवश्य सत्य होगा। इसके अन्दर वाक्यों की सत्यता पर कभी आक्षेप नहीं किया जाता; उनको यथावत् स्वीकार कर तर्क किया जाता है। इसमें केवल इतना ही प्रयोजन होता है कि यदि वाक्यों के सम्मेलन से निष्कर्ष ठीक ठीक निकलता है तो अनुमान सही है। उनमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसको शुद्ध तर्कशास्त्र[1] या सुसंगत तर्कशास्त्र[2] भी कहते हैं।

विषय विषयक तर्क शास्त्र (Material Logic) का ध्येय विषय विषयक सत्यता को स्थापित करना है। यह रूप का विचार नहीं करता। इसमें यही निश्चित किया जाता है कि जिन विषयों के बारे में हम विचार कर रहे हैं वे विश्व की सब वस्तुओं से संगत हैं या

1 Pure Logic. 2 Logic of Consistency

नहीं। अर्थात् जिन वाक्यों से हमने निष्कर्ष निकाला है वह ठीक हैं या नहीं। यदि उसकी सगति उपलब्ध पदार्थों से ठीक बैठती है तो हम उन्हें सत्य मानते हैं अन्यथा उनको असत्य मानकर छोड़ देते हैं। विषय-विषयक तर्कशास्त्र को प्रयोगात्मक तर्कशास्त्र[1] भी कहा जाता है।

तर्कशास्त्रियों में इस विषय पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ है कि तर्कशास्त्र रूप से सबध रखता है या विषय से? एक पक्ष तो यह कहता है कि तर्कशास्त्र केवल रूप-विषयक ही है। इस मत के अनुयायी हेमिल्टन, मेन्सेल, थॉम्पसन आदि हैं। इन्होंने तर्कशास्त्र के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं जिनका विचार किया जा चुका है। तथा मिल वगैरह तर्कशास्त्रियों का यह विचार है कि यह केवल रूप का ही विचार नहीं करता किन्तु विषय का भी करता है। और वास्तव में यह विचार ठीक भी है क्योंकि तर्कशास्त्र का आधार रूप या विषय अलग- अलग नहीं है किन्तु दोनों है। तर्कशास्त्र को केवल एक से ही सम्बन्धित करना, मानों उसे सीमित करना है। इनमे आत्यन्तिक भेद कभी स्थापित नहीं हो सकता। वास्तव में दोनों भेद तर्कशास्त्र के दो पक्ष कहे जा सकते हैं। जहाँ तक आधार का सम्बन्ध है तर्कशास्त्र दोनों को लेकर चलता है। हम पहले सत्य के दोनों स्वरूपों का वर्णन कर चुके हैं। यथार्थ स्थिति यह है कि तर्कशास्त्र दोनों का समावेश कर पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करता है।

१७—तर्कशास्त्र के प्रकार

(१) विशेषानुमान (५) सामान्यानुमान । कभी-कभी हम देखते हैं कि तर्कशास्त्री, विशेषानुमान और रूप-विषयक तर्क दोनों को पर्यायवाची[2] समझते हैं तथा व्यापकानुमान और विषय-विषयक तर्क को एकार्थवाचक मानते हैं। किन्तु तर्कशास्त्र के विशेषानुमान और

---

1 Applied Logic 2 Synonymous.

सामान्यानुमान इस प्रकार दो भेद करना उचित प्रतीत होता है।

विशेषानुमान (Deductive inference) तर्क का वह प्रकार है जिसमें अधिक सामान्य वाक्य या वाक्यों से न्यून सामान्य या विशेष वाक्य का अनुमान किया जाता है। जैसे—

"सब मनुष्य मरण धर्मा हैं।
सब चक्रवर्ती मनुष्य हैं।
सब चक्रवर्ती मरणधर्मा हैं।"

इस अनुमान में अधिक सामान्य वाक्यों द्वारा न्यून सामान्य वाक्य का अनुमान किया गया है। यह तर्क का एक प्रकार है।

सामान्यानुमान (Inductive inference) तर्क का वह प्रकार है जिसमें विशेष वाक्यों से सामान्य वाक्य का अनुमान किया जाता है जैसे—

"गोविन्द मरणशील है।
अकलंक मरणशील है।
धर्मकीर्ति मरणशील है।
शरत्‌ मरणशील है।
ये सब मरणशील हैं।

इस अनुमान में विशेष वाक्यों से सामान्य वाक्य का अनुमान किया गया है। इसका विशेष विचार दूसरे भाग में किया जायगा। तर्कशास्त्र में ये दोनों भेद अन्तर्गत हैं अर्थात् तर्कशास्त्र दोनों प्रकार के अनुमानों का पूर्ण रूप से विवेचन करता है।

१८—तर्कशास्त्र का क्षेत्र

किसी विज्ञान के क्षेत्र[1] या परिधि से यही तात्पर्य है कि उस विज्ञान की सीमा कहाँ तक है। प्रत्येक विज्ञान का सीमित क्षेत्र होता है और

---

1 Scope. 2. Boundary

वह उतने ही का परिज्ञान कराता है। तर्कशास्त्र का क्षेत्र या विषय भी अवधि को लिये हुए है। तर्कशास्त्र का लक्षण किया गया है कि यह वह विज्ञान और कला है जो सत्य विचारों के नियमों का विवेचन करता है। इससे स्पष्ट है कि तर्कशास्त्र का क्षेत्र **'विचार'** है किन्तु विचार तो मनोविज्ञान का भी विषय है। लेकिन तर्कशास्त्र केवल सत्य विचारों का पर्यालोचन करता है और विचारों के अन्दर वह सामान्य विचार, निर्णयात्मक वाक्य और तर्कों का भी विचार करता है। इसके अतिरिक्त जो प्रक्रियाएँ तर्क के साधनभूत हैं उनका भी यह विवेचन करता है। तर्कशास्त्र इसी सीमित क्षेत्र में अपना कार्य करता है।

बहुत से तर्क शास्त्रियों का तर्कशास्त्र की उपयोगिता[1] के विषय में विवाद है। उनका कहना है कि तर्कशास्त्र निरुपयोगी है। कारण, प्रथम तो तर्कशास्त्र हमें तर्क करना सिखाता ही नहीं, द्वितीय, यह हमें सही तर्क करना भी नहीं सिखाता। इसलिये यह शास्त्र निरुपयोगी है। तथा आज तक जितने मनुष्य तर्क करते चले आये हैं क्या वे सब तर्कशास्त्र के पढ़ने वाले थे? कदापि नहीं।

यह कहना ठीक है कि तर्कशास्त्र तर्क करना नहीं सिखाता। वास्तव में यह इसका कार्य भी नहीं है। तर्कशास्त्र का तो इतना ही कार्य है कि जब कभी हम तर्क करें तो यह हमको सही-सही तर्क करना सिखावे। जैसे एक रंगरूट शुरू मे कवाइद वगैरह कुछ नहीं जानता किन्तु धीरे धीरे सिखाने पर वह ठीक ठीक कवाइद करता है। जैसे एक वैद्य शुरू में कुछ नहीं जानता किन्तु वैद्य शास्त्र के अध्ययन के बाद ठीक-ठीक इलाज करता है। तर्कशास्त्र का केवल इतना ही

---

1 Utility

है किन्तु तर्कशास्त्र उसे उसके गलती करने पर, बतलाता है कि उसने इस प्रकार की गलती की है—यह तर्कशास्त्र ही बता सकता है।

(२) तर्कशास्त्र विज्ञानों का विज्ञान और कलाओं की कला है। इसका अभिप्राय यह है कि तर्कशास्त्र सब विज्ञानों का आधार है क्योंकि कोई विज्ञान अतर्कसगत नहीं बनना चाहता। तर्कशास्त्र के साधारण नियमों का परिपालन प्रत्येक विज्ञान और कला मे किया जाता है। इसलिये तर्कशास्त्र की उपयोगिता सर्वव्यापक है। प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्र में कार्य करता है किन्तु तर्कशास्त्र के नियम इतने साधारण और सामान्य हैं कि उनकी तर्कशास्त्र के क्षेत्र को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में भी आवश्यकता पड़ती है।

(३) तर्कशास्त्र की मुख्य उपयोगिता यह है कि **तर्कशास्त्र मस्तिष्क का अच्छा व्यायाम**[1] है। इसके द्वारा जितना विचार क्षेत्र है वह सब अनुशासित होता है। जिस प्रकार व्यायाम मनुष्य के शरीर को स्वस्थ और सुसगठित बना देता है उसी प्रकार तर्कशास्त्र मनुष्य के अन्दर सही चिन्तन करने की आदत पैदा कर देता है। मनुष्य पशुओं से इसलिये ही उत्कृष्ट गिना जाता है कि मनुष्य में चिन्तन करने की अधिक शक्ति है। यदि यह विवेकशीलता सुसम्बद्ध हो तो अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। तर्कशास्त्र मनुष्य के विवेक का अच्छी तरह अभ्यास कराके उसकी प्रगति को ठीक-ठीक दिशा मे ले जाता है। भावात्मक सामान्य विचार करना मनुष्य की ही विशेषता है और वह नियमबद्ध तर्कशास्त्र द्वारा ही हो सकता है। इसलिये तर्कशास्त्र का अध्ययन मनुष्य के जीवनक्षेत्र में अत्युपयोगी है। इसके ज्ञान के अभाव से ससार में कितने अनर्थ हुए हैं उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता।

---

1 Good exercise

२०—तर्कशास्त्र का अन्य शास्त्रों के साथ सम्बन्ध

आजकल सब शास्त्र एक दूसरे से अनुबद्ध[1] हैं। विषय एक है किन्तु वह अनेकता को लिये हुए है। इसलिये एक वस्तु के चिन्तन करने पर अन्य का चिन्तन स्वयं हो जाता है। अपेक्षावाद को लेकर यह कहना ठीक है कि सब शास्त्रों का सबसे सम्बन्ध है। फिर भी जो शास्त्र जिसके अधिक समीप है वहाँ उसी के सम्बन्ध की चर्चा की जाती है। यहाँ मनोविज्ञान[2] व्याकरण[3] और अतिभौतिक[4] विज्ञान—ये तीन शास्त्र तर्कशास्त्र के अधिक समीप हैं। अतः इनके सम्बन्ध की चर्चा की जायगी।

(१) तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान—तर्कशास्त्र मनोविज्ञान के अत्यन्त समीप है क्योंकि दोनों का क्षेत्र विचार है। मनोविज्ञान वह शास्त्र है जो मन तथा उसकी प्रक्रियाओं का सम्यक् रूप से वर्णन करता है। आधुनिक मनोविज्ञान की तीन वृत्तियाँ मुख्य मानी गई हैं तथा अन्य सबको इन्हीं में समाविष्ट किया गया है। वे हैं—ज्ञानात्मक,[5] वेदनात्मक[6] और क्रियात्मक[7]। मान लीजिये हमारे सामने एक गुलाब का पुष्प खिल रहा है। पहले हम उसे जानते हैं कि वह गुलाब का पुष्प है, दूसरे उसे देखकर आनन्दित होते हैं, और तीसरे उसे तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। ये तीन वृत्तियाँ प्रत्येक कार्य में पाई जाती हैं। यह मनोविज्ञान का क्षेत्र है। तर्कशास्त्र केवल ज्ञान से सम्बन्ध रखता है और उसमें भी सत्य ज्ञान से, किन्तु मनोविज्ञान सब प्रकार की मनोवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है। मनोविज्ञान का विषय क्षेत्र तर्कशास्त्र से अत्यधिक है। तर्कशास्त्र केवल भावात्मक सामान्य ज्ञान से सम्बन्ध रखता है किन्तु मनोविज्ञान सामान्य विशेष सत्य असत्य सब

---

1 Inter—related. 2 Psychology 3 Grammar 4 Metaphysics. 5. Cognitive. 6. Affective. 7 Conative.

प्रकार के ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। मनोविज्ञान वस्तु-स्थिति विज्ञान है क्योंकि यह मस्तिष्क की वृत्तियों का, वे जिस प्रकार की हैं उसी प्रकार से पर्यालोचन करता है। किन्तु तर्कशास्त्र नियामक-शास्त्र है और उसका उद्देश्य यही है कि विचार को किस प्रकार का होना चाहिये। वह सत्यता की ओर ले जाता है। मनोविज्ञान में सत्य-असत्य का कोई विचार नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि साधारण मनोविज्ञान का ज्ञान तर्कशास्त्र के अध्ययन में अत्यन्त सहायक होता है।

(२) तर्कशास्त्र और व्याकरण—यद्यपि भाषा और तर्कशास्त्र का विवेचन पहले किया जा चुका है फिर भी व्याकरण और तर्कशास्त्र के सम्बन्ध के विचार करने की आवश्यकता है। किसी समय दार्शनिक लोग तर्कशास्त्र को व्याकरण का ही अंग मानते थे और कहते थे कि दोनों का विषय एक है। हाँ, तर्कशास्त्र में कुछ विशेष प्रक्रियाओं का भी वर्णन रहता है। इसमे कोई संशय नहीं कि तर्कशास्त्र और व्याकरण दोनों शब्दों के आधार पर चलते हैं, किन्तु दोनों के उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा में भेद है। व्याकरण शास्त्र तो केवल शब्दसिद्धि में पर्यवसित है, किन्तु तर्कशास्त्र तो शब्दों या पदों से निर्णय बनाता है और निर्णयों से अनुमान करता है। व्याकरण वस्तुस्थिति-विज्ञान है किन्तु तर्कशास्त्र नियामक-विज्ञान है। व्याकरण भाषागत विषमताओं को दूर कर शुद्ध भाषा के प्रयोग को सिखाता है जिससे हम किसी भाषा को लिखकर या बोलकर सही-सही प्रयोग कर सकें। इसके विपरीत तर्कशास्त्र का उद्देश्य यह है कि हम शब्दगत भावों द्वारा सुसबद्ध तर्क कर सकें, इन हेतुओं से दोनों का परस्पर सम्बन्ध होते हुए भी भेद है।

(३) तर्कशास्त्र और अतिभौतिक शास्त्र—अतिभौतिक-शास्त्र से तर्कशास्त्र का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतिभौतिक-शास्त्र वह शास्त्र है जो भौतिक जगत् से पार उठकर आत्यन्तिक या चरम सत्यों की खोज करता है अर्थात् जो दृश्य जगत् को छोड़कर अदृश्य जगत्

का पता लगाता है। अतिभौतिक शास्त्र को विज्ञान से पृथक् समझना चाहिये क्योंकि विज्ञान यथार्थता के एक अंश को जानने का प्रयत्न करता है किन्तु अतिभौतिक-शास्त्र यथार्थता को पूर्णरूप से जानता है, तथा विज्ञान केवल व्यवहार सत्य से सम्बन्ध रखता है और अतिभौतिक शास्त्र परमार्थ सत्य का ज्ञान कराता है।

प्रत्येक विज्ञान कुछ न कुछ प्राक्-कल्पनाओं[1] के आधार पर चलता है और इनको वह बिना किसी सिद्धि के स्वीकार करता है। रसायन-विज्ञान भौतिक विज्ञान आदि सब विज्ञान रासायनिक तत्वों या जड़ आदि तत्वों को मानकर चलते हैं। ये सब अन्य विज्ञानों के आधारभूत तत्व अतिभौतिक शास्त्र के विषय होते हैं। जड़ भौतिक विज्ञान का आधार तत्व है। 'मन' मनोविज्ञान का आधार तत्व है। अन्य विज्ञानों के भी इसी प्रकार आधारभूत अनेक तत्व हैं। उन सबका अतिभौतिक शास्त्र पर्यालोचन करता है, अर्थात् अन्य विज्ञान जिनकी प्राक्कल्पना करते हैं अतिभौतिक शास्त्र उनको अपना विषय बनाता है और उनके अन्दर यथार्थता को खोजता है।

तर्कशास्त्र का विषय, विचार है, वह भी सत्य विचार। अन्य विज्ञानों के समान तर्कशास्त्र भी कुछ प्राक्-कल्पनाएँ करता है, जैसे— (१) तादात्म्यता का सिद्धान्त[2] (२) आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त[3] (३) मध्यम-योग परिहार का सिद्धान्त[4] (४) यथेष्ठ तर्क का सिद्धान्त[5]। (५) एकरूपता का नियम[6] (६) कारणता का नियम[7] इत्यादि। ये प्राक्-कल्पनाएँ तर्कशास्त्र में बिना किसी सिद्धि के मान ली जाती हैं

---

1 Presuppositions or Assumptions.

2 The Principle of Identity 3. The Principle of Contradiction. 4. The Principle of Excluded Middle. 5 The Principle of Sufficient Reason. 6 The Principle of Uniformity 7 The Principle of Causation.

और अतिभौतिक-शास्त्र इनकी भी सत्यता को खोजता है। इससे प्रतीत होता है कि अतिभौतिक-शास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र से अत्यन्त विस्तृत है। दूसरे दृष्टिविन्दु से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि तर्कशास्त्र अतिभौतिक-शास्त्र के परिज्ञान में अत्यन्त सहायक होता है क्योंकि तर्कशास्त्र सत्य विचार का परिज्ञान कराता है और सत्य विचार की अतिभौतिक-शास्त्र मे भी आवश्यकता होती है। वास्तव में विना तर्क के कुछ सिद्ध नहीं किया जा सकता। अत• अतिभौतिक तत्त्वों की सिद्धि के लिये तर्क की आवश्यकता होती है। अतिभौतिक तत्त्वों का तर्क से सिद्ध होना परमावश्यक है। विना तर्क से सिद्ध किये हुए अतिभौतिक सिद्धान्तों को कोई भी स्वीकार नहीं करता। इसलिये अतिभौतिक-विज्ञान और तर्कशास्त्र दोनों एक दूसरे के सहायक शास्त्र हैं और दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

२१—तर्कशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

तर्कशास्त्र के इतिहास के लेखकों ने बहुत प्रयत्न करने पर भी यही मत निश्चित किया है कि तर्कशास्त्र अनादि है। जिस प्रकार मनुष्य का इतिहास अनादि है और उसकी आदि का पता नहीं, उसी प्रकार तर्कशास्त्र की आदि का भी पता नहीं। किन्तु यह तो अब निश्चित धारणा हो चुकी है कि तर्कशास्त्र का सर्वप्रथम उदय, ग्रीस (यूनान) और भारतवर्ष में हुआ है। यद्यपि यह विवादग्रस्त विषय है कि इनमें कौन पूर्व है और कौन पश्चात् है। हम देखते हैं कि यूरोप में यूनानवालों ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया और इसके सिद्धान्त स्थिर किये। रोमन्स लोगों ने उनसे इसको ग्रहण किया तथा ज्यूज़ और अरबियों ने रोमन लोगों से ग्रहण किया और फिर जर्मन और अँगरेजों आदि ने इसको ग्रहण कर परिवर्द्धित किया। इसी प्रकार भारतवर्ष में भी गौतम, कणाद, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, अकलक आदि की परम्परा है। उपर्युक्त

तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता अरस्तू (Aristotle) का काल १११ से १९१ ईसी पूर्व माना जाता है और वह लिसियम (Lyceum) में तर्क के सिद्धान्तों पर व्याख्यान दिया करता था। इसमें कोई संशय नहीं कि वहाँ तक सिलाजिज्म[1] (अवयव-पठित-न्याय) का सम्बन्ध है यह ग्रीकवालों की अपनी देन है। इस प्रकार के चिन्तन में उन्हें अग्रेसर[2] मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। निगमनानुमान के क्षेत्र में अरस्तू के अनन्तर आज तक कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है। उसीके सिद्धान्तों का लोगों ने समर्थन और परिवर्धन किया है।

सामान्यानुमान का आदि प्रणेता रोजर बेकन (Roger Bacon) का काल १२१४ से १२९४ ईसी तक माना जाता है। पश्चात् उसीके सिद्धान्तों को फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon) लार्ड वेरुलम (Lord Verulam) आदि महाशयों ने परिवर्धित किया किन्तु इसको सुसंगठित और पूर्णरूप देने का श्रेय जे० एस० मिल (John Stuart Mill) को है। मिल महोदय ने सामान्यानुमान के सब सिद्धान्त स्थिर और नियमित कर दिये। वे सिद्धान्त अब तक उसी रूप में चले आ रहे हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से हम देखें तो प्रतीत होगा कि तर्क-शास्त्र का उद्देश्य सर्वदा सुसंगतता रहा है। विचार की सुसंगतता[3] ही ज्ञान की वृद्धि का कारण होती है। अरस्तू के युग का यह प्रवचन था कि 'अपने विचारों को एक दूसरे के अनुसार, अनुरूपता में बद्ध करो।' मध्ययुग का विचार था कि 'अपने विचारों को आगम के अनुरूप बनाओ'। वर्तमान युग का कहना है जैसा कि मिन्टो (Minto) महोदय ने अपनी लॉजिक की पुस्तक में लिखा है कि 'अपने विचारों को यथार्थता के अनुकूल बनाओ'। इससे यह सिद्ध

---

1 Syllogism. 2. Pioneers 3 Consistency of thought

होता है कि विचार क्षेत्र मे तर्कशास्त्रियों का यह उद्देश्य रहा है कि विचारों को सुसम्बद्ध कर सत्य की प्रतिष्ठापना की जाय; और यह उनका सत् उद्देश्य है।

अभ्यास-प्रश्न

१—तर्कशास्त्र क्या है ? तर्कशास्त्र की अन्य विज्ञानों के साथ तुलना करो—उनमें से मनोविज्ञान और अतिभौतिक-शास्त्र के साथ विशेष रूप से तुलना करो।

२—तर्कशास्त्र के भिन्न-भिन्न लक्षणों की परीक्षा करके उसका निर्दोष लक्षण लिखो।

३—तर्कशास्त्र का लक्षण लिखकर उसके प्रत्येक पद की सार्थकता को स्पष्ट करो।

४—ज्ञान किसे कहते हैं ? ज्ञान के स्रोत क्या हैं ? प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में क्या भेद है ? स्पष्ट लिखो।

५—रूप और विषय में भेद बतलाकर यह स्पष्ट करो कि तर्कशास्त्र दोनों को लेकर चलता है।

६—प्रत्यक्ष और परोक्ष में भेद बतलाकर यह स्पष्ट करो कि तर्कशास्त्र का ज्ञान, परोक्ष है या प्रत्यक्ष ?

७—विशेषानुमान और सामान्यानुमान में क्या भेद है ? उदाहरण देकर स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिये।

८—सत्य का स्वरूप क्या है ?, रूप-विषयक और विषय-विषयक सत्यों में क्या अन्तर है ? तर्क दोनों में से किसका अध्ययन करता है ?

९—यथार्थवाद, विचारवाद और नामवाद से क्या समझते हो ? इन तीनों की स्पष्ट व्याख्या कीजिये।

१०—'तर्कशास्त्र केवल विचार से सम्बन्ध रखता है रूप से नहीं' इस वक्तव्य का क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट करो।

११—तर्कशास्त्र कला है या विज्ञान ? दोनों पर अपने विचार लिखकर यह बतलाओ कि कौन सा मन्तव्य ठीक है ?

१२—विचार और भाषा में क्या सम्बन्ध है ? क्या विचार भाषा के अभाव में भी पाए जाते हैं ?

१३—विचार क्या है ? स्पष्ट समझाइये कि विचार का निर्माण किस प्रकार होता है ?

१४—विचार के रूप और विषय में क्या भेद है ? विचार की रूप-विषयक और विषय-विषयक सत्यता में क्या अन्तर है ? स्पष्ट विवेचन कीजिये ।

१५—तर्कशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? हमें तर्कशास्त्र क्यों पढ़ना चाहिये ? यह हमारे तर्क को निर्दोष बनाने में कहाँ तक सहायक होता है ?

१६—'जब तर्कशास्त्र के बिना ही लोग अच्छी तरह तर्क कर सकते हैं तो तर्कशास्त्र की क्या आवश्यकता है ?' इस पर अपने विचार प्रकट करो ।

१७—तर्कशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास बतलाओ । तर्कशास्त्र के निर्माण का अधिक श्रेय किसको है ?

अध्याय २

१—तर्कशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त

(Fundamental Principles)

यह बात अनुभवसिद्ध है कि बिना विश्वास के ज्ञान की उन्नति नहीं हो सकती। यदि हम सर्वथा संशयात्मा बन जायें तो हमारा उत्थान नहीं हो सकता। कहा भी है 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशय करने-वाला नष्ट हो जाता है। इसलिये हमें कुछ न कुछ आधार मानकर आगे चलना पड़ता है। वैसे भी बिना आधार के हमारे लिये सोचने के लिये स्थान ही नहीं। सब ज्ञान, विज्ञानों मे इस प्रकार के कुछ मौलिक सिद्धान्त होते हैं जिनको मानकर आगे विचार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, रेखागणित[1] में स्थान, स्वयसिद्ध[2] आदि बातों को माना जाता है। यान्त्रिकशास्त्र[3] मे शक्ति[4] तथा उसके प्रयोगों के नियमों को स्वीकार किया जाता है। रसायन-विज्ञान, मूलतत्त्वों को आधार मानकर आगे चलता है। भौतिकशास्त्र मे भूतों का अस्तित्व मानना पड़ता है। ऐसे ही अन्य शास्त्रों में कुछ-न-कुछ मौलिक सिद्धान्त माने जाते है।

तर्कशास्त्र में, जिसे हम विज्ञानों का विज्ञान कहते है कुछ मौलिक सिद्धान्त माने जाते हैं जिन्हें हम आवश्यक[5], तर्कातीत[6], स्वय सिद्ध सिद्धान्त मानते है। इनको हम मौलिक[7] इसलिये कहते हैं क्योंकि ये

---

1 Geometry 2 Axioms 3 Mechanics 4 Energy 5 Necessary 6 A Priori 7 Fundamental

निर्दोष अनुभव से प्राप्त किये जाते हैं। न तो हमारी इन्द्रियाँ और न ही हमारी कल्पना इनके मानने में कोई विरोध उत्पन्न करती है। आवश्यक इनको इसलिये कहा जाता है कि सारे तर्क में इनका उपयोग होता है। तर्कातीत इनको इस कारण कहना चाहिये क्योंकि सामान्य तर्कविधि से ये परे होते हैं; तथा ये स्वयंसिद्ध होते हैं अर्थात् इनकी सिद्धि के लिये किसी साक्षी[1] की आवश्यकता नहीं। हाँ, इनके द्वारा सब प्रकार का तर्क सिद्ध किया जाता है। यही इनकी मौलिकता है।

२—सिद्धान्त का लक्षण और उनके भेद

'सिद्धान्त या नियम (Principle) उसे कहते हैं जो सत्य का वर्णन करे'—सत्य जो सदा के लिये सत्य हो। सामान्य सत्य को हम विशेष सत्य से पृथक् कर सकते हैं क्योंकि विशेष सत्य कुछ बातों की सत्यता स्थापित कर सकता है, सब की नहीं। मौलिक सिद्धान्त तर्कशास्त्र में वे सिद्धान्त हैं जिनकी सत्यता तर्क-सिद्धान्त बिना किसी साक्षी के स्वीकार करता है और कहता है कि सब विचारों को अपनी सत्यता के लिये उनके अनुरूप होना चाहिये। अंग्रेजी में हम इन्हें विचारों के नियम Laws of Thought कहते हैं।

इन सिद्धान्तों की संख्या की मान्यता के विषय में तर्कशास्त्रियों में मतभेद है। अरस्तू ने इनकी संख्या ३ बतलाई है और वे निम्न लिखित हैं—(१) तादात्म्यता का सिद्धान्त (२) आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त (३) मध्यमयोग-परिहार का सिद्धान्त। वर्तमान युग में लाइब्नीज़ (Liebniz) महोदय ने (४) यथेष्ट-तर्क का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुछ लोग हैमिल्टन (Hamilton) के स्वमविद्व को भी महत्त्व देते हैं।

१—तादात्म्यता का सिद्धान्त

संक्षेप में तादात्म्यता के सिद्धान्त (The Law of Identity)

---

1 Proof.

का सूत्र यह है कि "क है, क", या 'जो कुछ है वह है'। इसका, अनेक प्रकार से वर्णन किया जाता है। 'प्रत्येक वस्तु अपने बराबर है'। 'प्रत्येक वस्तु अपने सारूप्य है'। 'प्रत्येक पदार्थ का निज स्वभाव होता है'। 'सत्य सर्वदा आत्मानुरूप होता है'। 'ये सब वाक्य उसी सिद्धान्त के व्यञ्जक हैं'। यद्यपि इन सूत्र-वाक्यों के पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि यह केवल पुनरुक्ति है तथापि यदि अन्तस्तत्व को पहुँचा जाय तो ज्ञात होगा कि इसका अर्थ गम्भीर और बड़े महत्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु के विषय मे हम तर्क कर रहे हैं वह वस्तु हमारे वाद पर्यंत उसी प्रकार रहनी चाहिये अर्थात् जो पद हम जिस अर्थ मे प्रयुक्त करें उसका वही अर्थ रहना चाहिये। विशेष तर्क-विधि में समय[1] या परिवर्तन[2] का कोई स्थान नहीं। यह हम मानते हैं कि ससार सर्वदा परिवर्तनशील है और एक क्षण दूसरे क्षण के समान नहीं, तथापि तर्कशास्त्र, इस हेरेक्लिटस (Heraclitus) के परिवर्तनवाद को स्थान नहीं देता। उसका कहना कि 'हम उसी नदी में दो बार नहीं उतर सकते' दार्शनिक क्षेत्र में ही सीमित रह सकता है, तर्कशास्त्र में नहीं। तर्कशास्त्र तो सारूप्यता के सिद्धान्त के अभाव में एक क्षण भी नहीं चल सकता। तर्कशास्त्र में जिस वस्तु के आधार पर तर्क चल रहा है उसको उसी अर्थ में सर्वदा के लिये समझना होगा।

२—आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त

आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्त (The Law of Contradiction) का सक्षिप्त रूप यह है —"**क, ख और अ-ख दोनों नहीं हो सकता**"। अर्थात् कोई भी वस्तु एक ही समय में भाव और अभाव रूप नहीं हो सकती। इसका अभिप्राय यह है कि एक वस्तु में, एक ही काल मे और

---

1 Time 2. Change

एक ही स्थान में दो आत्यन्तिक विरोधी गुण नहीं रह सकते। दो आत्यन्तिक विरोधी पद, उसी प्रकार एक ही काल में और एक ही समय में सत्य नहीं हो सकते। जब किसी वस्तु में दो आत्यन्तिक विरोधी गुण पाये जावें तो एक के सत्य होनेपर अन्य अवश्य ही असत्य होगा। जैसे कोई वस्तु सगुण और निर्गुण एक ही समय और एक ही स्थान में नहीं हो सकती। एक कागज शुभ्र और अशुभ्र एक साथ नहीं हो सकता। यदि यह शुभ्र है तो अशुभ्र नहीं हो सकता और यदि अशुभ्र है तो शुभ्र नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि एक कागज का टुकड़ा एक भाग में शुभ्र[1] हो और दूसरे भाग में अशुभ्र[2] हो जैसे नर सिंह। उसी प्रकार एक समय में अशुभ्र हो सकता है और अन्य समय में शुभ्र हो सकता है। किन्तु यह कल्पना में कदापि नहीं आ सकता कि एक समय और एक ही काल में दोनों आत्यन्तिक विरोधी गुण पाए जावें। मिल महाशय का कहना है "किसी विधिवाक्य की विधि करना और उसके आत्यन्तिक विरोधी वाक्य का निषेध करना ये दोनों 'वाक्संगत समान वाक्य हैं जिनको हम एक दूसरे के परिवर्तन[3] जैसे आवश्यक रूप से प्रयोग कर सकते हैं।' सर वि. हेमिल्टन इस सिद्धान्त को आत्यन्तिक अविरोधी (Non-Contradiction) सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि उनका विचार है कि आत्यन्तिक अविरोधी सिद्धान्त या आत्यन्तिक विरोध का अभाव विचार की सत्यता का मुख्य कारण है। इस प्रकार इसकी संगति साम्यता के सिद्धान्त से भी हो जाती है; कारण एक विध्यात्मक है तो दूसरा निषेधात्मक।

३—मध्यम-योग-परिहार का सिद्धान्त

मध्यम-योग-परिहार के सिद्धान्त (The Law of Excluded Middle) का संक्षेप रूप इस प्रकार है—

'क या तो ख हो सकता है या अख हो सकता है'।

---

1 White. 2. Non White. 3. Conversion.

प्रत्येक वस्तु या तो हो सकती है या नहीं हो सकती है। इससे यह फलित होता है कि दो आत्यन्तिक विरोधी पद या वाक्य एक ही समय और एक ही व्यक्ति के बारे में गलत नहीं हो सकते। किसी वस्तु के विषय मे कि यह गुणवाली है और गुणरहित है ये दोनो बातें गलत नहीं हो सकतीं। इनमें से एक अवश्य सत्य होगी। यदि एक कपडे का टुकडा शुभ्र नहीं है तो वह अवश्य अशुभ्र होगा। जेवन्स (Jevens) महोदय के शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि दो को छोड़कर तीसरा या मध्यम मार्ग है ही नहीं। इसका उत्तर सर्वदा 'हाँ' या 'नहीं' मे होना चाहिये। अर्थात् एक व्यक्ति या वस्तु को यदि एक वर्ग में ले लिया गया है तो दूसरे वर्ग में नहीं लिया जा सकता। मिल महाशय का कहना है कि 'मध्यम-योग परिहार का सिद्धान्त, दो आत्यन्तिक विरोधी वाक्यों में एक की विधि का दूसरे के निषेध के रूप में करने की अनुज्ञा देता है'।

४—दोनों सिद्धान्तों की तुलना

आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्त के अनुसार दो आत्यन्तिक विरोधी पद एक वस्तु के सम्बन्ध में सही नहीं हो सकते, अर्थात् दोनों में से एक को अवश्य ग़लत होना चाहिये। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के विषय में कि—वह सदोष है और निर्दोष है—ये दोनों कथन ठीक नहीं हो सकते—इनमें से एक अवश्य ग़लत होना चाहिये। किन्तु मध्यम-योग-परिहार के सिद्धान्त के अनुसार दो आत्यन्तिक विरोधी पद एक व्यक्ति के विषय में ग़लत नहीं हो सकते—इनमें से एक अवश्य सही होना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति के बारे में कि वह सदोष है यह गलत है तो वह निर्दोष है यह अवश्य सही होना चाहिये। इस प्रकार दोनों सिद्धान्तों के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक आत्यन्तिक

विरोधी वाक्य में एक की सत्यता दूसरे के मिथ्यापन[1] को साबित करती है और एक का मिथ्यापन दूसरे की सत्यता को प्रतिपादित करता है। दोनों न तो सत्य हो सकते हैं और न मिथ्या ही।

तार्किक यूबेर्ग (Uberweg) ने दोनों सिद्धान्तों को सम्मिलित कर एक नवीन सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने इसका नाम आत्यन्तिक विरोध-विघटन का सिद्धान्त (The Principle of Disjunction) रक्खा है। उनका सूत्र इस विषय में इस प्रकार है:—

क या तो ख है या अ-ख है।

इसकी व्याख्या करते हुए इसको उन्होंने दो रूपों में रखा है:—

(१) क ख और अ-ख दोनों रूप नहीं हो सकता।

(आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त)

(२) क या तो ख हो सकता है या अ-ख हो सकता है।

(मध्यम-मार्ग-परिहार का सिद्धान्त)

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि दोनों सिद्धान्त आत्यन्तिक विरोधी पदों या वाक्यों से सम्बन्ध रखते हैं केवल भेदकता सूचक (Contrary) पदों या वाक्यों से नहीं। उदाहरणार्थ काला और गोरा ये दोनों कथन एक व्यक्ति के विषय में एक काल में सही नहीं हो सकते। किन्तु एक व्यक्ति के बारे में दोनों गलत अवश्य हो सकते हैं क्योंकि वह व्यक्ति नीले रंग का हो सकता है, अर्थात् वह न काला हो और न गोरा हो। उसी प्रकार एक चट्टान न तो कर्कश हो और न कोमल; किन्तु अनपाती हो सकती है। किंतु यह निश्चित है कि दो आत्यन्तिक विरोधी पद या वाक्य एक साथ सत्य और मिथ्या नहीं हो सकते—दोनों में एक अवश्य ही सत्य होगा और दूसरा मिथ्या होगा। यहाँ यह विचार, व्यक्ति[2] को लेकर किया गया है जाति[3] को लेकर

1 Falsity 2 Individual 3 Class

नहीं। जाति मे दो आत्यन्तिक विरोधी बातें पाई जा सकती हैं किन्तु व्यक्ति मे नहीं। आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त कहता है:—'क, ख और अ-ख दोनों नहीं हो सकता'। मध्यम-योग परिहार कहता है—'क या तो ख हो सकता है या अ-ख हो सकता है'। यहाँ 'क' व्यक्ति का वाचक है, जाति का नहीं। जाति मे दोनों बातें सम्भव हो सकती हैं। मनुष्य शिक्षित और अशिक्षित दोनो हो सकता है—यह कहना सर्वथा युक्त है क्योंकि यहाँ मनुष्य से मनुष्य जाति का बोध लिया गया है। इसी प्रकार मनुष्य न तो सभ्य है और न असभ्य है। ये दोनों ही बातें सम्भव हैं। जाति में विरोधी गुणों का सत्य होना या असत्य होना कोई बाधा नहीं डालता। यह तो तब बाधा उपस्थित करता है जब हम एक ही व्यक्ति को लेकर उसमे आत्यन्तिक विरोधी गुणों की विधि करें या निषेध करें। गोविन्द, सभ्य और असभ्य दोनों गुणों को एक काल में और एक समय में धारण नहीं कर सकता। इन दोनों सिद्धान्तों का सर्वप्रथम अरस्तू ने अपने अतिभौतिक शास्त्र[1] में प्रतिपादन किया है।

३—तीनों सिद्धान्तों का आपस में सम्बन्ध

कभी-कभी दर्शन के क्षेत्र में यह प्रश्न उठाया जाता है—क्या ये तीनों सिद्धान्त अपनी पृथक् पृथक सत्ता रखते हैं या ये तीनों किसी एक ही साधारण सिद्धान्त के द्योतक है? इस विषय मे भिन्न-भिन्न उत्तर है। कोई कहते हैं कि सारूप्यता का सिद्धान्त ही मुख्य है, अन्य उसके ही प्रतिरूप[2] है। क्योंकि सारूप्यता के सिद्धान्तानुसार कोई भी विचार जो उद्देश्य मे निहित हो वह विधेय के रूप मे प्रकट किया जा सकता है। आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्तानुसार दो आत्यन्तिक विरोधी गुण एक साथ एक ही व्यक्ति के बारे में सत्य नहीं हो सकते, दोनों में से एक अवश्य ही गलत या मिथ्या होना चाहिये। मध्यम-योग-परिहार

1 Metaphysics 2. Different forms

के सिद्धान्त के अनुसार दो आत्यन्तिक विरोधी गुण एक व्यक्ति के विषय में सत्य नहीं हो सकते। ये दोनों सिद्धान्त तादात्म्य के सिद्धान्त के ही निषेधात्मक रूप हैं। जो बात तादात्म्य के सिद्धान्त में विधिरूप में रखी जाती है वही आत्यन्तिक विरोधी तथा मध्यम त्याग-परिहार के सिद्धान्तों में निषेध रूप से कही गई है। इस प्रकार इन तीनों सिद्धान्तों को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अन्य लोगों का कहना है कि विधि और निषेध, विरोधी गुण होने के कारण एक कभी नहीं हो सकते। यह चर्चा अतिभौतिक-शास्त्र सम्बन्धी है। यहाँ उसका विशेष प्रयोजन नहीं। तर्कशास्त्र, जो सत्य की प्रतिष्ठापना का प्रयत्न करता है, उसमें दोनों ही सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। विशेष रूप से अनन्तरानुमान के प्रकार तो इन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं।

४—यथेष्ट-तर्क का सिद्धान्त

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के अतिरिक्त हम यथेष्ट-तर्क का सिद्धान्त (The Principle of Sufficient Reason) भी लाइबनीज़ महोदय द्वारा प्रतिष्ठापित पाते हैं। इसका मूल सूत्र इस प्रकार है:— 'युक्ति या तर्क के बिना कुछ नहीं हो सकता—अमुक वस्तु इसी प्रकार होनी चाहिये दूसरी प्रकार क्यों नहीं ?" इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है। यदि संसार में रहनेवाली वस्तुओं में परिवर्तन होना आवश्यक है तो उसके लिये कोई समर्थ युक्ति या तर्क अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार के परिवर्तन का कोई न कोई हेतु अवश्य है। न्यूटन (Newton) साहब का नाम किसने न सुना होगा। उन्होंने एक सेब के वृक्ष के नीचे बैठे हुए देखा कि सेब उनके सिर पर गिरता है। वह आकाश में ऊपर की ओर क्यों नहीं जाता ? यह प्रश्न स्वाभाविक था और उसका उत्तर भी होना चाहिये। इसमें

विचार के बाद उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति (Gravitation) है और इसी कारण से सेव भौतिक पदार्थ होने के कारण पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ और ऊपर की ओर नहीं गया। आज इस आकर्षण के सिद्धान्त को अनेक सिद्धान्तों का आधार माना जाता है और ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों का हल इसीसे किया जाता है। यह सिद्धान्त सारूप्यता के सिद्धान्त के लिये आवश्यक और पूरक सिद्धान्त है। सारूप्यता का सिद्धान्त बतलाता है कि यदि किसी पद को किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है तो वह अर्थ उसी प्रकार रहना चाहिये। किन्तु यथेष्ट-तर्क का सिद्धान्त यह कहता है कि यदि परिवर्तन उसमें किया गया है तो उसके लिये समर्थयुक्ति[1] होनी चाहिये कि ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। वहाँ उसका प्राक् रूप कोई न कोई अवश्य होना चाहिये जिसके होने पर ऐसा हुआ। वास्तव में इस सिद्धान्त की उभयमुखी[2] प्रवृत्ति है। (१) इसका अभिप्राय यह है कि जब कभी कोई घटना होती है उसका कोई न कोई उपयुक्त कारण अवश्य होता है। इस प्रकार यह कारणता[3] के सिद्धान्त का स्थान ले लेता है और समग्र सामान्यानुमान का आधार बन जाता है। (२) इसका अर्थ होता है कि कोई विचार, निर्णय, तर्क, उसके उस प्रकार होने के लिये, समर्थ कारण रखता है और पूछता है 'यह इसी प्रकार क्यों है अन्य प्रकार क्यों नहीं।' इस प्रकार एक विचार में ऐसा कोई गुण नहीं होना चाहिये जो उस जाति के व्यक्तियों में न पाया जाय। एक निर्णय में विधि या निषेध, तद्गत विचारों की पदार्थों के साथ सम्बद्धता और असम्बद्धता पर निर्भर होने चाहिये और उसी प्रकार एक अनुमान में जो प्रदत्त निर्णय हैं उन्हीं के

---

1 Sufficient reason. 2 Two-fold 3 The Law of Causation

(४) असम्भवता और आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करो।

(५) लाइब्नीज महोदय के 'पर्याप्त तर्क के सिद्धान्त' से तुम क्या समझते हो? कारणता के सिद्धान्त में और इसमें क्या अन्तर है? इसकी तर्कशास्त्र में क्या उपयोगिता है?

(६) आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त और मध्यम-योग-परिहार का सिद्धान्त में क्या सम्बन्ध है? दोनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है?

(७) हेमिल्टन महोदय का 'स्वयंसिद्ध' क्या है? यह सिद्धान्त भाषा और भाव के सम्बन्ध को तुलनाओं में कहाँ तक लाता है? इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ३

१—पदज्ञान

तर्कशास्त्र में पदज्ञान (Knowledge of terms) अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि पदों से निर्णय बनते हैं और एक या अधिक निर्णयों से अनुमान बनाए जाते हैं। तर्कशास्त्र का मुख्य विषय अनुमान या तर्क है। अनुमान के दो अंग होते हैं:—(१) प्रदत्त[1] या आधार (२) अप्रदत्त या परिणाम[2]। इनके योग से जो प्रक्रिया उत्पन्न होती है उसे अनुमान या तर्क कहते हैं। अनुमान के भी दो प्रकार बतलाए हैं:—(१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान।

(१) विशेषानुमान —

"सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब नेता मनुष्य हैं।
∴ सब नेता मरणधर्मा हैं।"

(२) सामान्यानुमान—

"राम मरणशील है।
गोविन्द मरणशील है।
शान्ति मरणशील है।
शीलभद्र मरणशील है
∴ सब मरणशील हैं।"

इन दोनों अनुमानों के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अनुमान

---

1 Data, 2 Conclusion.

(४) तादात्म्य और आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करो।

(५) लाइब्नीज महोदय के 'पर्याप्त तर्क के सिद्धान्त' से तुम क्या समझते हो? कारणता के सिद्धान्त में और इसमें क्या अन्तर है? इसकी तर्कशास्त्र में क्या उपयोगिता है?

(६) आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त और मध्यम-योग-परिहार का सिद्धान्त में क्या सम्बन्ध है? दोनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है?

(७) हेमिल्टन महोदय का 'स्वयंसिद्ध' क्या है? यह सिद्धान्त भाषा और भाव के सम्बन्ध को सुलझाने में कहाँ तक सफल है? इस पर प्रकाश डालो।

सरलतापूर्वक वाक्य के वर्णन के प्रकार को वदल सकते हैं। उदाहरणार्थ 'सब गाएँ चतुष्पद हैं' यह निर्णय और 'कोई गाय अचतुष्पद नहीं है' यह निर्णय एकार्थबोधक हैं। एकार्थबोधक होने के कारण उनके रूपों में परिवर्तन हो सकता है और इस प्रकार के परिवर्तन से तर्क या अनुमान में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। इस सिद्धान्त को भी हम सारूप्यता के सिद्धान्त में अन्तर्भूत कर सकते हैं। क्योंकि जो विचार एक रूप मे प्रकट किया गया है वह अन्यरूप में भी प्रकट किया जा सकता है यदि उसके अर्थ में कोई परिवर्तन न दिखाई दे। कारण, प्रत्येक वस्तु अपनी सारूप्यता में कायम रहती है। इसलिये एक रूप आसानी से दूसरे रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है और इससे विचारधारा में कोई हानि नहीं होती।

इसी प्रकार तर्कशास्त्र के कुछ और भी मूल सिद्धान्त हैं, जैसे (१) प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (The Principle of Uniformity of Nature) (२) कारणता का सिद्धान्त (The law of Causation) इत्यादि। इनका उपयोग सामान्यानुमान (Induction) में अधिक है; इसलिये उनका इस पुस्तक के द्वितीय भाग में सुविस्तृत वर्णन किया जायगा।

अभ्यास प्रश्न

(१) तर्कशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त क्या हैं? सारूप्यता का सिद्धान्त, आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त और मध्यम-योग-परिहार का सिद्धान्त—इनकी विशद व्याख्या करो।

(२) सारूप्यता के सिद्धान्त का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। यह रूपविषयक तर्क का मुख्य सिद्धान्त क्यों माना गया है?

(३) 'सारूप्यता का सिद्धान्त केवल पुनरुक्ति है' इस उद्धरण के अभिप्राय को स्पष्ट रूप से प्रकट करो।

आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिये। कारणता का सिद्धान्त भी बहुत सीमा तक इस अपेक्ष-तर्क के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित प्रतीत होता है क्योंकि वस्तु और उसके गुणों में कोई न कोई आवश्यक सम्बन्ध अवश्य होता है। उदाहरण के लिये सुवर्ण और उसके भार में अवश्य ही कुछ न कुछ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्थिति ही अपेक्ष-तर्क के सिद्धान्त की व्यापकता को पुष्ट करती है। किसी गुण का अपेक्ष विवरण तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसे किसी वस्तु से सम्बद्ध पाते हैं। बिना इस प्रकार के सम्बन्ध के कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। यह सिद्धान्त चाहे रेखागणित के सहसत्तात्मक सत्यों (Truths of Co-existence) के निर्णय के लिये प्रयोग किया जाय चाहे प्राउ क्रमिक सत्यों (Truths of succession) के निर्णय के लिये प्रयोग किया जाय, इसकी व्यापकता अनिवार्य है।

५—हेमिल्टन का स्वयंसिद्ध

हेमिल्टन (Hamilton) महोदय का स्वयंसिद्ध (Postulate) भी आवश्यक एक आवश्यक सिद्धान्त माना जाता है। इसका संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है:—

"तर्कशास्त्र बिना तर्क के यह मान लेता है कि जो कुछ अन्तररूप से विचार में है वह बाह्यरूप से भाषा या वाक्ये में प्रकट किया जा सकता है।"

यह पहले कहाजा चुका है कि तर्कशास्त्र केवल विचारों से सम्बन्ध रखता है जो वाणी[1] या भाषा में प्रकट किये जा सकते हैं। इस नियम का अभिप्राय यह है कि यदि अर्थ या भाव में किसी विशेष परिवर्तन की सम्भावना न हो तो हम भाषा के रूप को सुचारु रूप से बदल सकते हैं। अतः जब तक अर्थ में परिवर्तन नहीं है तब तक हम

1 Speech.

सरलतापूर्वक वाक्य के वर्णन के प्रकार को बदल सकते हैं। उदाहरणार्थ 'सब गाएँ चतुष्पद हैं' यह निर्णय और 'कोई गाय अचतुष्पद नहीं है' यह निर्णय एकार्थबोधक हैं। एकार्थबोधक होने के कारण उनके रूपों मे परिवर्तन हो सकता है और इस प्रकार के परिवर्तन से तर्क या अनुमान मे कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। इस सिद्धान्त को भी हम सारूप्यता के सिद्धान्त में अन्तर्भूत कर सकते हैं। क्योंकि जो विचार एक रूप मे प्रकट किया गया है वह अन्यरूप में भी प्रकट किया जा सकता है यदि उसके अर्थ में कोई परिवर्तन न दिखाई दे। कारण, प्रत्येक वस्तु अपनी सारूप्यता में कायम रहती है। इसलिये एक रूप आसानी से दूसरे रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है और इससे विचारधारा में कोई हानि नहीं होती।

इसी प्रकार तर्कशास्त्र के कुछ और भी मूल सिद्धान्त हैं, जैसे (१) प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (The Principle of Uniformity of Nature) (२) कारणता का सिद्धान्त (The law of Causation) इत्यादि। इनका उपयोग सामान्यानुमान (Induction) में अधिक है, इसलिये उनका इस पुस्तक के द्वितीय भाग में सुविस्तृत वर्णन किया जायगा।

अभ्यास प्रश्न

(१) तर्कशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त क्या हैं? सारूप्यता का सिद्धान्त, आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त और मध्यम योग-परिहार का सिद्धान्त—इनकी विशद व्याख्या करो।

(२) सारूप्यता के सिद्धान्त का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। यह रूपविषयक तर्क का मुख्य सिद्धान्त क्यों माना गया है?

(३) 'सारूप्यता का सिद्धान्त केवल पुनरुक्ति है' इस उद्धरण के अभिप्राय को स्पष्ट रूप से प्रकट करो।

(४) तादात्म्य और आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करो।

(५) लाइब्नीज महोदय के 'पर्याप्त तर्क के सिद्धान्त' से तुम क्या समझते हो? तादात्म्य के सिद्धान्त में और इसमें क्या अन्तर है? इसकी तर्कशास्त्र में क्या उपयोगिता है?

(६) आत्यन्तिक विरोध का सिद्धान्त और मध्यम-पक्ष-परिहार का सिद्धान्त में क्या सम्बन्ध है? दोनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है?

(७) हेमिल्टन महोदय का 'स्वयंसिद्ध' क्या है? यह सिद्धान्त भाषा और भाव के सम्बन्ध को सुलझाने में कहाँ तक सफल है? इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ३

१—पदज्ञान

तर्कशास्त्र में पदज्ञान (Knowledge of terms) अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि पदों से निर्णय बनते हैं और एक या अधिक निर्णयों से अनुमान बनाए जाते हैं। तर्कशास्त्र का मुख्य विषय अनुमान या तर्क है। अनुमान के दो अंग होते हैं:—(१) प्रदत्त[1] या आधार (२) अप्रदत्त या परिणाम[2]। इनके योग से जो प्रक्रिया उत्पन्न होती है उसे अनुमान या तर्क कहते हैं। अनुमान के भी दो प्रकार बतलाए हैं:—(१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान।

(१) विशेषानुमान —

"सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब नेता मनुष्य हैं।
∴ सब नेता मरणधर्मा हैं।"

(२) सामान्यानुमान—

"राम मरणशील है।
गोविन्द मरणशील है।
शान्ति मरणशील है।
शीलभद्र मरणशील है
∴ सब मरणशील हैं।"

इन दोनों अनुमानों के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अनुमान

---

1 Data 2 Conclusion.

निर्णयों से बनते हैं और निर्णयों के निर्माण में पदों की आवश्यकता होती है। इसलिये प्रथम पद-परिचय करना चाहिये।

शब्द और पद

साधारण लोग शब्द और पद को एकार्थ में प्रयोग करते हैं किन्तु तर्कशास्त्र में ऐसा नहीं है। शब्द व्याकरण में अक्षरों[1] से बनाए जाते हैं। शब्द एक अक्षर का भी हो सकता है जैसे 'ॐ', और अनेक अक्षरों का भी हो सकता है, जैसे 'गोपुर'। शब्द का कुछ न-कुछ अर्थ अवश्य होता है। निरर्थक शब्द विशेष उपयोगी नहीं होते।

शब्दों से वाक्य बनते हैं जैसे 'मनुष्य मरणधर्मा है।' यह एक वाक्य है। यह शब्दों से बना हुआ है। इसमें तीन शब्द हैं (१) मनुष्य, (२) मरणधर्मा और (३) है। इसलिये वाक्य उसे कहते हैं जो शब्दों का समूह होकर किसी पूर्ण विचार को प्रकट करे।

यदि साधारण रीति से देखा जाय तो व्याकरण में जिसे हम वाक्य कहते हैं तर्कशास्त्र में वह तर्कवाक्य[2] कहलाता है। तर्क-वाक्य और साधारण-वाक्य में भेद होता है। यद्यपि हिन्दी में इसे यह भेद विशेष रूप से प्रतीत न भी होता हो किन्तु अँगरेजी में तो बहुत अन्तर प्रतीत होता है।

तर्क-वाक्य के तीन अंग होते हैं—(१) उद्देश्य (२) विधेय और (३) योजक। उद्देश्य (Subject) वह है जिसके साथ कोई विध्यात्मक या निषेधात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। विधेय (Predicate) वह है जिसका विध्यात्मक या निषेधात्मक सम्बन्ध उद्देश्य के साथ स्थापित किया जाय। तथा योजक (Copula) वह किया है जो उद्देश्य और विधेय

1 Letters. 2 Logical Proposition.

को जोड़कर आपस में सम्बन्ध स्थापित कराती हो। उदाहरणार्थ, 'सब गाएँ चतुष्पद हैं' इस वाक्य में 'सब गाएँ' उद्देश्य हैं, 'चतुष्पद' विधेय है और 'हैं' योजक क्रिया है जो उद्देश्य और विधेय दोनों के बीच में सम्बन्ध स्थापित कराता है।

अंगरेजी भाषा में पद के लिये टर्म (Term) प्रयोग किया जाता है और वहाँ वह सार्थक है। टर्म शब्द लैटिन भाषा का टरमिनस (Terminus) से बनाया गया है, उसका अर्थ है सीमा, हद, जो सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि अँगरेजी में निर्णय का रूप हिन्दी से भिन्न होता है। वाक्य का क्रम अँगरेजी में इस प्रकार है—उद्देश्य—योजक—विधेय। उदाहरणार्थ, 'All men are mortal' (ऑल मेन आर मॉरटल) 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।' यहाँ अँगरेजी के वाक्य में उद्देश्य-पद और विधेय-पद दोनों सीमा, या हद का कार्य करते हैं किन्तु उसी का जब हिन्दी में अनुवाद किया जाता है तो क्रम बदल जाता है। यहाँ क्रम इस प्रकार है—उद्देश्य—विधेय—योजक। अँगरेजी में योजक के बीच में आ जाने से बड़ी सहूलियत पैदा हो जाती है क्योंकि वहाँ योजक, दोनों को सर्वथा पृथक् पृथक् कर उनको दोनों सीमाओं या अन्तों पर स्थापित कराता है। हिन्दी में इनको पृथक् करना असम्भव है। यहाँ योजक अन्त में रखना पड़ता है और उसके कारण भ्रम की भी सम्भावना हो जाती है। केवल भ्रम ही नहीं; कभी-कभी अर्थ वैपरीत्य होने का भी भय होता है। उदाहरणार्थ, 'मेरा मित्र बद्रीनाथ जा रहा है' यह वाक्य भ्रमात्मक है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ तो यह होगा कि मेरा मित्र, बद्रीनाथ जा रहा है। बद्रीनाथ एक तीर्थ है, वहाँ वह जा रहा है। किन्तु बद्रीनाथ मित्र का नाम भी हो सकता है, तो उसी वाक्य का दूसरा अर्थ यह होगा 'मेरा मित्र बद्रीनाथ, जा रहा है।'[1] इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिये हमें अल्पविराम के चिन्ह

1. Opposite meaning

(१) की सहायता से देनी चाहिये फिर समझने में कोई बाधा नहीं होगी और तात्पर्य स्पष्ट हो जायगा।

२—पद का लक्षण

पद (Term) वह शब्द या शब्दों का समूह है जो स्वयं किसी निर्णय या वाक्य में उद्देश्य या विधेय के रूप में प्रयुक्त होने की क्षमता रखता हो। उदाहरणार्थ 'सब गायें, चतुष्पद हैं'। इसमें 'गायें' और 'चतुष्पद' दोनों पद हैं क्योंकि एक वाक्य के उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है और अन्य विधेय के रूप में। 'हैं' पद नहीं है, वह क्रिया है, इसको योजक कहते हैं क्योंकि यह उद्देश्य और विधेय में सम्बन्ध प्रकट कर रही है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक शब्द पद नहीं हो सकता पद होने की क्षमता कुछ ही शब्दों में है। उन शब्द और शब्दों के समूहों में पद होने की योग्यता होती है जो किसी वाक्य या निर्णय के उद्देश्य या विधेय के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी हेतु से तर्कशास्त्र में शब्दों को दो वर्गों में विभक्त कर दिया गया है। (१) पदयोग्य (२) पद संयोग्य। कुछ वैयाकरण एक और विभाग करते हैं। वह है (३) पदायोग्य। इनके लक्षण निम्नलिखित हैं—

(१) पदयोग्य (Categormatic) शब्द वह है जो स्वयं पद की तरह बिना दूसरे शब्द की सहायता के प्रयुक्त हो सके। उदाहरणार्थ, 'मानव' शब्द पदयोग्य है। क्योंकि वह किसी वाक्य का उद्देश्य या विधेय बन सकता है। इसी तरह "गाय, काला, आचरण-कर्ता" आदि शब्द पदयोग्य शब्द हैं। जितने पदयोग्य शब्द हैं वे सब पदवाच्य हैं और उन्हें अंग्रेज़ी में टर्म (Term) कह सकते हैं। संज्ञा, सर्वनाम विशेषण आदि शब्द पदयोग्य शब्द कहे जाते हैं।

(२) पद-संयोग्य (Non-Categormatic) शब्द वह है जो

स्वयं पद की तरह प्रयुक्त नहीं हो सकता किन्तु किसी पदयोग्य शब्द के साथ मिला कर उसे प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, ने, को, से, का, में, पर इत्यादि कारकों के चिन्ह जो, सो, इत्यादि सयोजक सर्वनाम, जल्दी, धीरे, जैसा, तैसा, झटपट इत्यादि क्रिया विशेषण और तथा, किन्तु, अतः इत्यादि संयोजक अव्यय, पद संयोज्य शब्द हैं। इनका स्वतंत्र रूप से पद की भाँति प्रयोग नहीं हो सकता, केवल अन्य पदयोग्य शब्दों के साथ इनका प्रयोग हो सकता है। जैसे, वह 'धीरे' चलता है। यहाँ धीरे विधेय का अंश है।

(३) **पदायोग्य (Acategormatic) शब्द वह है जो स्वतंत्र रूप से या किसी अन्य के सम्बन्ध से भी पद के रूप में प्रयुक्त न किया जा सके।** उदाहरणार्थ अरे, हे, हाय, भो, इत्यादि सबोधनबोधक अव्यय शब्द ऐसे हैं जिनका न तो स्वतंत्र रूप से और न किसी के सम्बन्ध से पद के रूप में प्रयोग हो सकता है।

किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि पद सयोज्य और पदायोग्य दोनों प्रकार के शब्द यदि सज्ञा के स्थान में प्रयोग किये जाँय तो वे पदयोग्य बन जाते हैं। जैसे "'को' कर्मकारक का चिन्ह है" 'जल्दी' क्रिया विशेषण है, 'जो' सयोजक सर्वनाम है, 'अरे' सबोधनबोधक अव्यय है इत्यादि। इन वाक्यों में, को, जल्दी, जो, अरे सज्ञा के स्थान में प्रयुक्त हुए हैं इसलिये ये पदयोग्य पद हैं।

३—पद-विचार की तर्कशास्त्र में आवश्यकता

यह प्रश्न पहले उठाया गया था—क्या तर्कशास्त्र में पद-विचार की आवश्यकता है?—इसका उत्तर विधिरूप[1] ही है। यह ठीक है कि

---

1 Positive.

तर्कशास्त्र का विशेष-सम्बन्ध अनुमान या तर्क से है किन्तु जब हम अनुमान विधि को भाषा में प्रयोग करते हैं तब हमें वाक्यों या निर्णयों का विचार करना पड़ता है। वाक्य या निर्णय, पदों से बनते हैं। क्योंकि पदों के सम्यक् ज्ञान के अभाव में निर्णयों का तथा उनसे बने हुए अनुमानों का अच्छा परिज्ञान नहीं हो सकता। अतः पदों के विचार की तर्कशास्त्र में अत्यन्त आवश्यकता है। इसी हेतु से तर्क शास्त्र के लक्षण और विषय का वर्णन करते समय उन प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया गया है जो तर्क करने में सहायक हैं।

४—पद के दो अर्थ

भाषा के पदों का कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होता है जैसे हम जब 'मनुष्य' पद प्रयोग करते हैं तो इससे हमें क्या प्रतीत होता है? साधारण लोग समझते हैं कि ऐसे-ऐसे गुणों वाले जीव को मनुष्य कहते हैं। किन्तु तर्कशास्त्र में प्रायः सभी पदों के उसी समय दो अर्थ माने गये हैं—पहला द्रव्यार्थ और दूसरा भावार्थ।

द्रव्यार्थ (Denotation) पद का वह है जो पदगत द्रव्य व्यक्तियों का बोध करावे जिनके लिये वह प्रयुक्त हुआ है। जैसे, 'मनुष्य' पद उन सब मनुष्य द्रव्य व्यक्तियों के लिये प्रयोग किया गया है जिनका इससे बोध होता है। 'त्रिभुज' शब्द उन सब प्रकार के त्रिभुज द्रव्य व्यक्तियों के लिये प्रयोग किया गया है जिनका इसके द्वारा बोध होता है। 'चन्द्र' पद केवल एक द्रव्य व्यक्ति का ही बोध कराता है, और इसी अर्थ के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। द्रव्यार्थ के लिये विस्तार[1] क्षेत्र[2], विषय[3] आदि शब्द भी प्रयोग किये जाते हैं क्योंकि यह बतलाता है कि अमुक पद का कितना विस्तार, क्षेत्र और विषय है।

---

1. Extention. 2. Scope. 3. Domain.

भावार्थ (Connotation) **पद का वह है जो पदगत गुण या गुणों के समूह का बोध करावे जिनके लिये वह पद प्रयोग किया गया है।** जैसे मनुष्य पद का भावार्थ है, जीवत्व[1] और समझदारी[2]। ये दोनों गुण ऐसे हैं जो सब मनुष्यों में पाये जाते हैं। उसी प्रकार 'त्रिभुज'[3] पद उसके समतल-क्षेत्र[4] होने का और तीन भुजाओं से बँधने का द्योतक है। चद्र भी अपने गुणों को बतलाता है। भावार्थ को कुछ लोग पद का **स्वभाव**[5], **पदत्व**[6], **गहराई**[7], **सामर्थ्य**[8] आदि शब्दों से भी व्यवहार करते हैं।

यह सूत्र कंठ कर लेना चाहिये कि "**पद का द्रव्यार्थ, व्यक्तियों का तथा पद का भावार्थ, गुणों का बोध कराता है।**"

५—दोनों अर्थों का परस्पर सम्बन्ध

दार्शनिक लोग द्रव्यार्थ और भावार्थ में परस्पर सम्बन्ध मानते हैं और कहते हैं कि "**द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों परस्पर विपरीत दिशा में घटते और बढ़ते हैं।**" अँगरेजी में इसको इन्वर्स रिलेशन (Inverse Relation—अर्थात् व्यत्यय सबध कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि यदि एक, एक दिशा में चलता है तो दूसरा ठीक उससे विपरीत दिशा में चलता है। या यों कहना चाहिये कि जब एक बढ़ता है तो दूसरा घटता है और जब एक घटता है तो दूसरा बढ़ता है। इस प्रकार इस सम्बन्ध से इन दोनों के चार भग हो जाते हैं—

(१) यदि द्रव्यार्थ बढ़ता है तो भावार्थ घटता है।
(२) यदि द्रव्यार्थ घटता है तो भावार्थ बढ़ता है।

---

1 Animality 2. Rationality 3 Triangle
4. Being a plane figure 5 Intention
6 Intent. 7 Depth. 8. Comprehension

(३) यदि भावार्थ बढ़ता है तो द्रव्यार्थ घटता है।
(४) यदि भावार्थ घटता है तो द्रव्यार्थ बढ़ता है।

उदाहरणार्थ, मनुष्य पद का द्रव्यार्थ संसार के सब मनुष्य हैं और उसका भावार्थ, समझदार जीव होना है क्योंकि समझदारी और जीवत्व उसके परमावश्यक गुण या भाव हैं। यदि इसमें हम द्रव्यार्थ बढ़ाते हैं तो मनुष्य पद में अन्य सब जीव सम्मिलित करने होंगे अर्थात् सब मनुष्य+अन्य सब जीव=सब जीव। ऐसा करने से भावार्थ घट जायगा क्योंकि सब जीवों का आवश्यक गुण या भाव केवल जीवत्व रह जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि द्रव्यार्थ बढ़ता है तो भावार्थ घटता है।

तथा यदि हम द्रव्यार्थ मनुष्य पद का घटा दें और उसमें से सभ्य मनुष्यों को निकाल दें तो द्रव्यार्थ होगा मनुष्य — सभ्य मनुष्य = असभ्य मनुष्य। ठीक है मनुष्यों से असभ्य मनुष्यों की संख्या कम है। फलतः सभ्य मनुष्य का भावार्थ बढ़ जायगा अर्थात् उसमें सभ्यता समझदारी और जीवत्व तीन भाव या गुण हो गये। इस प्रकार द्रव्यार्थ में हानि करने से भावार्थ में वृद्धि होती है।

फिर यदि हम किसी पद का भावार्थ बढ़ायें अर्थात् उसमें किसी गुण की वृद्धि करें जैसे मनुष्य पद में न्यायप्रियता और जोड़ दें तो प्रतीत होगा कि मनुष्य+न्यायप्रिय=न्यायप्रिय मनुष्य। ऐसे मनुष्यों की संख्या मनुष्यों से अवश्य कम है। इससे सिद्ध हो गया कि भावार्थ के बढ़ाने से निश्चय रूप से द्रव्यार्थ में कमी हो जाती है। यहाँ न्यायप्रिय मनुष्य = न्यायप्रियता + समझदारी + जीवत्व। इसमें भावार्थ बढ़ाया गया है और फलतः ऐसे मनुष्यों का द्रव्यार्थ घट गया है।

फिर हम यदि भावार्थ को घटा दें जैसे सुन्दर मनुष्यों में से सुन्दरता निकाल दें। सुन्दर मनुष्य — सौन्दर्य = मनुष्य। यहाँ सुन्दरता+समझदारी+जीवत्व — सुन्दरता = मनुष्य = समझदारी +

जीवत्व । मनुष्यों की सख्या सुन्दर मनुष्यों से निश्चय ही अधिक है। इससे यह परिणाम निकला कि भावार्थ को घटाने से द्रव्यार्थ बढ़ जाता है।

भावार्थ और द्रव्यार्थ के व्यत्यय सम्बन्ध को समझने के लिये हमें एक पदों की सम्बन्धित लड़ी या पंक्ति लेनी चाहिये। तब इसका नियम अच्छी तरह समझ में आ जायगा। जैसे :—

पद	भावार्थ
मनुष्य	मनुष्यत्व
एशियावासी	मनुष्यत्व + एशियावास
भारतीय	मनुष्यत्व + एशियावास + भारतवर्ष का रहनेवाला
विहारी	मनुष्यत्व + एशियावास + भारत का रहने-वाला + विहार प्रदेशस्थ
टोलकचंद	मनुष्यत्व + एशियावास + भारत का रहने-वाला + विहार-प्रदेशस्थ + गया-वासी + वैश्यकुलोत्पन्न इत्यादि।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि पद की विशेषता से उसका भावार्थ बढ़ता चला जाता है तथा द्रव्यार्थ कम होता जाता है और वहाँ तक घटता जाता है जहाँ वह अत्यन्त अल्प रह जाता है, तथा इसके विपरीत लडी या पंक्ति में हम द्रव्यार्थ को बढ़ते पायँगे और भावार्थ को घटते देखेंगे। जैसे :—

पद	भावार्थ
मनुष्य	जीवत्व और समझदारी
जीव	जीवत्व
सजीव वस्तु, निर्जीव वस्तु	सजीव, निर्जीव वस्तुत्व
वस्तु या पदार्थ	वस्तुत्व या पदार्थत्व

में कोई फ़र्क नहीं होता। इसलिये चाहे हम जानें या न जानें द्रव्यार्थ की दृष्टि से उस पद से सभी व्यक्ति जो विश्व में विद्यमान हैं समझे जायँगे। उसी प्रकार भावार्थ की दृष्टि से चाहे हम जानें या न जानें, उन गुणों के आधार पर जो उस पद में पाए जाते हैं, उस पद से उन सब वास्तविक व्यक्तियों का बोध होगा। उदाहरणार्थ, जब कोलम्बस (Columbus) ने अमरीका की खोज की तब हमारे 'महाद्वीप'[1] पद के द्रव्यार्थ में उस देश के ज्ञान से, कोई वृद्धि नहीं हुई और न कोई भावार्थ में हानि हुई। यदि इसी प्रकार १ महाद्वीप और भी मिल जावे तब भी कोई हानि-वृद्धि की सम्भावना नहीं होती। इसी तरह न्यूटन साहब ने 'आकर्षण शक्ति'[2] का आविष्कार किया इससे भौतिक पदार्थ के भावार्थ में कोई वृद्धि नहीं हुई और न द्रव्यार्थ में कोई हानि हुई। इससे सिद्ध होता है कि हानि और वृद्धि चाहे द्रव्यार्थ में हो या भावार्थ में हो, उनका उसके ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं।

अन्ततः, व्यस्त सम्बन्ध का नियम किसी गणित शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार घटित नहीं होता; इसलिये इसका कोई अनुपात[3] निश्चित नहीं है। मान लीजिये हमने मनुष्य शब्द में 'गोरा' शब्द जोड़ दिया तो हमें प्रतीत होगा कि इसका द्रव्यार्थ कितना विस्तृत है क्योंकि संसार में गोरे मनुष्य ही से अधिक हैं और उसी पद में यदि अन्ध[4] लगा दिया तो हम देखेंगे कि अन्ध पुरुषों की संख्या बहुत कम है। इसलिये यद्यपि दोनों अवस्थाओं में केवल एक गुण की ही वृद्धि की गई है किन्तु एक में द्रव्यार्थ दूसरे की अपेक्षा बहुत ज्यादा है, इससे स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध का कोई गणितशास्त्रानुसार अनुपात निश्चित नहीं किया जा सकता।

---

1. Continent. 2. Gravitation. 3. Proportion.
4. Blind.

कुछ तार्किक लोग भावार्थ को तीन अभिप्रायों में समझते हैं—(१) आत्म सम्बन्धी[1], (२) वाह्यार्थ सम्बन्धी[2], (३) तर्क-सम्बन्धी[3]।

(१) आत्म-सम्बन्धी भावार्थ उन गुणों का बना हुआ होता है जो किसी व्यक्ति की चेतना के नाम से वह पद उपस्थित करता है। (२) वाह्यार्थ-सम्बन्धी भावार्थ उन सब गुणों से बनता है जो उस पद से बोधित वस्तुओं में वास्तव में पाया जाता है चाहे हम उन गुणों को जानें या न जानें तथा (३) तर्क सम्बन्धी भावार्थ उन गुणों से निर्मित होता है जिसको वैज्ञानिक अनुसंधान ने, पदों का आवश्यक गुण नहीं बतलाया है।

इस प्रकार हम देखेंगे कि आत्म सम्बन्धी भावार्थ परिवर्तनशील होता है क्योंकि वह मनुष्य के आकस्मिक-ज्ञान[4] पर अवलम्बित होता है; वाह्यार्थ-सम्बन्धी भावार्थ सर्वथा निश्चित होता है तथा तर्क-सबंधी भावार्थ उभय प्रकार का होता है। तर्क-संबंधी भावार्थ वैज्ञानिक अन्वेषणों की अधिकता से वर्धनशील होता है किन्तु वह मनुष्य के वहम पर निर्भर नहीं रहता। रूप-विषयक तर्क (Formal Logic) में हमें आत्म-सम्बन्धी और वाह्यार्थ-सम्बन्धी भावार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु तर्क-सबन्धी भावार्थ की ही अधिक आवश्यकता पड़ती है और उसीका उपयोग होता है।

७—पदों का विभाजन

पदों के विभाजन[5] के विषय में तार्किकों के अनेक मत हैं। प्रथम वे पदों को **एकार्थक और अनेकार्थक** के विभाग में विभाजित करते हैं। जेवन्स (Jevons) के शब्दों मे **एकार्थक** (Uni-

---

1 Subjective 2 Objective. 3. Logical
4 Accidental 5. Division

इसमें हम देखते हैं कि भावार्थ घटता जाता है और प्रम्यार्थ बढ़ता जाता है। मनुष्य से जीव का भावार्थ कम है किन्तु प्रम्यार्थ अधिक है। जीव से सजीव वस्तु या निर्जीव वस्तु का भावार्थ कम है किन्तु प्रम्यार्थ अधिक है। सजीव वस्तु या निर्जीव वस्तु का वस्तु से भावार्थ में है किन्तु प्रम्यार्थ अधिक है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि प्रम्यार्थ की दृष्टि से एक जाति[1] में उसकी उपजाति[2] या उपजातियाँ अन्तर्गत हो जाती हैं। मनुष्य एक जाति है उसमें भारतीय यूरोपीय, अफरीकन आदि सब जातियाँ अन्तर्गत हैं तथा भावार्थ की दृष्टि से भारतीयों में मनुष्यत्व भी है। उसी प्रकार अन्यों में भी यह मनुष्यत्व का धर्म विद्यमान है।

४—जाति और उपजाति

जब दो पद जो जातिवाचक हैं और एक दूसरे से इस प्रकार संबन्धित हैं कि एक का प्रम्यार्थ दूसरे के प्रम्यार्थ को अपने में सम्मिलित कर लेता है तब जो पद अधिक प्रम्यार्थ रखता है वह सामान्य या जाति पद कहलाता है और उससे सम्बन्धित पद जिसका प्रम्यार्थ उससे संकीर्ण है वह उपसामान्य या उपजाति पद कहलाता है। जैसे 'जीव' जाति पद है और उससे सम्बन्धित 'मनुष्य' उपजाति पद है। ये दोनों पद प्रम्यार्थ और भावार्थ के भी द्योतक हैं क्योंकि एक का प्रम्यार्थ दूसरे से अधिक है तथा एक का भावार्थ दूसरे से कम है। जीव का प्रम्यार्थ मनुष्य के प्रम्यार्थ से अधिक है और जीव का भावार्थ मनुष्य के भावार्थ से कम है। इसी प्रकार जीव का भावार्थ मनुष्य से कम है तथा मनुष्य का भावार्थ जीव से अधिक है। जीव में केवल जीवत्व है तथा मनुष्य में जीवत्व और समझदारी ये दो गुण हैं।

1 Genus. 2 Species.

इसी प्रकार जीवों की संख्या मनुष्यों की संख्या से अवश्य ही ज्यादा है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि द्रव्यार्थ या भावार्थ की वृद्धि और हानि से नवीन पदों[1] की उत्पत्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य पद के भावार्थ में न्यायप्रियता बढा दीजिये तो हमें 'न्यायप्रिय मनुष्य' यह नवीन पद मिल जायगा। इसमें यह भेद अवश्य हो गया कि प्रथम पद से नवीन पद का विस्तार कम हो गया है। इसी प्रकार यदि इस मनुष्य में से समझदारी का भाव या गुण निकाल दें तो हमें एक नवीन पद मिलेगा और वह होगा 'जीव'। यद्यपि प्रथम पद से दूसरे पद का विस्तार अधिक हो गया है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से यह फलित होता है कि यदि किसी पद के भावार्थ के साथ-साथ कोई ऐसा गुण जोड दिया जाय जो उसके सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से पाया जाय तो उसके द्रव्यार्थ में कोई हानि नहीं होगी। उदाहरणार्थ, त्रिभुज पद का भावार्थ है 'तीन भुजाओं का होना'। किन्तु यदि इसमें 'तीन कोणों का होना' और जोड दिया जावे, तो उसके द्रव्यार्थ में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यद्यपि 'तीन कोणों का होना' भावार्थ से ही निकलता है फिर भी उसकी वृद्धि से उसके भावार्थ या द्रव्यार्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। **व्यत्यय सम्बन्ध का नियम तभी ठीक बैठता है जब हानि और वृद्धि के होने से नये पदों का निर्माण हो।**

इसके अतिरिक्त किसी पद के द्रव्यार्थ और भावार्थ में हानि या वृद्धि होने से उस पद के द्रव्यार्थ और भावार्थ के ज्ञान में किसी व्यक्ति को भ्रम की आवश्यकता नहीं। क्योंकि मनुष्य का द्रव्यार्थ और भावार्थ सम्बन्धी ज्ञान बदल सकता है किन्तु उससे पद के द्रव्यार्थ और भावार्थ

---

1 New terms

में कोई फ़र्क नहीं होगा। इसलिये चाहे हम जाने या न जाने प्रभ्यार्थ की दृष्टि से उस पद से तभी व्यक्ति जो विश्व में विद्यमान हैं समझे जायेंगे। उसी प्रकार भावार्थ की दृष्टि से चाहे हम जाने या न जाने, उन गुणों के आधार पर जो उस पद में पाए जाते हैं, उस पद से उन सब जातिगत व्यक्तियों का बोध होगा। उदाहरणार्थ जब कोलम्बस (Columbus) ने अमरीका की खोज की तब हमारे 'महाद्वीप'[1] पद के प्रभ्यार्थ में, उस देश के ज्ञान से कोई वृद्धि नहीं हुई और न कोई भावार्थ में हानि हुई। यदि इसी प्रकार १० महाद्वीप और भी मिल जाते तब भी कोई हानि-वृद्धि की सम्भावना नहीं होती। इसी तरह न्यूटन साहब ने "आकर्षण शक्ति"[2] का आविष्कार किया इससे भौतिक पदार्थ के भावार्थ में कोई वृद्धि नहीं हुई और न प्रभ्यार्थ में कोई हानि हुई। इससे सिद्ध होता है कि हानि और वृद्धि चाहे प्रभ्यार्थ में हो या भावार्थ में हो उनका उसके ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं।

वस्तुतः व्यस्त सम्बन्ध का नियम किसी गणित शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार घटित नहीं होता; इसलिये इसका कोई अनुपात[3] निश्चित नहीं है। मान लीजिये हमने मनुष्य शब्द में 'गोरा' शब्द जोड़ दिया तो हमें प्रतीत होगा कि इसका प्रभ्यार्थ कितना विस्तृत है क्योंकि संसार में गोरे मनुष्य है से अधिक हैं और उसी पद में यदि अन्धा[4] लगा दिया तो हम देखेंगे कि अंध पुरुषों की संख्या बहुत कम है। इसलिये यद्यपि दोनों अवस्थाओं में केवल एक गुण की ही वृद्धि की गई है किन्तु एक में प्रभ्यार्थ दूसरे की अपेक्षा बहुत ज्यादा है, इससे स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध का कोई गणितशास्त्रानुसार अनुपात निश्चित नहीं किया जा सकता।

---

1 Continent. 2 Gravitation. 3. Proportion. 4. Blind.

कुछ तार्किक लोग भावार्थ को तीन अभिप्रायों में समझते हैं—(१) आत्म सम्बन्धी[1], (२) वाह्यार्थ सम्बन्धी[2], (३) तर्क-सम्बन्धी[3]।

(१) आत्म-सम्बन्धी भावार्थ उन गुणों का बना हुआ होता है जो किसी व्यक्ति की चेतना के नाम से वह पद उपस्थित करता है। (२) वाह्यार्थ-सम्बन्धी भावार्थ उन सब गुणों से बनता है जो उस पद से बोधित वस्तुओं में वास्तव में पाया जाता है चाहे हम उन गुणों को जानें या न जानें तथा (३) तर्क सम्बन्धी भावार्थ उन गुणों से निर्मित होता है जिसको वैज्ञानिक अनुसंधान ने, पदों का आवश्यक गुण नहीं बतलाया है।

इस प्रकार हम देखेंगे कि आत्म सम्बन्धी भावार्थ परिवर्तनशील होता है क्योंकि वह मनुष्य के आकस्मिक-ज्ञान[4] पर अवलंवित होता है; वाह्यार्थ-सवन्धी भावार्थ सर्वथा निश्चित होता है तथा तर्क-सवधी भावार्थ उभय प्रकार का होता है। तर्क-संवधी भावार्थ वैज्ञानिक अन्वेषणों की अधिकता से वर्धनशील होता है किन्तु वह मनुष्य के वहम पर निर्भर नहीं रहता। रूप-विषयक तर्क (Formal Logic) में हमें आत्म-सम्बन्धी और वाह्यार्थ-सम्बन्धी भावार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती; किन्तु तर्क-सवन्धी भावार्थ की ही अधिक आवश्यकता पड़ती है और उसीका उपयोग होता है।

७—पदों का विभाजन

पदों के विभाजन[5] के विषय में तार्किकों के अनेक मत हैं। प्रथम वे पदों को **एकार्थक और अनेकार्थक** के विभाग में विभाजित करते हैं। जेवन्स (Jevons) के शब्दों में **एकार्थक** (Uni-

1 Subjective 2 Objective. 3. Logical.
4 Accidental 5. Division.

vocal) पद वे हैं जिनका एक निश्चित अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ नहीं होता जैसे घोड़ा हाथी, मनुष्य इत्यादि। ये सब एकार्थक शब्द हैं क्योंकि इनका अर्थ एक ही पदार्थ में रूढ़ है। अनेकार्थक पद (Equivocal) वे हैं जिनके एक अर्थ को छोड़कर अनेक अर्थ होते हैं; जैसे हरि-पय वेद, द्विज इत्यादि। ये सब अनेकार्थक पद हैं क्योंकि इनके एक से अधिक अर्थ हैं। हरि का अर्थ विष्णु, घोड़ा, बन्दर इत्यादि है। पय का अर्थ दूध और जल है। वेद का अर्थ हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक और ज्ञान है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण, पक्षी हाथी के दाँत इत्यादि है। कुछ तार्किक लोग इसको पद का विभाग नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यह विभाग शब्दों का है। उनके सिद्धान्त के अनुसार एक पद का एक ही अर्थ होता है और उसको उसी स्थान में प्रयोग करना चाहिये, पश्चात् उसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है। लेकिन जहाँ तक तर्क शास्त्र का सम्बन्ध है एक पद का एक ही अर्थ होता है। क्योंकि तादात्म्य के सिद्धान्त के अनुसार हमारे तर्क-क्षेत्र में एक पद का एक ही अर्थ अभिप्रेत होता है। यदि उसका भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है तो वे भिन्न-भिन्न पद गिने जायेंगे उनको एक पद नहीं गिना जा सकता। अर्थानुसार पद ही भिन्न हो जाता है। जैसे, 'द्विज' पद, ब्राह्मण अर्थ-वाचक, पक्षी-वाचक द्विज' पद से सर्वथा भिन्न है। पय दुग्धवाचक, जल-वाचक पय से सर्वथा भिन्न है। इसलिये यह विभाजन कुछ तार्किकों को स्वीकार नहीं है।

तथापि तार्किकों ने पदों के निम्नलिखित मुख्य-मुख्य विभाग स्वीकार किये हैं जिनका विचार यहाँ किया जायगा।

(क) व्यस्त—संयुक्त

(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक

(ग) समुदाय-वाचक—असमुदाय-वाचक।

(घ) द्रव्य-वाचक—भाव-वाचक

(ङ) विधि-वाचक—निषेध-वाचक—अभाव-वाचक

(च) निरपेक्ष—सापेक्ष

(छ) भावार्थ-बोधक—निर्भावार्थ-बोधक

ये सब विभाग स्वतंत्र है। प्रत्येक पद को इन विभागों में अवश्य आना चाहिये। यदि किसी पद का स्वरूप निश्चित करना है तो उपर्युक्त विभागों में से हर एक के अन्दर उस पद का आना आवश्यक है। अर्थात् हमें यह कहना चाहिये कि अमुक पद, व्यस्तपद है या समस्तपद है, व्यक्तिवाचक है या जातिवाचक है, इत्यादि।

(क) व्यस्त—संयुक्त

एक पद, एक शब्द का हो सकता है या अनेक शब्दों का हो सकता है। **जब एक पद एक शब्द का बना हुआ होता है तब उसे व्यस्त-पद (Simple) या एकशब्दात्मक (Single-worded) पद कहते हैं।** जैसे महावीर, मनुष्य, घोड़ा, पुस्तक आदि तथा **संयुक्त (Composite) या अनेकशब्दात्मक (Many-worded) पद उसे कहते हैं जो अनेक शब्दों से बने हुए होते हैं** जैसे कपूर द्वीप का राजा, सिकन्दर महान, भारत का प्रधान मन्त्री, हिन्दू विश्वविद्यालय इत्यादि। यह स्पष्ट है कि जो शब्द पदयोग्य हैं वे ही व्यस्त या एकशब्दात्मक पद हो सकते हैं। पदयोग्य और पद-संयोज्य दोनों प्रकार के शब्द मिलकर समस्त या अनेक शब्दात्मक पद बनते हैं। उदाहरणार्थ 'भारत का प्रधान मन्त्री' इसमें भारत, प्रधान मन्त्री आदि शब्द पदयोग्य है तथा 'का' पदसंयोज्य है।

(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक

व्यक्तिवाचक (Singular) पद वह है जो एक ही अर्थ में एक ही व्यक्ति का बोध करावे। जैसे हिमालय, इस देश का राजा, धर्मराज अशोक, इत्यादि व्यक्तिवाचक शब्द है क्योंकि ये सब एक ही

व्यक्ति का ज्ञान कराते हैं। जातिवाचक (General) पद वह है जिसका एक ही अर्थ में अपने कुछ असाधारण गुणों के कारण उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिये व्यवहार किया जा सके। जैसे घोड़ा, मनुष्य, पुस्तक इत्यादि। ये सब जातिवाचक शब्द हैं क्योंकि ये शब्द कुछ असाधारण गुणों के कारण बने हैं और उस जाति के भिन्न भिन्न व्यक्ति में ये गुण पाए जायँगे उन सब व्यक्तियों के लिये इनका व्यवहार हो सकता है। यदि कोई कहे 'एक मनुष्य' तो वह व्यक्तिवाचक पद है किन्तु 'मनुष्य' जातिवाचक है। क्योंकि जाति वाचक पद केवल द्रव्यार्थ ही नहीं बतलाता किन्तु भावार्थ भी बतलाता है। क्योंकि यह पद की जाति को बतलाता है, इसलिये इसे जाति-वाचक पद कहते हैं।

तार्किकों के मत में व्यक्तिवाचक पद दो प्रकार के होते हैं— सार्थक और निरर्थक।

सार्थक (Significant) व्यक्तिवाचक पद वे होते हैं जो किसी विशेष धर्म के कारण जो उसमें पाया जाता है उस नाम को प्राप्त करते हैं। जैसे 'पंजाब' यह पद सार्थक है क्योंकि पंजाब वह देश है जहाँ पाँच नदियाँ बहती हैं। इसी विशेष धर्म के कारण उसका नाम पंजाब पड़ गया है। इसी प्रकार संसार का सर्वोच्च शिखर' महावीर बुद्ध, प्रशान्त सागर इत्यादि शब्द सार्थक हैं। इस प्रकार के सार्थक व्यक्तिवाचक पदों के किन्हीं-किन्हीं के अनुसार द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों होते हैं।

निरर्थक (Non-significant) व्यक्तिवाचक पद वे हैं जो किसी गुण या जाति की अपेक्षा न रखते हुए मनमानी[1] रूप से रख लिये जाते हैं। जैसे गोविन्द, जिनराज बम्बई गंगा इत्यादि।

1 Arbitrarily

इस प्रकार के पद, केवल किसी व्यक्ति को सकेत कराने मात्र में सहायक होते हैं। उसका गुण क्या है या जाति क्या है इसका इससे कोई ज्ञान नहीं होता। माना, किसी का नाम 'हरी' है। हरी पद केवल एक व्यक्ति का बोध कराता है, इससे किसी गुण या जाति का बोध नहीं होता। चाहे हरी पद से अन्य पदार्थों का भी ज्ञान हो जाय। कोई अपने कुत्ते का नाम हरी रख ले, इससे यह मतलब नहीं है कि हरी और कुत्ता हरी, किन्हीं सामान्य गुणों को धारण करते हैं जिनके कारण 'हरी' शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। अतः ऐसे शब्द केवल द्रव्यार्थ बतलाते हैं, उनका भावार्थ बिलकुल नहीं होता।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि किसी पद के अर्थ-मात्र के होने से वह पद सार्थक या न होने से निरर्थक नहीं गिना जाता। पद की सार्थकता इसी में है कि उस व्यक्ति का अर्थ उसी अर्थ में निहित हो। उदाहरणार्थ 'नैनसुख' किसी व्यक्ति का नाम रख लिया गया। पश्चात् दुर्भाग्यवश वह अन्धा हो गया। तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसका नैनसुख नाम छूट जायगा। इस प्रकार सार्थक नाम होने पर भी उनके अर्थों से व्यक्तियों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे केवल सकेतमात्र के ही ग्राहक होते हैं। जैसे हरिमल, जगबहादुर, नाम इसी प्रकार के हैं। वास्तव में सार्थक पद यही है जिसका नाम उसी अर्थ के कारण पड़ा हो जैसे सयुक्तप्रात। निरर्थक पद तो मनमाने होते ही हैं।

(ग) समुदायवाचक—असमुदायवाचक

समुदायवाचक (Collective) पद वे हैं जिनके द्वारा अनेक समान व्यक्तियों के समूह का बोध हो। जैसे सेना, कक्षा, वन, पुस्तकालय इत्यादि। प्रत्येक सिपाही व्यक्ति को सेना नहीं कहा जाता। सेना-पद-वाच्य वे सब लड़नेवाले हैं जो युद्ध में भाग लेते हैं। इसलिये सिपाहियों के समुदाय का नाम सेना है। अलग-अलग

विद्यार्थियों की कक्षा नहीं बनती न अलग-अलग वृक्षों के वन बनते हैं और न अलग-अलग पुस्तकों से पुस्तकालय बनते हैं। ये सब समुदायात्मक वस्तुएँ हैं। इसलिये इनके वाचक पद समुदायवाचक पद कहलाते हैं।

असमुदायवाचक (Non-collective) पद वे हैं जिनसे किसी समुदाय का बोध न होता हो। जैसे गाय, घोड़ा मनुष्य, राजा, विन्ध्याचल इत्यादि। इन पदों का अर्थ समुदायात्मक नहीं है इसलिये ये असमुदायवाचक पद हैं।

समुदायवाचक पदों की संख्या बहुत कम है। इसलिये समुदायवाचक पद बनाने के लिये कभी-कभी 'सब शब्द' का प्रयोग करके काम चला लेते हैं। उदाहरणार्थ सब कोण मिलकर एक त्रिभुज के दो समकोण के बराबर होते हैं। यहाँ सब मिलकर' इससे हमने समूह का अर्थ ले लिया है। कभी-कभी तार्किक लोग समुदायवाचक शब्द के दो प्रयोग मानते हैं। (१) समूहात्मक प्रयोग (Collective use) और (२) विभक्तात्मक प्रयोग (Distributive use)। प्रथम प्रयोग में समुदायात्मक अर्थ पर ही बल रहता है। जैसे 'ज्यूरी'[1] का है निर्णय है' अर्थात् यहाँ जिन जजों के समूह की ज्यूरी बनी है उनका सम्मिलित निर्णय समझा जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रत्येक जज का अलग-अलग यही निर्णय है, यहाँ विभक्त अर्थ है। अंग्रेजी भाषा में यह और स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यहाँ क्रिया एकवचन और बहुवचन की अलग अलग प्रयुक्त होती है, जैसे Jury has given its verdict' (ज्यूरी हैज गिवेन इट्स वर्डिक्ट (ज्यूरी ने अपना निर्णय दिया है तथा "Jury have given their verdict') ज्यूरी हेव गिवेन देयर वर्डिक्ट) अर्थात् ज्यूरी के जजों ने अपना निर्णय दिया है।

---

1 Jury

समुदायवाचक पद व्यक्तिवाचक भी हो सकते हैं और जातिवाचक भी। चाइनीज़ राष्ट्र, अँगरेजी पलटन, इम्पीरियल पुस्तकालय इत्यादि पद समुदायवाचक होने पर भी व्यक्तिवाचक हैं तथा राष्ट्र, पलटन, पुस्तकालय आदि शब्द केवल जातिवाचक पद हैं क्योंकि ये उस प्रकार की जाति का ज्ञान कराते हैं।

(घ) द्रव्य-वाचक—भाव-वाचक

जिससे किसी द्रव्य या वस्तु का बोध हो उसे द्रव्यवाचक (Concrete) पद कहते हैं। जैसे राजा, सोना, देश, विद्यालय, वर्ग इत्यादि। ये सब द्रव्य हैं इसलिये द्रव्यवाचक पद कहलाते हैं।

जिससे किसी भाव या गुण का बोध हो उन्हें भाववाचक (Abstract) पद कहते हैं। जैसे सज्जनता, समानता, मनुष्यत्व, भोलापन इत्यादि। ये शब्द केवल गुणों को बतलाते हैं इसलिए इन्हें भाववाचक पद कहा जाता है।

यद्यपि यह सत्य है कि द्रव्य और गुण पृथक् पृथक् प्रतीत नहीं होते, क्योंकि गुण द्रव्य[1] को छोड़कर नहीं रह सकते। या यों कहिये कि गुणों के कारण ही द्रव्य, द्रव्य कहलाता है। तथापि हम गुणों को विचार में ला सकते हैं और विचार कोटि में उनका पृथक्[2] करण भी किया जा सकता है इसलिये भाववाचक पद अलग माने गये हैं।

प्रायः करके द्रव्यवाचक और भाववाचक पद जोडी से चलते हैं जैसे मनुष्य, मनुष्यता, जीव, जीवत्व, बूढा, बूढ़ापन, द्रव्य, द्रव्यत्व, इत्यादि। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक भाववाचक पद द्रव्यवाचक पद में रहता है।

जितने विशेषण पद हैं वे सब द्रव्यवाचक ही हैं भाववाचक नहीं।

---

1 Substance or matter. 2 Abstraction

विद्यार्थियों की कक्षा नहीं बनती न अलग अलग वृक्षों के वन बनते हैं और न अलग-अलग पुस्तकों से पुस्तकालय बनते हैं। ये सब समुदायात्मक शब्द हैं। इसलिये इनके वाचक पद समुदायवाचक पद कहलाते हैं।

असमुदायवाचक (Non-collective) पद वे हैं जिनसे किसी समुदाय का बोध न होता हो। जैसे गाय, पेड़, मनुष्य राजा, विद्यार्थी इत्यादि। इन पदों का अर्थ समुदायात्मक नहीं है इसलिये ये असमुदायवाचक पद हैं।

समुदायवाचक पदों की संख्या बहुत कम है। इसलिये समुदाय वाचक पद बनाने के लिये कभी-कभी 'सब' शब्द का प्रयोग करके काम चला लेते हैं। उदाहरणार्थ सब कोण मिलकर एक त्रिभुज के दो समकोण के बराबर होते हैं। यहाँ 'सब मिलकर' इससे समुदाय का अर्थ ले लिया है। कभी-कभी तार्किक लोग समुदायवाचक शब्द के दो प्रयोग मानते हैं। (१) समूहात्मक प्रयोग (Collective use) और (२) विभक्तात्मक प्रयोग (Distributive use)। प्रथम प्रयोग में समुदायात्मक अर्थ पर ही बल रहता है। जैसे 'ज्यूरी[1] का निश्चय है' अर्थात् यहाँ जिन पंचों के समूह की ज्यूरी बनी है उनका सम्मिलित निर्णय समझा जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रत्येक पंच का अलग-अलग यही निर्णय है, यहाँ विभक्त अर्थ है। अंगरेजी भाषा में यह और स्पष्ट हो जाता है क्योंकि वहाँ क्रिया एकवचन और बहुवचन की अलग-अलग प्रयुक्त होती है जैसे 'Jury has given its verdict' (ज्यूरी हेज गिवेन इट्स वर्डिक्ट (ज्यूरी ने अपना निर्णय दिया है तथा "Jury have given their verdict") ज्यूरी हैव गिवेन देयर वर्डिक्ट) अर्थात् ज्यूरी के पंचों ने अपना निर्णय दिया है।

---

1 Jury

(ङ) विधिवाचक-निषेधवाचक-अभाववाचक

विधिवाचक (Positive) पद वह है जो किसी वस्तु या गुण की सत्ता का बोध करावे। जैसे पशु, देव, आनन्द, मानवीय इत्यादि। ये सब सत्ता का बोध करानेवाले पद हैं।

निषेधवाचक (Negative) पद वह है जो किसी वस्तु या गुण की असत्ता का ज्ञान करावे। जैसे अयश, अदेव, अज्ञान, अमानवीय इत्यादि। क्योंकि ये पद किसी वस्तु या गुण का निषेध कर उसकी असत्ता बतलाते हैं इसलिये निषेधवाचक पद हैं।

अभाववाचक (Privative) पद वह है जो वर्तमान में किसी गुण का अभाव बतलावे किन्तु यह उसको रखने के लिये योग्यता रखता हो। जैसे अन्ध, बधिर, मूक, पङ्गु इत्यादि। ये पद प्रकाशित करते है कि मनुष्य में नेत्र, कर्ण, जिह्वा आदि कार्य करते थे किन्तु किसी कारणवश वह उनको खो चुका है इसलिये वह अन्ध, बधिर आदि पदों से उल्लिखित कहलाता है। अभाववाचक पद विधि-वाचक और निषेधवाचक पदों के मध्य में रहता है क्योंकि निषेधात्मक की भाँति वह गुण का अभाव बतलाता है तथा विधिवाचक की तरह वह योग्यता बतलाता है क्योंकि वह उस प्रकार की योग्यता को प्राप्त किये हुए था या कर सकता है।

साधारण तौर से निषेधात्मक पद वे हैं जिनके पहले 'अ, अन, निस्, निर्, वि इत्यादि उपसर्ग लगे रहते हैं। जैसे अज्ञात, निस्सार, निरालम्ब, विमल इत्यादि। किन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनके पहले निषेधवाचक उपसर्ग न रहने पर भी वे निषेधात्मक गिने जाते हैं। जैसे भ्रम, आलस्य, अन्धकार, मूर्ख इत्यादि। इन पदों का रूप विधिवाचक है किन्तु अर्थ निषेधात्मक है। विश्वास के अभाव को भ्रम कहते हैं। चुस्ती के अभाव को आलस्य कहा जाता है। प्रकाश के अभाव को अन्धकार कहते हैं। ज्ञान के अभाव से मनुष्य मूर्ख कहलाता है।

उदाहरण, जब हम कहते हैं 'भला मनुष्य' यहाँ 'भला' मनुष्य की ही विशेषता को बतलाता है। अतः इसको द्रव्यवाचक ही मानना चाहिये। इसके अनुरूप भाववाचक पद 'भलापन' होगा जो एक गुण है और उसका द्रव्य से पृथक् चिन्तन किया जा सकता है।

तार्किकों ने पदों का एक विभाग ऐसा भी निकाला है जिसको वे गुणवाचक (Attributive) कहते हैं। इनके अन्दर वे विशेषण पद तथा पूर्वकालिक[1] क्रियापदों का समावेश करते हैं। इनके अन्दर एक विशेषता है कि ये पद, कर्ता या उद्देश्य के रूप में तो नहीं प्रयुक्त हो सकते किन्तु विधेय के रूप में उनका प्रयोग हो सकता है। जैसे माननीय पढ़ा हुआ बहादुर इत्यादि। इस प्रकार हम कह सकते हैं 'धर्मराज का आचरण माननीय है' 'यह पाठ पढ़ा हुआ है', "अर्जुन बहादुर है"।

भाववाचक पद जातिवाचक होने चाहिये या व्यक्तिवाचक?—इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न तार्किकों का भिन्न-भिन्न विचार है। उदाहरणार्थ, 'बुद्धिमत्ता' इसे जातिवाचक मानना चाहिये या व्यक्तिवाचक। कुछ लोग कहते हैं कि यह जातिवाचक है क्योंकि बुद्धिमत्ता की अनेक मात्राएँ होती हैं इसलिये जातिवाचक है। अन्य का कहना है कि चाहे मात्राएँ कितनी ही क्यों न हों किन्तु बुद्धिमत्ता तो एक ही है इसलिये व्यक्तिवाचक होना चाहिये। इस प्रतिद्वन्द्विता[2] में हमारी समझ के अनुसार मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है क्योंकि कुछ तो निश्चित रूप से जातिवाचक होते हैं जैसे भिन्न-भिन्न रंग, धर्म इत्यादि तथा अन्य अनेक व्यक्तिवाचक होते हैं जैसे सचाई, सुन्दरता यथार्थ अमरता इत्यादि। इनको व्यक्तिवाचक ही मानना उचित है।

1. Participles. 2. Controversy

(ङ) विधिवाचक-निषेधवाचक-अभाववाचक

विधिवाचक (Positive) पद वह है जो किसी वस्तु या गुण की सत्ता का बोध करावे। जैसे पशु, देव, आनन्द, मानवीय इत्यादि। ये सब सत्ता का बोध करानेवाले पद हैं।

निषेधवाचक (Negative) पद वह है जो किसी वस्तु या गुण की असत्ता का ज्ञान करावे। जैसे अयश, अदेव, अज्ञान, अमानवीय इत्यादि। क्योंकि ये पद किसी वस्तु या गुण का निषेध कर उसकी असत्ता बतलाते हैं इसलिये निषेधवाचक पद हैं।

अभाववाचक (Privative) पद वह है जो वर्तमान में किसी गुण का अभाव बतलावे किन्तु यह उसको रखने के लिये योग्यता रखता हो। जैसे अन्ध, बधिर, मूक, पङ्गु इत्यादि। ये पद प्रकाशित करते हैं कि मनुष्य में नेत्र, कर्ण, जिह्वा आदि कार्य करते थे किन्तु किसी कारणवश वह उनको खो चुका है इसलिये वह अन्ध, बधिर आदि पदों से उल्लिखित कहलाता है। अभाववाचक पद विधिवाचक और निषेधवाचक पदों के मध्य में रहता है क्योंकि निषेधात्मक की भाँति वह गुण का अभाव बतलाता है तथा विधिवाचक की तरह वह योग्यता बतलाता है क्योंकि वह उस प्रकार की योग्यता को प्राप्त किये हुए था या कर सकता है।

साधारण तौर से निषेधात्मक पद वे हैं जिनके पहले 'अ, अन, निस्, निर्, वि इत्यादि उपसर्ग लगे रहते हैं। जैसे अशांत, निस्सार, निरालम्ब, विमल इत्यादि। किन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनके पहले निषेधवाचक उपसर्ग न रहने पर भी वे निषेधात्मक गिने जाते हैं। जैसे भ्रम, आलस्य, अन्धकार, मूर्ख इत्यादि। इन पदों का रूप विधिवाचक है किन्तु अर्थ निषेधात्मक है। विश्वास के अभाव को भ्रम कहते हैं। चुस्ती के अभाव को आलस्य कहा जाता है। प्रकाश के अभाव को अन्धकार कहते हैं। ज्ञान के अभाव से मनुष्य मूर्ख कहलाता है।

वास्तव में इस विषय में पद के रूप पर न जाकर उसके अर्थ पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

अभाववाचक पद उन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं जिनमें गुण नहीं पाए जाते किन्तु उनको रखने की योग्यता होती है और प्रायः रखते हैं, तथा निषेधात्मक पद वे हैं जिनमें गुण नहीं हैं और न रखने की योग्यता ही होती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि विशेषण पद और पूर्वकालिक क्रियापद अभाववाचक पदों की तरह समझना चाहिये और उन्हीं के अनुरूप भाववाचक पद निषेधात्मक पद समझना चाहिये। इस प्रकार अंध, बधिर मूक सुस्त आदि अभाववाचक पद हैं क्योंकि वे उन गुणों को नहीं रखते हैं किन्तु उनको प्राप्त करने की योग्यता उनमें है तथा इनके अनुरूप भाववाचक पदों को निषेधात्मक मानना चाहिये। जैसे 'अन्धपन बधिरपन, मूकता इत्यादि। क्योंकि ये सब पद तद् तद् गुणों का निषेध प्रकट करते हैं। किन्तु जब निषेधवाचक पद अपने विधिवाचक का सर्वथा विरोधी पद होता है तब यह अपरिमित होता है क्योंकि यह विधि पद को छोड़कर सबके लिये लागू हो सकता है। जैसे 'अरक्त' लाल को छोड़ कर सब को बोधित करता है। अरस्तू का कहना था कि इस प्रकार के पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इनका अर्थ संदिग्ध होता है।

विरोधी पद

वे पद जिनमें विरोधी गुण पाए जाते हैं और जो एक ही विषय या पदार्थ में नहीं रह सकते उन्हें विरोधी पद (Incompatible terms) कहते हैं। इनके दो भेद हैं:— आत्यन्तिक विरोधी पद तथा विरोधी पद।

(१) आत्यन्तिक विरोधी पद (Contradictory terms) वे कहलाते हैं जो एक दूसरे के क्षेत्र को पूर्णरूप से शून्य कर देते हैं

तथा एक दूसरे से आत्यन्तिक विरोध रखते है। जैसे शुभ्र[1] और अशुभ्र[2]। यह दो गुण एक साथ तथा एक काल में किस वस्तु में नहीं पाए जा सकते, तथा यदि दोनों को लिया जाय तो ये दोनों सब प्रकार के रगों को शून्य कर देते हैं। इसलिये इन्हें आत्यन्तिक विरोधी पद कहा जाता है।

जब दो पद दो वस्तुओं में उसी क्षेत्र मे अधिक से अधिक अन्तर बतलाते हैं तो उन्हें विरोधी (Contrary) पद कहते हैं। उदाहरणार्थ कृष्ण और शुभ्र ये दोनों विरोधी पद हैं क्योंकि ये वर्ण के क्षेत्र में अधिकाधिक अन्तर की प्रतीति दिखलाते है। इसी प्रकार बुद्धू और बुद्धिमान, बलवान और कमजोर, प्रसन्न और दुखी आदि पदों की जोडियाँ हैं जो अधिकाधिक अन्तर की द्योतक हैं।

यह नियम है तथा आगे अनन्तरानुमान[3] मे और स्पष्ट हो जायगा कि विरोधसूचक दोनों पद गलत हो सकते हैं जैसे रग 'लाल' ऐसा है जो न काला है और न सफेद है। इसलिये उसकी अपेक्षा से दोनों गलत हो सकते हैं। किन्तु आत्यन्तिक विरोधी पदों में एक के सत्य या ग़लत होने पर दूसरा गलत या सत्य अवश्य हो जायगा। दो आत्यन्तिक विरोधी गुण एक वस्तु में, एक ही काल मे और एक ही क्षेत्र मे कदापि नहीं रह सकते। इसलिये आत्यन्तिक विरोधी पद कभी एक साथ गलत नहीं हो सकते। आत्यन्तिक विरोधी पदों तथा विरोध पदों में इतनी समानता अवश्य है कि दोनों विरोधी पद एक ही वस्तु में सत्य या सही नहीं हो सकते तथा फर्क यह है कि आत्यन्तिक विरोधी पदों में मध्य की कोई अवस्था नहीं होती तथा विरोधी पदों में कई मध्य की अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे कृष्ण और शुभ्र के मध्य में रक्त, पीत, नील, हरित आदि अनेक मध्यवर्ती रग प्रतीत हो सकते हैं।

---

1 White 2 Non-white. 3 Immediate inference

वास्तव में इस विषय में पद के रूप पर न जाकर उनके अर्थ पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

अभावयवाचक पद उन वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होते हैं जिनमें गुण नहीं पाए जाते किन्तु उनको रखने की योग्यता होती है और प्रायः रखते हैं, तथा निषेधात्मक पद वे हैं जिनमें गुण नहीं थे और न रखने की योग्यता ही होती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि विशेषण पद और पूर्वकालिक क्रियापद अभावयवाचक पदों की तरह समझना चाहिये और उन्हीं के अनुरूप भाववाचक पद निषेधात्मक पद समझना चाहिये। इस प्रकार अंध, बधिर, मूक, सुस्त आदि अभाववाचक पद हैं क्योंकि वे उन गुणों को नहीं रखते हैं किन्तु उनको प्राप्त करने की योग्यता उनमें है तथा इनके अनुरूप भाववाचक पदों को निषेधात्मक मानना चाहिये। जैसे 'अ'धापन, बधिरापन, मूकता इत्यादि। क्योंकि वे उन पद उन उन गुणों का निषेध प्रकट करते हैं। किन्तु जब निषेधवाचक पद अपने विधिवाचक का सर्वथा विरोधी पद होता है तब यह अपरिमित होता है क्योंकि वह विधि पद को छोड़कर सबके लिये लागू हो सकता है। जैसे 'अरक्त' लाल को छोड़ कर सब को बोधित करता है। अरस्तू का कहना था कि इस प्रकार के पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इनका अर्थ संदिग्ध होता है।

विरोधी पद

वे पद जिनमें विरोधी गुण पाए जाते हैं और जो एक ही विषय या पदार्थ में नहीं रह सकते उन्हें विरोधी पद (Incompatible terms) कहते हैं। इनके दो भेद हैं:— आत्यन्तिक विरोधी पद तथा विरोधी पद।

(१) आत्यन्तिक विरोधी पद (Contradictory terms) वे कहलाते हैं जो एक दूसरे के क्षेत्र को पूर्णरूप से शून्य कर देते हैं

और वे अपने अस्तित्वकाल में अन्य द्रव्यों से प्रभावित होते हैं; इसलिये सब पदों को हम सापेक्ष पद कह सकते हैं। किन्तु तर्क शास्त्र में इस दार्शनिक सिद्धान्त की विशेष उपयोगिता नहीं। यहाँ तो अपेक्षा या सम्बन्ध से कोई खास और विलक्षण सम्बन्ध अभिप्रेत होता है और उसी की अपेक्षा के रहने या न रहने से पद सापेक्ष या निरपेक्ष बनते हैं। अर्थात् जब तक वह सम्बन्ध न समझ लिया जाय तब तक सापेक्ष पदों में एक दूसरे का अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

(छ) भावार्थबोधक—निर्भावार्थबोधक

भावार्थबोधक (Connotative) **पद वे हैं जो वस्तुओं और गुणों, दोनों का बोध कराते हों।** इसलिये भावार्थबोधक पदों में द्रव्यार्थ (Denotation) और भावार्थ (Connotation) दोनों पाए जाते हैं। इसका मुख्य कारण गुण-गुणी का कथञ्चित् अभेद-सम्बन्ध[1] है। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' पद का द्रव्यार्थ भी है अर्थात् जितने मनुष्य द्रव्य व्यक्तियाँ हैं उन सबके लिये इसका प्रयोग हो सकता है तथा भावार्थ भी है क्योंकि मनुष्य में जीवत्व और समझदारी ये दो आवश्यक गुण पाए जाते हैं। इसी प्रकार 'शुभ्र' पद भावार्थबोधक है क्योंकि इससे सब शुभ्र वस्तुओं का बोध होता है तथा शुभ्रता के गुणों का भी द्योतक है। इसी प्रकार धर्म शब्द भी भावार्थबोधक है। यह दया, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का द्योतक है तथा यह सामान्य गुण का भी बोधक है जो इन सबमें पाया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि 'भावार्थबोधक' पद द्रव्य और गुण दोनों का बोधक होता है। यद्यपि भावार्थ शब्द कुछ भ्रामक है तथापि व्याख्या-जनित अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

निर्भावार्थ-बोधक (Non Connotative) **पद उन्हें कहते हैं जो या तो द्रव्य का ही बोध करावें या गुण का ही बोध**

---

1. Somehow inseperable relation.

(घ) निरपेक्ष और सापेक्ष

निरपेक्ष (Absolute) पद उसे कहते हैं जो किसी वस्तु या गुण के अर्थ को बिना किसी दूसरे की अपेक्षा के अपने आप व्यक्त कर दे। जैसे वृक्ष, सूर्य, घोड़ा, सुवर्ण इत्यादि। इन पदों के अर्थ को समझने के लिये किसी अन्य पद की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं। इसलिये ये निरपेक्ष कहलाते हैं।

सापेक्ष (Relative) पद वे हैं जो अर्थ को अन्य पद की अपेक्षा से प्राप्त करते हैं। यदि वह अपेक्षा या सम्बन्ध हटा दिया जाय तो वह अर्थ ही नष्ट हो जाता है। जैसे शिष्य, पत्नी, राजा, कार्य इत्यादि। ये पद ऐसे हैं कि इनका अर्थ जब तक इनके सह-सम्बन्धी पद जैसे शिष्य का गुरु पत्नी का पति, राजा का प्रजा, कार्य का कारण आदि न समझ में आ जाय, तब तक उनका अर्थ समझ में ही नहीं आ सकता। इस प्रकार के सापेक्ष पद सर्वदा जोड़ियों में प्राप्त होते हैं और उन्हें सह सम्बन्धी (Correlative) पद कहते हैं। जैसे पिता-पुत्र माता-पिता राजा-प्रजा स्वामी-सेवक इत्यादि। कभी-कभी सह-सम्बन्धी पद एक समान भी होते हैं जैसे —भिन्न-भिन्न समीप-समीप दूर दूर इत्यादि। इस प्रकार के सह-सम्बन्धी पदों का आधार कोई एक नियम या नियमों की लड़ी होती है। इस आधार को सम्बन्धाधार या अपेक्षाधार (Fundamentum Relations) कहते हैं। जैसे पति-पत्नी में वैवाहिक सम्बन्ध और स्वामी-सेवक में सेवाभाव ही आधार हैं जो आपस में एक दूसरे को जोड़ते हैं।

यह सिद्धान्त चाहे भारतीय दार्शनिकों का हो या आइन्स्टाइन का हो किन्तु अब सब दार्शनिक यह अबाधरूप से स्वीकार करते हैं कि संसार में कोई भी पदार्थ ऐकान्तिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता। सब पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। हर एक वस्तु का अन्य वस्तुओं से कुछ-न कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है। प्रत्येक वस्तु में उत्पाद और विनाश होता है

और वे अपने अस्तित्वकाल में अन्य द्रव्यों से प्रभावित होते हैं; इसलिये सब पदों को हम सापेक्ष पद कह सकते हैं। किन्तु तर्क शास्त्र में इस दार्शनिक सिद्धान्त की विशेष उपयोगिता नहीं। यहाँ तो अपेक्षा या सम्बन्ध से कोई खास और विलक्षण सम्बन्ध अभिप्रेत होता है और उसी की अपेक्षा के रहने या न रहने से पद सापेक्ष या निरपेक्ष बनते हैं। अर्थात् जब तक वह सम्बन्ध न समझ लिया जाय तब तक सापेक्ष पदों में एक दूसरे का अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

(छ) भावार्थबोधक—निर्भावार्थबोधक

भावार्थबोधक (Connotative) **पद वे हैं जो वस्तुओं और गुणों, दोनों का बोध कराते हों।** इसलिये भावार्थबोधक पदों में द्रव्यार्थ (Denotation) और भावार्थ (Connotation) दोनों पाए जाते हैं। इसका मुख्य कारण गुण-गुणी का कथञ्चित् अभेद-सम्बन्ध[1] है। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' पद का द्रव्यार्थ भी है अर्थात् जितने मनुष्य द्रव्य व्यक्तियाँ हैं उन सबके लिये इसका प्रयोग हो सकता है तथा भावार्थ भी है क्योंकि मनुष्य में जीवत्व और समझदारी ये दो आवश्यक गुण पाए जाते हैं। इसी प्रकार 'शुभ्र' पद भावार्थबोधक है क्योंकि इससे सब शुभ्र वस्तुओं का बोध होता है तथा शुभ्रता के गुणों का भी द्योतक है। इसी प्रकार धर्म शब्द भी भावार्थबोधक है। यह दया, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का द्योतक है तथा यह सामान्य गुण का भी बोधक है जो इन सबमें पाया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि 'भावार्थबोधक' पद द्रव्य और गुण दोनों का बोधक होता है। यद्यपि भावार्थ शब्द कुछ भ्रामक है तथापि व्याख्या-जनित अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

निर्भावार्थ-बोधक (Non Connotative) **पद उन्हें कहते हैं जो या तो द्रव्य का ही बोध करावें या गुण का ही बोध**

---

1 Somehow inseperable relation

करावें। मिल महाशय के शब्दों में निर्भावार्थ-बोधक पद वह है जो या तो गुणी को बतलावे या गुण को बतलावे। जैसे 'चौकोरपन' यह एक पद है जो निर्भावार्थ-बोधक है क्योंकि यह केवल गुण को ही बतलाता है, द्रव्य को नहीं। मिल महाशय के अनुसार व्यक्ति वाचक पद भी निर्भावार्थ-बोधक हैं क्योंकि वे द्रव्य व्यक्तियों के ही वाचक होते हैं। जैसे राम, कृष्ण, मोहन इत्यादि। यहाँ निर्भावार्थ वाचक पद भ्रामक है। इसका अर्थ यह नहीं कि जिसमें भावार्थ हो ही नहीं किन्तु जिसमें या तो भावार्थ ही हो या द्रव्यार्थ ही हो; किन्तु दोनों न हों। यहां पर भी निर्भावार्थ बोधक पद का लक्षण द्वारा बतलाया हुआ अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये शब्दार्थ नहीं।

अधोलिखित पद भावार्थ-बोधक हैं —

(१) सब जातिवाचक पद[1]—चाहे वे द्रव्यवाचक हों या भाववाचक हों, वे सब भावार्थ-बोधक होते हैं। जैसे गाय, मनुष्य रूप, यथार्थता इत्यादि।

(२) सब सार्थक व्यक्तिवाचक पद[2]—जितने सार्थक व्यक्तिवाचक पद हैं वे सब भावार्थबोधक होते हैं। जैसे सूर्य भारत का प्रधान मंत्री, सर्वोच्च शिखर, सब से बड़ा नगर, पंजाब इत्यादि।

(३) एकवचन समुदायवाचक पद[3]—एकवचन में समुदायवाचक पद भी भावार्थ-बोधक होते हैं। जैसे बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी और इम्पीरियल पुस्तकालय कलकत्ता इत्यादि।

1[1] All general terms. 2. All Significant proper terms. Singular Collective terms.

अधोलिखित पद निर्भावार्थ बोधक पद हैं —

(१) एकवचन भावबाचक पद[1] —जैसे ऐक्यता, चौकोरपन, सत्यता, न्याय इत्यादि।

(२) सब व्यक्तिवाचक पद[2] —जैसे वर्धमान, शंकर, गंगा, कलकत्ता, बनारस इत्यादि।

व्यक्तिवाचक पद भावार्थ-बोधक हैं या नहीं—इस प्रश्न के विषय में तार्किकों में मतभेद है। मिल का मत है कि वे निर्भावार्थ-बोधक हैं तथा जेवन्स साहब का विचार है कि वे भावार्थ-बोधक हैं। यहाँ हम दोनों तार्किकों की दृष्टि बिन्दुओं का पर्यालोचन करते हैं।

मिल महोदय के अनुसार व्यक्तिवाचक पद भावार्थबोधक नहीं है। वे केवल उन व्यक्तियों का ही बोध कराते हैं जिनके लिये उनका प्रयोग किया गया है किन्तु इनसे किसी ऐसे गुण या गुणों से अभिप्राय नहीं है जो उन व्यक्तियों में पाये जाते हों। जब किसी बालक का 'प्रताप' नाम रखा जाता है या श्रीकृष्ण रखा जाता है तब वहाँ उन पुरुष सम्बन्धी गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है। ये नाम केवल संकेत मात्र हैं जिनसे उन व्यक्तियों का बोध हो जाता है। वास्तव में व्यक्तिवाचक पदों का कोई अर्थ नहीं होता। वे केवल निरर्थक पद ही होते हैं। यह हो सकता है कि जिस समय नामसंस्कार किया गया है उस समय कुछ भाव को विचार कर नाम रक्खा गया हो; किन्तु एक बार नाम रखने के पश्चात् वह विचार नहीं रहता। मान लो बचपन में किसी बालक ने कुछ वीरता का भाव प्रगट किया और लोगों ने उसको महावीर नाम से पुकारना शुरू किया। यदि वह बाद में वीर न रहा तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अपना नाम भी खो बैठा। नाम तो वही रहेगा चाहे वह वीर रहे या न रहे। इसलिये यह स्पष्ट है

---

1 Singular abstract terms 2. All proper names

करावें। मिल महोदय के शब्दों में निर्भावार्थ-बोधक पद वह है जो या तो गुणी को बतलावे या गुण को बतलावे। जैसे 'चौकोरपन' यह एक पद है जो निर्भावार्थ-बोधक है क्योंकि यह केवल गुण को ही बतलाता है, द्रव्य को नहीं। मिल महोदय के अनुसार व्यक्ति-वाचक पद भी निर्भावार्थ-बोधक हैं क्योंकि ये द्रव्य व्यक्तियों के ही बोधक होते हैं। जैसे राम, कृष्ण, मोहन इत्यादि। यहाँ निर्भावार्थ वाचक पद भ्रामक है। इसका अर्थ यह नहीं कि जिसमें भावार्थ हो ही नहीं किन्तु जिसमें या तो भावार्थ ही हो या द्रव्यार्थ ही हो किन्तु दोनों न हों। यहाँ पर भी निर्भावार्थ बोधक पद का लक्षण द्वारा बतलाया हुआ अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये शब्दार्थ नहीं।

अधोलिखित पद भावार्थ बोधक हैं —

(१) सब जातिवाचक पद[1] — चाहे वे द्रव्यवाचक हों या भाववाचक हों वे सब भावार्थ-बोधक होते हैं। जैसे गाय मनुष्य रूप, यथार्थता इत्यादि।

(२) सब सार्थक व्यक्तिवाचक पद — जितने सार्थक व्यक्तिवाचक पद हैं वे सब भावार्थबोधक होते हैं। जैसे सूर्य, भारत का प्रधान मंत्री, सर्वोच्च शिखर, सब से बड़ा नगर, पंजाब इत्यादि।

(३) एकवचन समुदायवाचक पद — एकवचन में समुदायवाचक पद भी भावार्थ-बोधक होते हैं। जैसे बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी-बोर्ड, इम्पीरियल पुस्तकालय कलकत्ता इत्यादि।

---

१ [1] All general terms. 2. All Significant proper terms. Singular Collective terms.

अधोलिखित पद निर्भावार्थ बोधक पद हैं :—

(१) एकवचन भाववाचक पद[1]—जैसे ऐक्यता, चौकोरपन, सत्यता, न्याय इत्यादि।

(२) सब व्यक्तिवाचक पद[2]—जैसे वर्धमान, शंकर, गंगा, कलकत्ता, बनारस इत्यादि।

व्यक्तिवाचक पद भावार्थ-बोधक है या नहीं—इस प्रश्न के विषय में तार्किकों में मतभेद है। मिल का मत है कि वे निर्भावार्थ-बोधक हैं तथा जेवन्स साहब का विचार है कि वे भावार्थ-बोधक हैं। यहाँ हम दोनों तार्किकों की दृष्टि बिन्दुओं का पर्यालोचन करते हैं।

मिल महोदय के अनुसार व्यक्तिवाचक पद भावार्थबोधक नहीं हैं। वे केवल उन व्यक्तियों का ही बोध कराते हैं जिनके लिये उनका प्रयोग किया गया है किन्तु इनसे किसी ऐसे गुण या गुणों से अभिप्राय नहीं है जो उन व्यक्तियों में पाये जाते हों। जब किसी बालक का 'प्रताप' नाम रखा जाता है या श्रीकृष्ण रखा जाता है तब वहाँ उन पुरुष सम्बन्धी गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है। ये नाम केवल संकेत मात्र हैं जिनसे उन व्यक्तियों का बोध हो जाता है। वास्तव में व्यक्तिवाचक पदों का कोई अर्थ नहीं होता। वे केवल निरर्थक पद ही होते हैं। यह हो सकता है कि जिस समय नामसंस्कार किया गया है उस समय कुछ भाव को विचार कर नाम रक्खा गया हो; किन्तु एक बार नाम रखने के पश्चात् वह विचार नहीं रहता। मान लो बचपन में किसी बालक ने कुछ वीरता का भाव प्रगट किया और लोगों ने उसको महावीर नाम से पुकारना शुरू किया। यदि वह बाद में वीर न रहा तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अपना नाम भी खो बैठा। नाम तो वही रहेगा चाहे वह वीर रहे या न रहे। इसलिये यह स्पष्ट है

1 Singular abstract terms 2. All proper names

कि नाम तो वस्तुओं के पहचानने के लिये लगा दिये जाते हैं वहाँ गुण वगैरह का कोई विचार नहीं होता।

जेवन्स महाशय मिल के विरुद्ध विचार रखते हुए कहते हैं कि सभी व्यक्तिवाचक पद वाचक होते हैं और उनका भावार्थ होता है। उनके अनुसार व्यक्तिवाचक पद व्यक्तियों का बोध कराते हैं तथा उनके विशेष लक्षण रूप पालनपन आदि को भी द्योतित करते हैं। जैसे हमारे देश का नाम भारतवर्ष है तो यह देश को भी बतलाता है तथा इसका नाम ऋषभ के पुत्र आदि चक्रवर्ती भरत के नाम से बना है या इसकी आर्य संस्कृति का प्रतीक है, उसका भी बोध कराता है। इसलिये जेवन्स के मन्तव्यानुसार मिल महोदय का मत गलत प्रतीत होता है। क्योंकि जो कोई व्यक्ति जब भारत का नाम लेता है तब वह एक प्रकार के ओज से परिपूर्ण हो जाता है, उसके स्मृति-पट पर भारत का अतीत अंकित हो जाता है और वह उस नाम से अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है। हम बनारस शब्द को ले सकते हैं। यद्यपि यह नगर इस पद से बोधित होता है और बनारस केवल व्यक्ति वाचक पद है; किन्तु इसका भावार्थ भी है अर्थात् वह यह नगर है जो 'बर्ना' और 'अस्सी' के बीच में बसा हुआ है। चाहे 'बना' और 'अस्सी' दोनों नाले कालक्रम से अपने स्थानों को बदल दें; किन्तु बनारस फिर भी बनारस ही कहलायगा और यह भावार्थ भी उस के लिये अवस्थित रहेगा।

इस प्रकार के दो प्रतिद्वन्द्वी प्रबल विचारों को देखते हुए कुछ तार्किकों ने मध्यम मार्ग निकाला है और वे कहते हैं कि यह प्रश्न तो शब्द विद्या (Philology) और मनोविज्ञान का है इसका तर्कशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका कहना यह है कि प्रथम तो किसी वस्तु का नामकरण केवल अर्थबोध के लिये किया जाता है। विशेष रूप से व्यक्तिवाचक शब्दों का तो व्यवहार केवल सांकेतिक होता है। हाँ

बाद में लोग उन व्यक्तियों के गुणों का भी सम्बन्ध जोड देते हैं। यह मन्तव्य राय महोदय का है। किन्तु कारवेथरीड साहब का कहना है कि सामान्य प्रयोग में व्यक्तिवाचक पद भावार्थहीन ही हो हैं क्योंकि प्रथम, तो जो अर्थ व्यक्तिवाचक पद में होता है वह स्थानीय और आकस्मिक होता है। जैसे बनारस, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि पद व्यक्तिवाचक हैं और उनके अर्थ भी स्थानीय और आकस्मिक हैं। दूसरे, जो विशेषताएँ होती हैं और जो व्यक्तियों में भेद डालती हैं, वे अनन्त होती हैं इसलिये उनके आधार पर जब तक कि उनकी पूर्ण सख्या न कर ली जाय तब तक व्यक्तियों में भेद करने के लिये या पहचानने के लिये वे निरर्थक होती हैं। इन असख्य विशेषताओं का गिनना भी तो असम्भव कार्य है। इसलिये व्यक्तिवाचक नामों का कोई ठीक भावार्थ नहीं होता।

हमारा विचार है सारा झगडा भावार्थ शब्द के अर्थ की स्पष्टता न होने के कारण है। यदि भावार्थ शब्द (Connotation) का पूरा पूरा अर्थ समझ लिया जाय तो कोई झगड़ा नहीं रहता। बहुधा तार्किक लोग भावार्थ शब्द को 'निर्देश' (Suggestion) के अर्थ में लेकर गड़बड़ पैदा कर देते हैं। भावार्थ तो वस्तु का निज अश होता है और वही उसके बोध कराने में हेतु होता है। किन्तु निर्देश वह है जो सिर्फ वस्तु के विषय में इत्तला या सूचना दे। सूचना मात्र से उसके गुणों का बोध नहीं हो सकता। इसलिये 'बनारस' शब्द कुछ व्यक्तियों को 'वर्ना' और 'अस्सी' के बीच बसी नगरी का बोध करा सकता है, लेकिन जो व्यक्ति यह नहीं जानता है वह केवल बनारस के संकेतमात्र से एक नगर मात्र को जानता है। उसके भावार्थ से उसको कोई प्रयोजन नहीं। यदि वर्ना और अस्सी दोनों नाले बनारस का साथ छोड़ दें तथापि बनारस बनारस ही रहेगा और लोग उसी नाम से उसका सकेत ग्रहण करते रहेंगे। जेवन्स और राय दोनों महाशय इस

अध्याय ४

१—विधेय-सम्बन्ध

विधेय-सम्बन्ध (Predicables) का सिद्धान्त अरस्तू के समय से चला आ रहा है। अरस्तू ने केवल ४ विधेय-सम्बन्ध स्थापित किये थे। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) लक्षण[1]
(२) पारिणामिक[2] गुण
(३) सामान्य[3] गुण
(४) आकस्मिक[4] गुण

किन्तु यह विभाजन अधिक उपयुक्त न देखकर पोर्फिरी (Porphyry) जो एक नवीन अफलातूनी दार्शनिक था, (२३३-३०४ ई) उसने ५ प्रकार के विधेय-सम्बन्ध निकाले जो तर्क की दृष्टि से बड़े उपयुक्त प्रतीत होते हैं। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) सामान्य[5] गुण
(२) उपसामान्य[6] गुण
(३) अन्यत्व[7] या व्यवच्छेदक गुण
(४) पारिणामिक[8] या भावार्थापन्न गुण
(५) आकस्मिक गुण

---

1. Definition. 2. Proprium. 3. Genus.
4. Accident. 5 Genus. 6. Species.
7 Differentia. 8. Proprium.

अब इनका विवेचन विधिपूर्वक किया जायगा। इनके विवेचन के पहले यह जान लिया जाय कि 'विधेय-सम्बन्ध क्या है?'

विधेय-सम्बन्ध (predicables) विधेय के भिन्न-भिन्न वर्गों के नाम हैं जिनका उद्देश्य के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। विधेय (predicate) वह है जो किसी उद्देश्य के बारे में विधि करे या निषेध करे और विधेय सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं जो विधेय के, उद्देश्य के साथ पाये जाते हैं। इसलिये—

विधेय, उद्देश्य का या तो
(१) सामान्य गुण
(२) या उपसामान्य गुण
(३) या अन्यत्व गुण
(४) या पारिणामिक गुण
(५) या आकस्मिक गुण
हो सकता है

इस अनुक्रमणिका में एक बात ध्यान देने योग्य है कि इन पंचविध विधेय सम्बन्धों में एकवचन पदों को विधेय बनाने के लिये कोई स्थान नहीं दिया गया है। जैसे, 'कृष्ण, कर्मवीर, वसुदेव का इकलौता पुत्र था' इस वाक्य में विधेय उपर्युक्त पाँचों विधेय में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्राचीन तर्क-शास्त्री एक वचनात्मक पदों को कभी भी विधेय नहीं मानते थे।

२—सामान्य गुण—उपसामान्य गुण

सामान्य-गुण और उप सामान्य गुण दोनों जाति के बोधक हैं। यह हो सकता है कि दोनों आपस में इस प्रकार सम्बन्धित हो कि एक का द्रव्यार्थ दूसरे से अधिक हो। उदाहरणार्थ, प्राणी शब्द का द्रव्यार्थ मनुष्य पद के द्रव्यार्थ से अधिक है। **जिस जाति का अधिक द्रव्यार्थ**

विषय में विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं होते; क्योंकि प्रायः व्यक्तिवाचक पद बिना किसी जाति या गुण की अपेक्षा के ही बोध कराते हैं। इसलिये मिश्र महोदय का ही मन्तव्य ठीक प्रतीत होता है कि व्यक्तिवाचक पदों का भावार्थ बिलकुल नहीं होता। कॉफ़ी (Coffey) महाशय भी इसी मत से सहमत हैं, वे लिखते हैं "कोई व्यक्ति किसी वस्तु या स्थान का नाम उसके गुणों का विचार कर कभी नहीं रखा करता, वे तो नाम आकस्मिक[1] ही हुआ करते हैं।" निष्कर्ष यह है तर्कशास्त्र में व्यक्तिवाचक पद निर्भावार्थ बोधक ही मानने चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ पद का क्या अर्थ है? क्या पद-संयोग्य शब्द वास्तव में पद कहलाने योग्य हैं? स्पष्ट करो।

शब्द और पद में क्या अन्तर है? क्या वे तर्कशास्त्र के अध्ययन के योग्य हैं? यदि हैं तो किस प्रकार?

३ निम्नलिखित की उदाहरण पूर्वक व्याख्या करो —

१—व्यक्तिवाचक नाम और व्यक्तिवाचक पद

२—निरपेक्ष और सापेक्षपद

३—भावार्थबोधक और निर्भावार्थबोधक

४—निषेधवाचक और अभाववाचक

४ इसका क्या अर्थ है "द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों परस्पर विपरीत दिशा में घटते और बढ़ते हैं" अंग्रेजी में इस सम्बन्ध का क्या नाम है? स्पष्ट रूप से समझाओ।

५. जाति और उपजाति के अर्थ का स्पष्ट करो। भावार्थ के तीन अभिप्राय कौन हैं? स्पष्ट करो।

---

1 Accidental.

६. द्रव्यार्थ में किन द्रव्य व्यक्तियों का और भावार्थ में किन गुणों का बोध होता है? उदाहरण देकर समझाओ।

७. निम्नलिखित पदों का तर्कशास्त्रीय परिचय दो—गोविन्द, सरलता, निपुण, विद्यालय, काशी-विश्वविद्यालय, ससार का सर्वोच्च शिखर, पजाब, अन्ध पुरुष, अश्व, प्रधान-मत्री, सिकन्दर महान।

८ क्या भाववाचक पदों के भी भावार्थ बोधक और निर्भावार्थ बोधक दो विभाग हो सकते हैं? ये व्यक्तिवाचक होते हैं या जातिवाचक?

९ विशेषण शब्द द्रव्यवाचक हैं या भाववाचक? स्पष्ट करो।

१० विचार और पद में क्या अन्तर है? उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करो।

११ द्रव्यार्थ और भावार्थ का आपस में क्या सम्बन्ध है? क्या ऐसे भी पद होते हैं जिनमें द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों पाए जाते हों? उदाहरण दो।

१२ पदों का वर्गीकरण करो और प्रत्येक की उदाहरणपूर्वक व्याख्या करो।

१३ समूहवाचक पदों में, उनके समूहात्मक प्रयोग और विभागात्मक प्रयोग से क्या अभिप्राय है? उदाहरण देकर समझाओ।

१४. क्या व्यक्तिवाचक पद निर्भावार्थबोधक ही होते हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

१५ भावार्थबोधक पद का लक्षण लिखकर यह बतलाओ कि कौन-कौन पद भावार्थबोधक होते हैं?

———

अध्याय ४

१—विधेय-सम्बन्ध

विधेय-सम्बन्ध (Predicables) का सिद्धान्त अरस्तू के समय से चला आ रहा है। अरस्तू ने केवल ४ विधेय-सम्बन्ध स्थापित किये थे। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) लक्षण[1]
(२) पारिणामिक गुण
(३) सामान्य[3] गुण
(४) आकस्मिक[4] गुण

किन्तु यह विभाजन अधिक उपयुक्त न देखकर पारफिरी (Porphyry) जो एक नवीन अफलातूनी दार्शनिक था, (२३३-३०४ ई०) उसने ५ प्रकार के विधेय-सम्बन्ध निकाले जो तर्क की दृष्टि से बड़े उपयुक्त प्रतीत होते हैं। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) सामान्य[5] गुण
(२) उपसामान्य[6] गुण
(३) अन्यत्व[7] या व्यवच्छेदक गुण
(४) पारिणामिक[8] या अवार्यापन्न गुण
(५) आकस्मिक गुण

---

1 Definition. 2. Proprium. 3. Genus.
4 Accident. 5 Genus. 6. Species.
7 Differentia. 8. Proprium.

अत्र इनका विवेचन विधिपूर्वक किया जायगा। इनके विवेचन के पहले यह जान लिया जाय कि 'विधेय-सम्बन्ध क्या है!'

विधेय-सम्बन्ध (predicables) विधेय के भिन्न-भिन्न वर्गों के नाम हैं जिनका उद्देश्य के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। विधेय (predicate) वह है जो किसी उद्देश्य के बारे में विधि करे या निषेध करे और विधेय सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं जो विधेय के, उद्देश्य के साथ पाये जाते हैं। इसलिये—

विधेय, उद्देश्य का या तो
(१) सामान्य गुण
(२) या उपसामान्य गुण
(३) या अन्यत्व गुण
(४) या पारिणामिक गुण
(५) या आकस्मिक गुण
हो सकता है

इस अनुक्रमणिका में एक बात ध्यान देने योग्य है कि इन पञ्चविध विधेय सम्बन्धों में एकवचन पदों को विधेय बनाने के लिये कोई स्थान नहीं दिया गया है। जैसे, 'कृष्ण, कर्मवीर, वसुदेव का इकलौता पुत्र था' इस वाक्य में विधेय उपर्युक्त पाँचों विधेय में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्राचीन तर्क-शास्त्री एक वचनात्मक पदों को कभी भी विधेय नहीं मानते थे।

२—सामान्य गुण—उपसामान्य गुण

सामान्य-गुण और उप सामान्य गुण दोनों जाति के बोधक हैं। यह हो सकता है कि दोनों आपस में इस प्रकार सम्बन्धित हो कि एक का द्रव्यार्थ दूसरे से अधिक हो। उदाहरणार्थ, प्राणी शब्द का द्रव्यार्थ मनुष्य पद के द्रव्यार्थ से अधिक है। **जिस जाति का अधिक द्रव्यार्थ-**

अध्याय ४

१—विधेय-सम्बन्ध

विधेय-सम्बन्ध (Predicables) का सिद्धान्त अरस्तू के समय से चला आ रहा है। अरस्तू ने केवल ४ विधेय-सम्बन्ध स्थापित किये थे। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) लक्षण[1]
(२) पारिणामिक[2] गुण
(३) सामान्य[3] गुण
(४) आकस्मिक[4] गुण

किन्तु यह विभाजन अधिक उपयुक्त न देखकर पोरफिरी (Porphyry) जो एक नवीन अफ़लातूनी दार्शनिक था, (२११ १ ४ई) उसने ५ प्रकार के विधेय-सम्बन्ध निकाले जो तर्क की दृष्टि से बड़े उपयुक्त प्रतीत होते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य[5] गुण
(२) उपसामान्य[6] गुण
(३) अन्यत्व या व्यवच्छेदक गुण
(४) पारिणामिक[8] या मायार्थापन्न गुण
(५) आकस्मिक गुण

---

1 Definition. 2. Proprium. 3. Genus.
4 Accident. 5 Genus. 6. Species.
7 Differentia. 8. Proprium.

किसी अन्य का हो ही न सके। यह महासामान्य है क्योंकि इससे अधिक विस्तारवाला सामान्य होता ही नहीं। इसी हेतु से कोई महा-सामान्य उपसामान्य नहीं बन सकता। तथा कोई पद अत्यल्प या अन्त्य सामान्य (Infima Species) **तब कहलाता है जब इसका विस्तार सबसे छोटा होता है** अर्थात् इससे न्यूनतम विस्तारवाला सामान्य सम्भव ही नहीं। यह अत्यल्प सामान्य है क्योंकि इससे अल्पतम विस्तार किसी का नहीं पाया जाता। अत्यल्प सामान्य पुनः उपसा-मान्यों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इसका विभाजन केवल विशेष या व्यक्तियों में हो सकता है।

महासामान्य और अत्यल्प सामान्य के बीच में जितने सामान्य हैं वे सब **उपसामान्य** (Species) या **आधीन-सामान्य** (Sub-altern Genera) कहे जाते हैं। दो या उनसे अधिक जातियाँ, जो एक ही सामान्य के अन्दर उपसामान्य बनती हैं वे आपस में सहभू या **सगोत्री उपसामान्य** (Cognate Species) कहलाते हैं। तथा प्रत्येक पद के जो सबसे नजदीक सामान्य होता है जिसका वह उपसामान्य कहलाता है, उसे **आसन्न-सामान्य** (Proximate Genus) कहते हैं। इस प्रकार हम सामान्य को किसी उद्देश्य का विधेय बना सकते हैं, जैसे 'मनुष्य प्राणी है' यहाँ प्राणी सामान्य है और मनुष्य उसका उपसामान्य है।

२—अन्यत्व गुण

अन्यत्व या व्यवच्छेदक (Differentia) **गुण, वह गुण या गुणों का समूह है जिसके द्वारा उपसामान्य, उसी सामान्य से सम्बन्ध रखता हुआ दूसरे उपसामान्य से भेद को प्राप्त होता है।** जैसे, मनुष्य में मुख्य दो गुण हैं, जीवत्व और समझदारी

होता है उसे सामान्य या जाति (Genus) कहते हैं तथा इसीसे सम्बन्धित जो इससे कम द्रव्यार्थवाली जाति होती है उसे उप सामान्य या उपजाति (Species) कहते हैं। इसलिये 'प्राणी' मनुष्य के सम्बन्ध में सामान्य कहलायगा और 'मनुष्य' उपसामान्य कहलायगा। सामान्य और उपसामान्य दोनों परस्पर सम्बन्धित होते हैं और एक के कहने से दूसरा अपने आप आ ही जाता है। यह निश्चित है कि सामान्य के बिना उपसामान्य का कोई धर्म नहीं होता और न उपसामान्य का सामान्य के बिना कोई धर्म होता है। इससे प्रतीत होता है कि यही जाति उससे कम द्रव्यार्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा सामान्य हो सकती है और अपने से अधिक द्रव्यार्थवाली जाति का यह उपसामान्य हो सकती है। जैसे, 'प्राणी', कम द्रव्यार्थवाली मनुष्य जाति की अपेक्षा सामान्य है तथा जीवित सत्ता की अपेक्षा, उपसामान्य है क्योंकि प्राणी की अपेक्षा जीवित सत्ता का द्रव्यार्थ अत्यधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि द्रव्यार्थ की दृष्टि से सामान्य उपसामान्य को समाविष्ट कर लेता है और भावार्थ की दृष्टि से उपसामान्य सामान्य का समाविष्ट कर लेता है। इस प्रकार निम्नलिखित तालिका से सामान्य और उपसामान्य का अर्थ स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

जीवित सत्ता
- प्राणी
  - मनुष्य
  - दूसरे प्रकार के प्राणी कुत्ता बिल्ली इत्यादि।
- प्राणियों से अतिरिक्त पौधे वगैरह
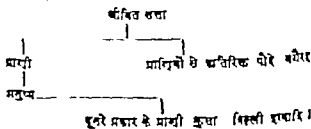
परम महासामान्य (Summum Genus) तब कहलाता है जब उसका द्रव्यार्थ इतना विस्तृत हो कि उससे अधिक द्रव्यार्थ

किसी अन्य का हो ही न सके। यह महासामान्य है क्योंकि इससे अधिक विस्तारवाला सामान्य होता ही नहीं। इसी हेतु से कोई महासामान्य उपसामान्य नहीं बन सकता। तथा कोई पद अत्यल्प या अन्त्य सामान्य (Infima Species) तब कहलाता है जब इसका विस्तार सबसे छोटा होता है अर्थात् इससे न्यूनतम विस्तारवाला सामान्य सम्भव ही नहीं। यह अत्यल्प सामान्य है क्योंकि इससे अल्पतम विस्तार किसी का नहीं पाया जाता। अत्यल्प सामान्य पुनः उपसामान्यों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इसका विभाजन केवल विशेष या व्यक्तियों में हो सकता है।

महासामान्य और अत्यल्प सामान्य के बीच में जितने सामान्य हैं वे सब उपसामान्य (Species) या आधीन-सामान्य (Subaltern Genera) कहे जाते हैं। दो या उनसे अधिक जातियाँ, जो एक ही सामान्य के अन्दर उपसामान्य बनती हैं वे आपस में सहभू या सगोत्री उपसामान्य (Cognate Species) कहलाते हैं। तथा प्रत्येक पद के जो सबसे नजदीक सामान्य होता है जिसका वह उपसामान्य कहलाता है, उसे आसन्न-सामान्य (Proximate Genus) कहते हैं। इस प्रकार हम सामान्य को किसी उद्देश्य का विधेय बना सकते हैं, जैसे 'मनुष्य प्राणी है' यहाँ प्राणी सामान्य है और मनुष्य उसका उपसामान्य है।

३—अन्यत्व गुण

अन्यत्व या व्यवच्छेदक (Differentia) गुण, वह गुण या गुणों का समूह है जिसके द्वारा उपसामान्य, उसी सामान्य से सम्बन्ध रखता हुआ दूसरे उपसामान्य से भेद को प्राप्त होता है। जैसे, मनुष्य में मुख्य दो गुण हैं; जीवत्व और समझदारी

इनमें समझदारी अन्यत्व है क्योंकि इसी असाधारण गुण के कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से विशिष्ट प्राणी समझा जाता है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि अन्यत्व या व्यवच्छेदक गुण भावार्थ का अंश होता है। यह हम देख चुके हैं कि भावार्थ की दृष्टि से उपसामान्य, सामान्य से अधिक विस्तारवाला होता है और उसी सामान्य के अन्दर इत्यार्थ की दृष्टि से वह अन्तर्भूत रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्यत्व या व्यवच्छेदक धर्म उपसामान्य के भावार्थ से कुछ अधिक गुण है जो आसन्न सामान्य में पाया जाता है। इसलिये, सामान्य का भावार्थ + अन्यत्व = उपसामान्य का भावार्थ। उदाहरणार्थ जीवित प्राणी का भावार्थ है उसमें यदि समझदारी, जो मनुष्य का अन्यत्व है, जोड़ दिया जाय तो ये दोनों मिलकर मनुष्य का भावार्थ बनावेंगे—अर्थात् मनुष्य का भावार्थ होगा जीवन और समझदारी।

४—भावार्थापन्न गुण

भावार्थापन्न या पारिणामिक (Proprium) वह गुण है जो भावार्थ का अंश तो नहीं है किन्तु जो आवश्यक रूप से भावार्थ से या तो कारण से कार्य की भाँति या किसी हेतु से परिणाम की तरह फलित होता है। प्रथम तो भावार्थापन्न भावार्थ का अंश नहीं है दूसरे यह उससे फलित होता है चाहे वह कारण से कार्य के रूप में उत्पन्न हो चाहे हेतु से परिणाम के रूप में उत्पन्न हो। उदाहरणार्थ 'मनुष्य न्याय प्रिय प्राणी है' इस वाक्य में मनुष्य की न्याय प्रियता उसकी समझदारी से फलित होती है क्योंकि जो समझदार होगा वह अवश्य ही न्याय-प्रिय होगा। यहाँ समझदारी भावार्थ का अंश है और न्याय-प्रियता उसका परिणाम है। इसलिये भावार्थापन्न भावार्थ से फलित होता है। इसी प्रकार 'एक त्रिभुज के अन्दरूनी तीन

कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं' इसमें भी यह गुण कि तीन कोण दो समकोण के बराबर होते हैं, त्रिभुज की तीन भुजाओं के होने से फलित होता है। त्रिभुज की 'तीन भुजाओं का होना' उसके भावार्थ का अंश है और उससे तीन कोणों का दो समकोण के 'बराबर होना' भावार्थापन्न निकलता है।

भावार्थापन्न सामान्यगत भी हो सकता है और उप-सामान्यगत भी। यदि यह सामान्य के भावार्थ से फलित होता है तब तो यह **सामान्यगत (General Property) कहलाता है और यदि उपसामान्य के भावार्थ से निकलता है तो उप-सामान्यगत (Specific Property) कहलाता है।** उदाहरणार्थ, एक समद्विबाहु[1] त्रिभुज के तीन कोण दो समकोण के बराबर होते हैं। इसमें भावार्थापन्न—'तीन कोण दो समकोण के बराबर होते हैं'— त्रिभुज के भावार्थ से फलित होता है। इस लिये इसे सामान्यगत भावार्थापन्न कहेंगे। यदि हम कहें 'एक समद्विबाहु त्रिभुज के दो कोण बराबर होते हैं। यहाँ, भावार्थापन्न—'दो समकोण का बराबर होना'—उप-सामान्यगत[2] है क्योंकि यह त्रिभुज से न निकलकर उसके एक भेद या उपसामान्य, समद्विबाहु त्रिभुज से निकला है।

५—आकस्मिक (गुण)

आकस्मिक गुण (Accidens) एक गुण है जो न तो भावार्थ का अंश है और न भावार्थ से फलित होता है। आकस्मिक गुण की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, यह भावार्थ का अंश नहीं है, अतः यह अन्यत्व या व्यवच्छेदक गुण नहीं हो सकता। द्वितीय, यह

---

1 Isosceles triangle 2 Species

इनमें समझदारी मनुष्यत्व है क्योंकि इसी असाधारण गुण के कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से विशिष्ट प्राणी समझा जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सम्यत्व या व्यवच्छेदक गुण भावार्थ का अंश होता है। यह हम देख चुके हैं कि भावार्थ की दृष्टि से उप-सामान्य, सामान्य से अधिक विस्तारवाला होता है और उसी सामान्य के अन्दर द्रव्यार्थ की दृष्टि से वह अन्तर्भूत रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भ-वत्व या व्यवच्छेदक धर्म उपसामान्य के भावार्थ से कुछ अधिक गुण है जो आसन्न सामान्य में पाया जाता है। इसलिये, सामान्य का भावार्थ + सम्यत्व = उपसामान्य का भावार्थ। उदाहरणार्थ जीवत्व प्राणी का भावार्थ है उसमें यदि समझदारी, जो मनुष्य का सम्यत्व है जोड़ दिया जाए तो ये दोनों मिलकर मनुष्य का भावार्थ बनावेंगे—अर्थात् मनुष्य का भावार्थ होगा जीवत्व और समझदारी।

४—भावार्थापेक्ष गुण

भावार्थापेक्ष या पारिणामिक (Proprium) वह गुण है जो भावार्थ का अंश तो नहीं है किन्तु जो आवश्यक रूप से भावार्थ से या तो कारण से कार्य की भाँति या किसी हेतु से परिणाम की तरह फलित होता है। प्रथम तो भावार्थापेक्ष भावार्थ का अंश नहीं है दूसरे वह उससे फलित होता है चाहे वह कारण से कार्य के रूप में उत्पन्न हो चाहे हेतु से परिणाम के रूप में उत्पन्न हो। उदाहरणार्थ 'मनुष्य न्याय-प्रिय प्राणी है' इस वाक्य में मनुष्य की न्याय-प्रियता उसकी समझदारी से फलित होती है क्योंकि जो समझदार होगा वह अवश्य ही न्याय-प्रिय होगा। यहाँ समझदारी भावार्थ का अंश है और न्याय-प्रियता उसका परिणाम है। इसलिये भावार्थापेक्ष भावार्थ से फलित होता है। इसी प्रकार एक त्रिभुज के सम्बन्धी तीन

जाय। जैसे गायों में शुभ्रता[1]। यह गुण बहुत सी गायों में पाया जाता है, किन्तु सबमे नहीं।

(३) व्यक्तिगत-अभिन्न-आकस्मिक गुण (An Inseparable Accidens of an Individual) वह है जो एक व्यक्ति में सर्वदा पाया जाता है और कभी बदल नहीं सकता। जैसे, किसी मनुष्य की जन्म तिथि और स्थान। यह गुण उस व्यक्ति में जब तक वह जीवित है तब तक रहेगा और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

(४) व्यक्तिगत-भिन्न-आकस्मिक गुण (A Separable Accidens of an Indivdual) वह है जो किसी व्यक्ति में कभी पाया जाता है और कभी नही पाया जाता। जैसे, मनुष्य की वेशभूषा, व्यापार, व्यवहार, कार्य इत्यादि। ये गुण मनुष्य में समय और देश की अपेक्षा बदलते रहते हैं। इनमें स्थिरता नहीं होती। इसलिये इन्हें भिन्न कहा गया है।

६—पोरफिरी महोदय का विधेय-संबध-वृक्ष

पोरफिरी (Porphyry) (२३३-३०४ ई०) एक नवीन अफलातूनी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं। आपकी तर्क-शास्त्र मे भी रुचि थी। यह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विधेय-सम्बन्ध के सिद्धान्त का, रेमस (Ramus) नामक एक प्रसिद्ध तार्किक के नाम से, एक सुनियमित वृक्ष बनाया जिसे **रेमियन वृक्ष** (Ramian Tree) कहते हैं। रेमस १६वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। उनकी तालिका इस प्रकार है:—

---

1 Whiteness

मात्रार्थ से फलित भी नहीं होता, अतः यह मात्रार्थापन्न भी नहीं हो सकता। अर्थात् ये सब गुण आकस्मिक कहलाते हैं जो न तो मात्रार्थ हैं और न मात्रार्थापन्न हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आकस्मिक गुण के किसी जाति या व्यक्ति से अलग कर देने पर उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। यदि किसी जाति या व्यक्ति का मात्रार्थापन्न या अन्यतम गुण पृथक् कर दिया जाय तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा।

आकस्मिक गुण जैसा अवसर हो सामान्य से या व्यक्ति (विशेष) से सम्बन्ध रख सकता है तथा यह सामान्य या व्यक्ति से भिन्न या अभिन्न भी हो सकता है। इस प्रकार आकस्मिक गुण के ४ भेद हो जाते हैं:—

(१) सामान्यगत-अभिन्न आकस्मिक गुण
(२) सामान्यगत-भिन्न-आकस्मिक गुण
(३) व्यक्तिगत अभिन्न आकस्मिक गुण
(४) व्यक्तिगत-भिन्न आकस्मिक गुण

(१) सामान्यगत अभिन्न आकस्मिक गुण (An Inseparable Accidens of a Class) वह है जो सामान्य या जाति के प्रत्येक व्यक्ति में पाया जावे। जैसे, कौवों में कालापन। जहाँ तक हमारा अनुभव है प्रत्येक कौवा काला होता है। किन्तु यह ऐसा गुण है जिसे न तो मात्रार्थ का अंश ही कहा जा सकता है और न इसको मात्रार्थापन्न ही कह सकते हैं।

(२) सामान्यगत भिन्न आकस्मिक गुण (A Separable Accidens of a Class) वह है जो किसी सामान्य या जाति के कुछ व्यक्तियों में पाया जाय, किन्तु सब में न पाया

जाय। जैसे गायों में शुभ्रता[1]। यह गुण बहुत सी गायों में पाया जाता है, किन्तु सबमें नहीं।

(३) व्यक्तिगत-अभिन्न-आकस्मिक गुण (An Inseparable Accidens of an Individual) **वह है जो एक व्यक्ति में सर्वदा पाया जाता है और कभी बदल नहीं सकता।** जैसे, किसी मनुष्य की जन्म तिथि और स्थान। यह गुण उस व्यक्ति मे जब तक वह जीवित है तब तक रहेगा और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

(४) व्यक्तिगत-भिन्न-आकस्मिक गुण (A Separable Accidens of an Indivdual) **वह है जो किसी व्यक्ति में कभी पाया जाता है और कभी नहीं पाया जाता।** जैसे, मनुष्य की वेशभूषा, व्यापार, व्यवहार, कार्य इत्यादि। ये गुण मनुष्य में समय और देश की अपेक्षा बदलते रहते हैं। इनमें स्थिरता नहीं होती। इसलिये इन्हें भिन्न कहा गया है।

६—पोरफिरी महोदय का विधेय-संबध-वृत्त

पोरफिरी (Porphyry) (२३३-३०४ ई०) एक नवीन अफलातूनी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं। आपकी तर्क-शास्त्र में भी रुचि थी। यह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विधेय-सम्बन्ध के सिद्धान्त का, रेमस (Ramus) नामक एक प्रसिद्ध तार्किक के नाम से, एक सुनियमित वृत्त बनाया जिसे **रेमियन वृत्त** (Ramian Tree) कहते हैं। रेमस १६वीं शताब्दी मे उत्पन्न हुए थे। उनकी तालिका इस प्रकार है.—

---

1 Whiteness

पदार्थ (Substance)

शारीरिक (Corporeal) अशारीरिक (Incorporeal)

शरीर (Body)

जीवित (Animate) अजीवित (Inanimate)

प्राणी (Living being)

बुद्धिमान (Sensible) अबुद्धिमान (Insensible)

जीव (Animal)

समझदार (Rational) नासमझदार (Irrational)

मनुष्य (man)

गौतम शंकर नागार्जुन सुकरात सिद्धसेन अरस्तू

इस तालिका में 'पदार्थ' महासामान्य[1] है। मनुष्य अत्यल्प या अन्त्य सामान्य[2] है। क्योंकि इस अन्त्य-सामान्य का विभाग व्यक्तियों में किया गया है जैसे गौतम शंकर नागार्जुन, सुकरात सिद्धसेन अरस्तू इत्यादि। मध्यवर्ती सामान्य—शरीर, प्राणी, जीव मनुष्य, मध्यवर्ती-सामान्य[3] हैं तथा ये उप-सामान्य भी कहलाते हैं यदि उनका

---

1 Summum Genus 2. Infima Species
3. Subaltern Genera.

विचार उपरिवर्ती सामान्यों के साथ किया जाय। शारीरिक, जीवित, बुद्धिमत्ता, समझदारी ये गुण उनके अन्यत्व को बनाते हैं। इन्हीं असाधारण गुणों के कारण उनका पार्थक्य किया जाता है तथा इन्हीं के आधार पर हम उप सामान्य को सामान्य से पृथक् कर देते हैं। इसका लक्षण बनाने में बड़ा उपयोग होता है जिसका आगे के अध्याय में विचार किया जायगा।

अभ्यास प्रश्न

(१) विधेय-सम्बन्ध किन्हें कहते हैं? प्रत्येक का लक्षण उदाहरण-पूर्वक लिखो।

(२) विधेय सम्बन्धों का लक्षण लिखकर उनका परस्पर सम्बन्ध बतलाओ।

(३) विधेय सम्बन्धों से तुम क्या समझते हो? विधेय और विधेय-सम्बन्धों में क्या अन्तर है? स्पष्ट विवेचन करो।

(४) सामान्य और उप सामान्य में क्या सम्बन्ध है? महा-सामान्य और अत्यल्प सामान्य के लक्षण लिखकर स्पष्ट करो कि अत्यल्प सामान्य का विभाजन उप सामान्यों मे नहीं हो सकता।

(५) अन्यत्व, भावार्थापन्न और आकस्मिक गुणों में क्या अन्तर है? 'मनुष्य' के तीनों गुण बतलाओ।

(६) भावार्थापन्न और आकस्मिक गुणों के उदाहरण-सहित लक्षण लिखकर निम्नलिखित में अन्तर बतलाओ —

(१) जातिगत-भावार्थापन्न और उपजातिगत भावार्थापन्न।

(२) अभिन्न-आकस्मिक गुण और भिन्न-आकस्मिक गुण।

(७) पदों के ऐसे उदाहरण दो जो आपस में निम्नलिखित सम्बन्धों में दिखलाए जा सकें —

(१) सामान्य और उपसामान्य

(२) उप-सामान्य और मात्राभाव
(३) उप-सामान्य और आकस्मिक गुण

८) निम्नलिखित पर अपना समालोचनात्मक उत्तर दो :—
"सामान्य उप-सामान्य का अंश है और उप-सामान्य सामान्य का अंश है"।

(६) विधेय-सम्बन्धी का लक्षण लिखकर यह बतलाओ कि इनका लक्षण और वर्णन में अत्यधिक उपयोग किया जाता है।

(१०) निम्नलिखित वाक्यों में विधेय, किन विधेय सम्बन्धी को बतलाते हैं ?

(क) मनुष्य भी प्राणी हैं।
(ख) कौवे काले होते हैं।
(ग) तर्कशास्त्र मस्तिष्क का व्यायाम है।
(घ) ज्ञान शक्ति है।
(ङ) शेर शिकारी जन्तु है।
(च) रामचंद्र १४ मार्च को पैदा हुआ था।
(छ) वन के सब कोण बराबर होते हैं।
(ज) मनुष्य हंसनेवाला जन्तु है।
(झ) घुणा पाशव् पशु है।
(ञ) सुकरात दार्शनिक था।

अध्याय ५

१—लक्षण का स्वरूप

पद का स्वरूप या लक्षण (Definition) न्यायशास्त्र मे अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि लक्षण के बिना पद की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। जब उसका लक्षण निश्चित हो जाता है तब फिर उसके स्वभाव को समझने मे बिलकुल कष्ट नहीं होता। इसलिये सर्वप्रथम लक्षण का लक्षण या स्वरूप निश्चित करना चाहिये। **लक्षण (Definition) पद के सम्पूर्ण भावार्थ[1] का स्पष्ट कथन करता है।** भावार्थ, किसी पद के सामान्य और आवश्यक गुणों को बतलाता है। इस लिये लक्षण का अर्थ है कि उस पद के सम्पूर्ण भावार्थ का कथन करना। लक्षण का सुप्रसिद्ध नियम यह है कि लक्षण **"सर्वदा सामान्य के साथ-साथ उसके अन्यत्व का उल्लेख करने से बनाया जाता है"**, अर्थात् किसी पद का लक्षण करते समय सर्वप्रथम उसके सामान्य धर्म का उल्लेख करना चाहिये और साथ-साथ अन्यत्व या असाधारण गुण का भी कथन करना चाहिये, बस, उसका लक्षण ठीक बन जायगा। केवल सामान्य गुण या असाधारण गुणों का कथन करने मात्र से लक्षण नहीं बन जाता। उदाहरणार्थ, यदि हम मनुष्य का लक्षण करना चाहते हैं तो हमें वह इस प्रकार करना होगा:— 'मनुष्य उसे कहते हैं जो समझदार प्राणी हो'। इस लक्षण में जीव तो भावार्थ में आसन्न-सामान्य है तथा समझदारी, उसका अन्यत्व या असाधारण गुण है जिसके कारण उसका अन्य प्राणियों से भेद

---

1 Connotation

किया जाता है। यह अन्यत्व गुण सामान्य गुण के अन्दर अन्तर्भूत होता है। इसलिये भावार्थ का अर्थ है आसन्न-सामान्य और अन्यत्व का अर्थ है असाधारण गुण जो उसका अन्य उपसामान्यों से पृथक करता है। पद का लक्षण करते समय हमें दोनों का उल्लेख करना पड़ता है तभी हमारा भावार्थ पूर्ण होता है और पूर्ण भावार्थ का कथन करना ही लक्षण का लक्षण है। इसी प्रकार जब हम त्रिभुज का लक्षण करते हैं तब उसका तीन भुजाओं का होना आवश्यक धर्म समझा जाता है और यह एक समतल क्षेत्र है यह केवल उसके सामान्य का उल्लेख है। इन दोनों को मिलाकर त्रिभुज का लक्षण बनकर तैयार हो जाता है अर्थात् 'त्रिभुज वह समतल क्षेत्र है जो तीन सरल भुजाओं से घिरा हो'।

२—लक्षण और वर्णन का भेद

तार्किक लोग लक्षण (Definition) को वर्णन (Description) से सर्वथा भिन्न मानते हैं। वास्तव में गुण तीन प्रकार के होते हैं—(१) भावार्थ गुण (२) भावार्थापन्न गुण तथा (३) आकस्मिक गुण। इनका उल्लेख गत अध्याय में किया जा चुका है इसलिये उनको यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं। अब यदि हम पूर्ण भावार्थ का स्पष्ट कथन करें तो हमें लक्षण मिल जाता है और यदि उसके साथ-साथ भावार्थापन्न और आकस्मिक गुणों का कथन कर दें तो हमें वर्णन (Description) मिलता है। अफ्लातून ने मनुष्य का वर्णन इस प्रकार किया है कि वह एक पर[1] रहित द्विपाद जन्तु है। यह वर्णन असाधारण गुणों को लेकर नहीं है। यहाँ केवल मनुष्य के केवल भावार्थापन्न या आकस्मिक गुणों का ही वर्णन कर दिया गया है और यह वर्णनमात्र है। कभी-कभी वर्णन में भावार्थ का अंश भी सम्मिलित रहता है जैसे मनुष्य एक जीव है जो बोलता

---

1 Feather

है, खाता है, चलता है, फिरता है इत्यादि'। उसी प्रकार 'बिल्ली एक जानवर है जो शेर के समान होती है लेकिन उसका कद छोटा होता है, वह इतनी भयानक नहीं होती, जितना शेर'। वर्णन का केवल यह अभिप्राय है कि किसी वस्तु का बाह्य आकार, आदत वगैरह बतला दिये जायँ, जिससे लोग उसे पहचान सकें। वर्णन का मुख्य उद्देश्य वस्तु या पद को पहचानना मात्र है, उसके असाधारण गुणों के ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं। फिर भी निम्नलिखित भेदसूचक बातें दोनों के बीच में ध्यान देने योग्य हैं:—

(क) लक्षण संपूर्ण भावार्थ का कथन करता है। वर्णन इसके अतिरिक्त भावार्थोपन्न और आकस्मिक गुणों का भी कथन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि सभी वर्णन एक समान नहीं होते। जितने अधिक गुणों का कथन किया जायगा उतना ही अधिक उपयोगी वर्णन होगा और उतनी ही जल्दी उस पदार्थ का निर्धारण हो सकेगा।

(ख) लक्षण वैज्ञानिक ढग से किया जाता है तथा वर्णन लौकिकजन के लिये सहज में वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से किया जाता है (ग) लक्षण में, हम अपने विचारों को किसी वस्तु के बारे में स्पष्ट, असाधारण बनाना चाहते हैं, किन्तु वर्णन में केवल यही विचार होता है कि किसी प्रकार एक वस्तु मामूली तौर से पहचानने में आ जाय।

(ग) पद का वर्णन नहीं होता। हम पद का लक्षण बनाते हैं तथा एक वस्तु का वर्णन करते हैं जिसका पद, नाम होता है।

(घ) लक्षण का अर्थ सम्पूर्ण भावार्थ का प्रतिपादन करना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन पदों का भावार्थ नहीं होता उनका लक्षण नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार के पदों का केवल वर्णन हो सकता है।

३—लक्षण और वर्णन का विधेय-सम्बन्धों से सम्बन्ध

लक्षण के लक्षण तथा वर्णन के लक्षण से यह सर्वथा स्पष्ट हो गया कि इन दोनों का विधेय-सम्बन्धों से अत्यधिक सम्बन्ध है। वर्णन हो या लक्षण हो, दोनों में विधेय सम्बन्धों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। लक्षण के बनाने में सामान्य और अन्यतम का उल्लेख आवश्यक है तथा वर्णन में भावार्थ के अंश के अतिरिक्त भावार्थोत्पन्न तथा आकस्मिक गुणों का भी उल्लेख होना चाहिये।

४—लक्षण के नियम तथा उनके भंग करने से उत्पन्न होनेवाले दोष[1]

यदि हम लक्षण के लक्षण पर अच्छी तरह विचार करें तो उससे लक्षण के सम्बन्ध में चार नियम बनाए जा सकते हैं। वे निम्न लिखित हैं—

नियम (१) लक्षण में सम्पूर्ण भावार्थ का कथन होना चाहिये न उससे अधिक और न कम।

लक्षण-पद का भावार्थ, उसके सामान्य और असाधारण गुणों से बनाया जाता है। इसलिये जो गुण अनावश्यक हैं उनका लक्षण में उल्लेख नहीं करना चाहिये। हमें सामान्य गुणों का भी उल्लेख नहीं करना चाहिये यदि वे आवश्यक न हों। उदाहरणार्थ यदि हमें मनुष्य का लक्षण बनाना है तो मनुष्य पद के भावार्थ और समझदारी ये दो गुण तो आवश्यक हैं, अतः इनका ही उल्लेख करना पर्याप्त है; अन्य सामान्य या अनावश्यक गुणों का प्रतिपादन करना सर्वथा निरर्थक है। इसी प्रकार त्रिभुज के लक्षण करते समय, (१) समतल क्षेत्र, तथा (२) तीन भुजाओं से बँधा हुआ होना, इतना ही कहना पर्याप्त है। यदि हम इस नियम का पालन न करेंगे तो हमारा लक्षण, निरर्थक

1 Fallacies.

भावार्थापन्न, अव्याप्त[1], अतिव्याप्त[2] आदि दोषों से दूषित हो जायगा।

मान लीजिये हम लक्षण करते समय किसी लक्ष्य पद के भावार्थ से अधिक कथन करते हैं तो अधिक गुण या तो भावार्थापन्न होगा या अभिन्न आकस्मिक गुण होगा या भिन्न आकस्मिक गुण होगा। यदि वह अधिक गुण, भावार्थापन्न है तो लक्षण निरर्थक (Redundant) होगा। जैसे, त्रिभुज का लक्षण—यह वह समतल क्षेत्र है जो तीन भुजाओं से घिरा हुआ हो और जिसके अन्दरूनी कोण मिलकर दो समकोण के बराबर हों। यहाँ 'तीन कोणों का दो समकोणों के बराबर होना' निरर्थक है क्योंकि वह त्रिभुज का आवश्यक गुण नहीं है। मनुष्य का लक्षण—यह वह प्राणी है जो समझदार या विवेकशील हो तथा जो न्याय को पसन्द करता हो। यहाँ पर भी 'न्याय का पसन्द करना' निरर्थक प्रतीत होता है।

यदि अधिक गुण अभिन्न आकस्मिक गुण हो तो हमारा लक्षण आकस्मिक दोष से दुष्ट कहलायगा। जैसे, मनुष्य हँसनेवाला प्राणी है। इस लक्षण में 'हँसनेवाला' आकस्मिक गुण है इसलिये इसे आकस्मिक (Accidental) दोष से दुष्ट लक्षण कहते हैं। कुत्ता पालतू जानवर है, सुवर्ण कीमती द्रव्य है, स्त्री अल्प समझवाला प्राणी है, इत्यादि लक्षण आकस्मिक दोष से युक्त लक्षण हैं।

यदि अधिक गुण भिन्न-आकस्मिक-गुण हो तो वह लक्षण सकुचित (Too narrow) या अव्याप्त कहलायगा। जैसे, मनुष्य पठित समझदार प्राणी है। यहाँ सारे मनुष्य तो पठित नहीं होते, कुछ ही

---

(१) अव्याप्त वह दुष्ट लक्षण है जो लक्ष्य के एक देश में रहता है।

(२) अतिव्याप्त वह दुष्ट लक्षण है जो लक्ष्य को छोड़कर अलक्ष्य में भी चला जाता है।

३—लक्षण और वर्णन का विधेय-सम्बन्धों से सम्बन्ध

लक्षण के लक्षण तथा वर्णन के लक्षण से यह सर्वथा स्पष्ट हो गया कि इन दोनों का विधेय-सम्बन्धों से अत्यधिक सम्बन्ध है। वर्णन हो या लक्षण हो, दोनों में विधेय सम्बन्धों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। लक्षण के बनाने में सामान्य और अन्यतत्व का उल्लेख आवश्यक है तथा वर्णन में भावार्थ के अंश के अतिरिक्त भावार्थापन्न तथा आकस्मिक गुणों का भी उल्लेख होना चाहिये।

४—लक्षण के नियम तथा उनके भंग करने से उत्पन्न होनेवाले दोष[1]

यदि हम लक्षण के लक्षण पर अच्छी तरह विचार करें तो उससे लक्षण के सम्बन्ध में चार नियम बनाए जा सकते हैं। वे निम्नलिखित हैं —

नियम (१) लक्षण में सम्पूर्ण भावार्थ का कथन होना चाहिये न उससे अधिक और न कम।

लक्षण-पद का भावार्थ, उसके सामान्य और असाधारण गुणों से बनाया जाता है। इसलिये जो गुण अनावश्यक हैं उनका लक्षण में उल्लेख नहीं करना चाहिये। हमें सामान्य गुणों का भी उल्लेख नहीं करना चाहिये यदि वे आवश्यक न हों। उदाहरणार्थ, यदि हमें मनुष्य का लक्षण बनाना है तो मनुष्य पद के प्राणित्व और समझदारी ये दो गुण तो आवश्यक हैं, अतः इनका ही उल्लेख करना पर्याप्त है, अन्य सामान्य या अनावश्यक गुणों का प्रतिपादन करना सर्वथा निरर्थक है। इसी प्रकार त्रिभुज के लक्षण करते समय, (१) समतल क्षेत्र, तथा (२) तीन भुजाओं से घिरा हुआ होना, इतना ही कहना पर्याप्त है। यदि हम इस नियम का पालन न करेंगे तो हमारा लक्षण, निरर्थक

---

1 Fallacies.

नियम ३—लक्षण केवल पर्यायवाची[1] भाषा में नहीं होना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार का लक्षण आवश्यक गुणों का कथन न करके केवल समानार्थक शब्द विधेय के रूप में रखता है जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं। इस नियम के न पालने से समानार्थक दोष (Synonymous) या चक्रक दोष (Circulus in definiendo) होता है। जैसे 'सत्य वह है जो ऋत् हो, मनुष्य एक मानव है, आकर्षण जड पदार्थों की सर्वव्यापक शक्ति है, जज वह है जो न्याय करता हो' ये सब लक्षण समानार्थक हैं। इनको चक्रक दोषयुक्त भी कहा जाता है क्योंकि जब हम सत्य को ऋत् कहते हैं तो ऋत् को सत्य भी कह सकते हैं।

नियम ४—लक्षण निषेधात्मक नहीं होना चाहिये जब वह विध्यात्मक हो सकता है। क्योंकि लक्षण में वे सब गुण प्रकट करने चाहिये जो आवश्यक हैं किन्तु निषेधात्मक लक्षण उन्हीं बातों को प्रतिपादन करता है जो एक लक्ष्य में नहीं पायी जातीं। इसलिये लक्षण को कदापि निषेधात्मक नहीं होना चाहिये। जहाँ तक हो सके यह विध्यात्मक ही होना चाहिये। यदि इस नियम का पालन न किया जाय तो लक्षण **निषेधात्मक** हो जाता है और वह लक्षण का दोष है। जैसे, पुण्य वह है जो पाप नहीं है, सत्य वह है जो मिथ्या नहीं है; असफलता सफलता का अभाव है, शान्ति युद्धाभाव को कहते हैं; ये सब लक्षण निषेधात्मक हैं। इनसे वस्तु के विषय में असाधारण गुणों का परिचय नहीं मिलता। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी लक्ष्य का लक्षण करते समय उसका विध्यात्मक लक्षण बनता ही नहीं क्योंकि जब तक कोई, सुबोध व्यावर्तक[2] गुण न हो तब तक लक्षण कैसे बने। ऐसी हालत में निषेधात्मक लक्षण भी कुछ हद तक मान लेना चाहिये।

---

1 Synonymous 2 Differentia

मनुष्य पठित होते हैं। इसलिये लक्षण के एक देश में रहने से यह संकुचित या अव्याप्त लक्षण है। इसी प्रकार त्रिभुज एक समतल क्षेत्र है जो तीन बराबर सीधी रेखाओं से आबद्ध हो। यह भी अव्याप्त या संकुचित लक्षण है।

तथा यदि लक्षण मात्रार्थ से कुछ कम कथन करता है तो हमारा लक्षण अधिक विस्तृत (Too wide) या अतिव्याप्त हो जायगा। जैसे "मनुष्य प्राणी है" यह लक्षण लक्ष्य को छोड़कर अन्य में भी चला जाता है। इसलिये इसे अधिक विस्तृत (Too wide) या अतिव्याप्त लक्षण कहेंगे। यह लक्षण मनुष्यों को छोड़कर सब जीवित प्राणियों में चला जाता है। इसी प्रकार "चट्टान एक कठोर पदार्थ है" यह भी अधिक विस्तृत या अतिव्याप्त लक्षण है।

नियम २—लक्षण सर्वदा स्पष्टतर होना चाहिये और इस हेतु से ही वह न तो आलंकारिक भाषा में होना चाहिये और न संदिग्ध तथा अस्पष्ट होना चाहिये। जैसे—ऊँट मनुष्य का जीवन है, शेर वन का राजा है, बालक मनुष्य का पिता है, इत्यादि। ये सब आलंकारिक लक्षण हैं क्योंकि इनमें आवश्यक गुणों का उल्लेख न करके अलंकारों से अधिक काम लिया गया है। इस प्रकार के लक्षण कवियों को प्रिय हो सकते हैं; तार्किकों के लिये तो ये दोषयुक्त ही हैं। तथा "फैशन एक प्रकार का मजा है जो किसी व्यक्ति को दिया जाता है जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता", "कन्या एक भ्रम है जो पंचभूतों[1] का समूह है तथा जो अपनी निज शक्ति से इधर उधर भ्रमण करता फिरता है" इत्यादि। ये लक्षण ऐसे हैं कि जिनको केवल विशिष्ट व्यक्ति ही समझ सकते हैं। इसलिये लक्षण सर्वदा स्पष्ट, उपयुक्त और असंदिग्ध होना चाहिये।

---

1 Elements

नियम ३—लक्षण केवल पर्यायवाची[1] भाषा में नहीं होना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार का लक्षण आवश्यक गुणों का कथन न करके केवल समानार्थक शब्द विधेय के रूप मे रखता है जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं। इस नियम के न पालने से समानार्थक दोष (Synonymous) या चक्रक दोष (Circulus in definiendo) होता है। जैसे 'सत्य वह है जो ऋत् हो, मनुष्य एक मानव है, आकर्षण जड पदार्थों की सर्वव्यापक शक्ति है, जज वह है जो न्याय करता हो' ये सब लक्षण समानार्थक हैं। इनको चक्रक दोषयुक्त भी कहा जाता है क्योंकि जब हम सत्य को ऋत् कहते हैं तो ऋत् को सत्य भी कह सकते हैं।

नियम ४—लक्षण निषेधात्मक नहीं होना चाहिये जब वह विध्यात्मक हो सकता है। क्योंकि लक्षण में वे सब गुण प्रकट करने चाहिये जो आवश्यक हैं किन्तु निषेधात्मक लक्षण उन्हीं बातों को प्रतिपादन करता है जो एक लक्ष्य में नहीं पायी जातीं। इसलिये लक्षण को कदापि निषेधात्मक नहीं होना चाहिये। जहाँ तक हो सके यह विध्यात्मक ही होना चाहिये। यदि इस नियम का पालन न किया जाय तो लक्षण **निषेधात्मक** हो जाता है और वह लक्षण का दोष है। जैसे, पुण्य वह है जो पाप नहीं है, सत्य वह है जो मिथ्या नहीं है; असफलता सफलता का अभाव है, शान्ति युद्धाभाव को कहते हैं; ये सब लक्षण निषेधात्मक हैं। इनसे वस्तु के विषय में असाधारण गुणों का परिचय नहीं मिलता। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी लक्ष्य का लक्षण करते समय उसका विध्यात्मक लक्षण बनता ही नहीं क्योंकि जब तक कोई, सुबोध व्यावर्तक[2] गुण न हो तब तक लक्षण कैसे बने। ऐसी हालत में निषेधात्मक लक्षण भी कुछ हद तक मान लेना चाहिये।

---

1 Synonymous 2 Differentia

जैसे यथार्थता (Reality) का लक्षण बनाना है तो वह निषेधात्मक ही बनेगा और कहना होगा कि यथार्थता वही है जिसमें अयथार्थता का अंश तक भी न हो। ऐसे लक्षण बहुत कम हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लक्षण का लक्षण यथास उपयुक्त स्पष्ट, असंदिग्ध होना चाहिये तथा वह समानार्थक और निषेधात्मक न हो।

४—लक्षण की सीमाएँ

लक्षण की सीमाएँ उसके लक्षण से ही प्रतिफलित होती हैं। जैसे-

(क) महासामान्य का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि लक्षण का कोई व्यावर्तक या अन्तर्लक्षक धर्म अवश्य होना चाहिये पर सामान्य सर्वोपरि होने से उससे ऊपर कोई सामान्य होता ही नहीं जिससे उसका कोई व्यावर्तक धर्म मिल सके। अतः इसका लक्षण नहीं हो सकता।

(ख) एकपदसमासात्मक भाववाचक पदों का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि उनसे व्यापक आधान और आधारिक अन्य कोई गुण हो ही नहीं सकता। अतः इनका लक्षण बनाना दुष्कर है। जैसे— पीतता चौकोरपन मधुरता, कठिनता। इनके लक्षण नहीं हो सकते। ये तो अनुभव करने योग्य गुण हैं। मधुरता क्या होती है? इसका क्या लक्षण हो सकता है? कुछ नहीं।

(ग) व्यक्तिवाचक पद तथा व्यक्तिवाचक वस्तुओं का भी लक्षण नहीं हो सकता। यह पहले बतलाया जा चुका है कि व्यक्तिवाचक पदों में गुणार्थ नहीं होता, इसलिये उनका लक्षणात्मक उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। व्यक्तिवाचक वस्तुएँ अनन्त गुणों को धारण किए हुए रहती हैं उन सबका लक्षण करना असम्भव है। इसलिये उनका लक्षण नहीं हो सकता। जो कुछ हो सकता है वह है वर्णन, और वह अनेक दृष्टिबिन्दुओं से किया जा सकता है।

६—लक्षण का उपयोग

कितने ही तार्किकों का विचार है कि लक्षण का विचार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। तर्कशास्त्र का काम तो तर्क करना है। किन्तु तर्क-शास्त्र का लक्षण करते समय यह सिद्ध किया जा चुका है कि तर्कशास्त्र के अन्दर इस प्रकार की परिक्रियाओं का भी वर्णन आवश्यक है जो तर्क करने मे सहायक हों। यह बिलकुल सत्य है कि जब तक पदों का लक्षण न कर लिया जाय तब तक उनका सही-सही अर्थ समझ में नहीं आ सकता, और सही अर्थ न समझने के कारण उसका न्याय-वाक्य के अन्दर समुचित प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उससे हमारा तर्क गलत भी हो सकता है। इसलिये तर्कशास्त्र में लक्षण का महान उपयोग है और बगैर इसके विचार के हम लक्षण के स्वरूप को किसी प्रकार नहीं समझ सकते।

अभ्यास प्रश्न

१ लक्षण का स्वरूप क्या है? इसकी परिधि और रूपात्मक अवस्थाएँ क्या हैं? स्पष्ट विवेचन करो।

२. तार्किक लक्षण में किन-किन बातों की आवश्यकता है। प्रत्येक लक्षण में सामान्य और अन्यत्व का उल्लेख करना ही क्यों आवश्यक बतलाया गया है?

३. सदोष लक्षण कितने प्रकार के होते हैं? पृथक् पृथक् लक्षण लिख-कर समझाओ।

४. क्या लक्षण सब प्रकार के गुणों का उल्लेख करता है? वे कौन से गुण हैं जिनका लक्षण में उल्लेख होना आवश्यक है?

५ निषेधात्मक लक्षण क्यों नहीं बनाना चाहिये? यदि बनाना चाहिये तो किन किन अवस्थाओं में? स्पष्ट विवेचन करो।

६ लक्षण का विधेय-सम्बन्धों से क्या सम्बन्ध है? क्या लक्षण के लिये विधेय-सम्बन्धों का ज्ञान आवश्यक है?

जैसे यथार्थता (Reality) का लक्षण बनाना है तो वह निषेधात्मक ही होगा और कहना होगा कि यथार्थता वही है जिसमें अयथार्थता का अंश तक भी न हो। ऐसे लक्षण बहुत कम हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लक्षण का लक्षण यथासंभव उपयुक्त हो, असंदिग्ध होना चाहिये तथा वह समानार्थक और निषेधात्मक न हो।

५—लक्षण की सीमाएँ

लक्षण की सीमाएँ उसके स्वरूप से ही प्रतिफलित होती हैं। जैसे-

(क) महासामान्य का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि लक्षण का कोई व्यावर्तक या अन्यावश्यक धर्म अवश्य होना चाहिये; महासामान्य सर्वोपरि होने से उसके ऊपर कोई सामान्य होता ही नहीं जिससे उसका कोई व्यावर्तक धर्म मिल सके। अतः इसका लक्षण नहीं हो सकता।

(ख) एकगुणसमासात्मक भाववाचक पदों का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि उससे ज्यादा आसान और मौलिक अन्य कोई गुण हो ही नहीं सकता। अतः इनका लक्षण बनाना दुष्कर है। जैसे— पीलापन, खट्टापन मधुरता, सघनता। इनके लक्षण नहीं हो सकते। ये तो अनुभव करने योग्य गुण हैं। मधुरता क्या होती है? इसका क्या लक्षण हो सकता है? कुछ नहीं।

(ग) व्यक्तिवाचक पद तथा व्यक्तिवाचक वस्तुओं का भी लक्षण नहीं हो सकता। यह पहले बतलाया जा चुका है कि व्यक्तिवाचक पदों में भावार्थ नहीं होता; इसलिये उनका लक्षणात्मक उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। व्यक्तिवाचक वस्तुएँ अनन्त गुणों को धारण किए हुए रहती हैं अतः उनका लक्षण करना असम्भव है। इसलिये उनका लक्षण नहीं हो सकता। जो कुछ हो सकता है वह है वर्णन; और वह अनेक दृष्टिबिन्दुओं से किया जा सकता है।

अध्याय ६

१—तर्कपूर्ण विभाग

विभाग (Division) की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। वस्तु और पदों का अध्ययन विभाग द्वारा किया जाता है किन्तु तार्किक-विभाग एक वैज्ञानिक चिन्तन है जिसका विचार करना आवश्यक है। **तर्कपूर्ण विभाग (Logical Division) उसे कहते हैं जब हम एक सामान्य को एक नियत सिद्धान्त के अनुसार तद्गत उप-सामान्यों में बॉट कर रखते हैं।** जैसे, मनुष्य का विभाग भारतीय और अभारतीय में किया जाता है।

उपर्युक्त तर्कपूर्ण विभाग के लक्षण के तीन अंग हैं.—

(१) विभाग एक सामान्य को उपसामान्यों मे बॉट कर रखता है।

(२) विभाग एक खास सिद्धान्त या नियम के अनुसार होता है।

(३) विभाग एक पद के द्रव्यार्थ का विश्लेषण[1] है।

तर्कपूर्ण विभाग और लक्षण मे बहुत अन्तर है। तर्कपूर्ण विभाग एक पद के द्रव्यार्थ का समीचीन विश्लेषण है तथा तर्कपूर्ण लक्षण लक्ष्य के सम्पूर्ण भावार्थ का कथन है। तर्कपूर्ण विभाग का यह अर्थ कभी नहीं है कि एक पद के द्वारा निर्दिष्ट उन वस्तुओं की केवल सख्या मात्र का उल्लेख कर दिया जाय, किन्तु यह एक सामान्य का तद्गत उप-सामान्यों में अच्छी तरह विभाजन करना है। हाँ, यह अवश्य है

---

1. Analysis

७ लक्षण के मुख्य-मुख्य दोष कौन हैं ? चक्रक दोष का लक्षण लिख कर समझाओ कि इसे चक्रक क्यों कहते हैं ?

८ क्या कारण है कि कुछ पदों का लक्षण ही नहीं बनाया जा सकता ? वे कौन से पद हैं जो लक्षणातीत हैं ?

९. लक्षण और वर्णन में क्या अन्तर है ? किसी पद के लक्षण और वर्णन दोनों बतलाओ।

१० आलङ्कारिक और स्पष्ट लक्षणों में क्या अन्तर है ? दोनों लक्षणों को क्यों सदोष बतलाया गया है ?

११ निम्नलिखित लक्षणों में दोष बतलाओ:—

(क) त्रिभुज वह समतल क्षेत्र है जिसकी तीन भुजाएँ एक समान हों।

(ख) सभ्य मनुष्य उसे कहते हैं जिसके आजीवन का कोई खास प्रबन्ध न हो।

(ग) चाँदी एक धातु है जो सुवर्ण से कम मोलवाली होती है।

(घ) मनुष्य एक स्वार्थी जीव है।

(ङ) मनुष्य एक भावों का समूह है।

(च) घी धातु है।

(छ) नियम कुछ जोरदार साधारण ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(ज) मनुष्य हँसनेवाला जन्तु है।

(झ) आम अआम का अभाव है।

(ञ) रोटी जीवन है।

(ट) बनारस हिन्दुओं का तीर्थस्थान है और यहाँ पंडे और ठग बहुत रहते हैं।

(ठ) घोड़ा जीव है।

(ड) मनुष्य बुद्धिमान जन्तु है।

(ढ) आम एक मीठा फल है।

नहीं। यह गुण, तर्कपूर्ण विभाग का मूल सिद्धान्त या नियम (Fundamentum Divisions) कहलाता है। उदाहरण के लिये हम 'मनुष्य' सामान्य को तर्क के अनुसार विभक्त करना चाहते हैं तो हमे विभाग करने के लिये एक गुण ले लेना पड़ेगा। मान लो हमने लिया 'सभ्यता' गुण, बस इसके आधार पर हम मनुष्य को सभ्य मनुष्य और असभ्य मनुष्य, इन दो विभागों मे विभक्त कर सकते हैं। हमारे विभाग का कारण सभ्यता गुण का कुछ मनुष्यों में होना तथा अन्य में न होना ही है। इसी विभाजन के मूल सिद्धान्त के भिन्न होने से अन्य विभाग भी हो सकते हैं। यदि हम 'गौरवर्ण' को विभाग सिद्धान्त मानें तो मनुष्य का विभाग गोर मनुष्य और अगौर मनुष्य मे हो जायगा। इसी प्रकार अच्छे, बुरे, पठित, अपठित, पापी, पुण्यात्मा आदि विभाग हो सकते है।

लक्षण और विभाग के भेद को भी अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये। विभाग, पदों के द्रव्यार्थ से अधिक सम्बन्ध रखता है तथा लक्षण भावार्थ से सम्बन्ध रखता है। पहले यह बतलाया जा चुका है कि अधिक पद द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों से युक्त होते हैं और दोनों आपस में ऐसे हिले-मिले रहते हैं कि इन दोनों को एक वस्तु के दो रूप कहा जा सकता है। इसलिये यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि द्रव्यार्थ और भावार्थ दोनों मिलकर पदों के पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करते हैं। जब विभाग यह बतलाता है कि कौन उप-सामान्य एक सामान्य मे उस पद द्वारा निर्दिष्ट या निहित है तब लक्षण स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि वस्तु में कौन कौन से आवश्यक गुण विद्यमान हैं जिसके द्वारा वह लक्षित होती है। इस प्रकार हम देखेंगे कि ये दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। एक यदि विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है तो दूसरी सश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। वस्तु या पदों के अर्थ को समझने के लिये दोनों ही प्रक्रियाएँ अत्यन्त आवश्यक हैं।

कि तर्कपूर्ण विभाग में एक सामान्य का उप-सामान्यों में विभाजन करना होता है न कि एक वस्तु के टुकड़े करना। अतः यह आवश्यक है कि तर्कपूर्ण विभाग का शारीरिक विभाग और अतिभौतिक विभाग से सर्वथा भेद दिखलाया जाय।

२—शारीरिक विभाग

शारीरिक (भौतिक) विभाग (Physical Division) उसे कहते हैं जब एक अंगी अपने विभिन्न अंगों में टुकड़े करके बाँट दिया जाता है। जैसे मनुष्य—शरीर, सिर, धड़, हाथ, पैर आदि में विभक्त किया जाता है अथवा, एक त्रिभुज अपनी भुजाओं में विभक्त कर लिया जाता है।

३—अतिभौतिक विभाग

अतिभौतिक विभाग (Metaphysical Division) उसे कहते हैं जब एक वस्तु या वस्तुओं की जाति को अपने गुणों में विभक्त कर बाँटा जाता है। जैसे—काँच—कठोर चमकीला शीघ्र, टूटने वाला पारदर्शक आदि गुणों में विभक्त किया जाता है अथवा मनुष्य का विभाग—जीवत्व और समझदारी में किया जाता है। अतिभौतिक विभाग को विचार विभाग (Conceptual Division) भी कहते हैं।

उपर्युक्त शारीरिक और अतिभौतिक विभागों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि ये दोनों किसी वस्तु या गुण के विभाग हैं; किन्तु तर्कपूर्ण विभाग वस्तुओं की जाति या गुणों की जाति या सामान्य का किया जाता है। इसके अतिरिक्त तर्कपूर्ण विभाग में हम एक गुण को लेते हैं जो एक जाति या सामान्य के कुछ व्यक्तियों में पाया जाता है और अन्य में

वाले हो सकते हैं। उसी प्रकार यूरोपियन सभ्य हो सकते हैं और सभ्य यूरोपियन हो सकते हैं।

नियम (३) तर्कपूर्ण विभाग मे सामान्य पद उप-सामान्यों में विभक्त किया जाता है, इसलिये उप सामान्यों का द्रव्यार्थ और सामान्य का द्रव्यार्थ समान होना चाहिये अर्थात् दोनों का क्षेत्र समान होना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि जड़ पदार्थों का विभक्त किया जाय तो उनका विभाग ठोस, तरल तथा गैस में होगा। यह विभाग ठीक है क्योंकि विभक्त द्रव्यों का क्षेत्र और जड द्रव्य का क्षेत्र समान है। इस नियम का उल्लघन किया गया तो विभाग या तो अतिसकुचित (Too narrow) या अतिविस्तृत (Too wide) हो जायगा। यदि हम एक उप-सामान्य को छोड़ दें तो अति सकुचित हो जायगा। जैसे, त्रिभुज का विभाग—समत्रिबाहु तथा समद्विबाहु में, अतिसकुचित विभाग का उदाहरण है। तथा यदि हम उन उपसामान्यों को जो सामान्य के अन्तर्गत नहीं हैं जिसका हमें विभाग करना है शामिल कर लें तो हमारा विभाग अतिविस्तृत हो जायगा, जैसे सिक्कों का विभाग, चाँदी के, सोने के, पीतल के, ताँबे के तथा बैंक नोटों में। यह अतिविस्तृत विभाग का उदाहरण है।

नियम (४) तर्कपूर्ण विभाग में उपसामान्य जिनमें सामान्य को विभाजित किया गया है उन्हें एक दूसरे पर अपना किनारा नहीं रखना चाहिये किन्तु एक दूसरे को परिहार कर रहना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति को एक उप-सामान्य से अधिक के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। यदि हम जड़ द्रव्य का विभाग, ठोस, तरल और गैस में करते हैं तो इसमें से कोई भी विभाग एक से अधिक उपसामान्य से सम्बन्ध नहीं रख सकता। वास्तव में यह नियम, नियम (२) से ही निकलता है क्योंकि तर्कपूर्ण विभाग में विभाग का सिद्धान्त एक ही होना चाहिये। यदि

४—तर्कपूर्ण विभाग के नियम तथा उनके भंग होने से उत्पन्न दोष

यदि हम तर्कपूर्ण विभाग के लक्षण को पढ़ें तो स्वयं ही निम्न लिखित नियम निकलते हुए प्रतीत होंगे। वे निम्नलिखित हैं—

नियम (१) तर्कपूर्ण विभाग सर्वदा सामान्य का होता है व्यक्ति का नहीं। जैसे, हम 'मनुष्य' पद का विभाग कर सकते हैं किन्तु 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' का विभाग नहीं किया जा सकता। इसी नियम के आधार पर हम तर्कपूर्ण विभाग को शारीरिक तथा आधिभौतिक विभाग से पृथक कर सकते हैं।

नियम (२) तर्कपूर्ण विभाग करते समय एक ही मूल-सिद्धान्त या नियम होना चाहिये। अर्थात् एक गुण को तथा कुछ व्यक्तियों में होनी चाहिये तथा कुछ व्यक्तियों में नहीं होनी चाहिये, तभी समुचित विभाग हो सकता है। जैसे विद्यार्थी का विभाग करना है तो हम बुद्धि के आधार पर कर सकते हैं। उनमें, जिनमें बुद्धि है वे बुद्धिमान कहलायेंगे और जिनमें नहीं है वे अबुद्धिमान कहलायेंगे। उन्हीं का विभाग यदि खिलाड़ी और अखिलाड़ी में करना है तो उनका विभाग का आधार 'खेल' होगा। इस नियम का भंग करने से विपरीत संक्रमण (Cross Division) का दोष आ जायगा। उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य का विभाग ऊँचा कदवाला और गोरे में किया जाय या सभ्य और यूरोपियनों में किया जाय तो मत्पष्ट रूप से इनमें दो मूल सिद्धान्त अपेक्षित हैं। प्रथम में 'ऊँचा कद' और 'वर्ण' ये दो सिद्धान्त है तथा दूसरे में 'जाति' और 'सभ्यता' ये दो सिद्धान्त हैं। जहाँ दो या अधिक सिद्धान्त अपेक्षित होंगे वहाँ विपरीत संक्रमण हो जायगा अथवा, ऊँचे कदवाले गोरे हो सकते हैं और गोरे ऊँचे कद

वाले हो सकते हैं। उसी प्रकार यूरोपियन सभ्य हो सकते हैं और सभ्य यूरोपियन हो सकते हैं।

नियम (३) तर्कपूर्ण विभाग में सामान्य पद उप-सामान्यों में विभक्त किया जाता है, इसलिये उप-सामान्यों का द्रव्यार्थ और सामान्य का द्रव्यार्थ समान होना चाहिये अर्थात् दोनों का क्षेत्र समान होना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि जड़ पदार्थों का विभक्त किया जाय तो उनका विभाग ठोस, तरल तथा गैस में होगा। यह विभाग ठीक है क्योंकि विभक्त द्रव्यों का क्षेत्र और जड़ द्रव्य का क्षेत्र समान है। इस नियम का उल्लंघन किया गया तो विभाग या तो अतिसंकुचित (Too narrow) या अतिविस्तृत (Too wide) हो जायगा। यदि हम एक उप-सामान्य को छोड़ दें तो अति संकुचित हो जायगा। जैसे, त्रिभुज का विभाग—समत्रिबाहु तथा समद्विबाहु मे, अतिसंकुचित विभाग का उदाहरण है। तथा यदि हम उन उपसामान्यों को जो सामान्य के अन्तर्गत नहीं है जिसका हमें विभाग करना है शामिल कर लें तो हमारा विभाग अतिविस्तृत हो जायगा, जैसे सिक्कों का विभाग, चाँदी के, सोने के, पीतल के, ताँबे के तथा बैंक नोटों में। यह अतिविस्तृत विभाग का उदाहरण है।

नियम (४) तर्कपूर्ण विभाग में उपसामान्य जिनमें सामान्य को विभाजित किया गया है उन्हें एक दूसरे पर अपना किनारा नहीं रखना चाहिये किन्तु एक दूसरे को परिहार कर रहना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति को एक उप-सामान्य से अधिक के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। यदि हम जड़ द्रव्य का विभाग, ठोस, तरल और गैस में करते है तो इसमें से कोई भी विभाग एक से अधिक उपसामान्य से सम्बन्ध नहीं रख सकता। वास्तव में यह नियम, नियम (२) से ही निकलता है क्योंकि तर्कपूर्ण विभाग में विभाग का सिद्धान्त एक ही होना चाहिये। यदि

विभाग का सिद्धान्त एक ही होगा तो उपसामान्य एक दूसरे से परिहार रहेंगे और यदि दो से अधिक सिद्धान्तों का अवलम्बन किया जायगा तो अवश्य ही उत्स्वपित संक्रमण[1] का दोष हो जायगा। इसलिये इस नियम के भंग करने से उत्स्वपित संक्रमण दोष होता है। उदाहरण के लिये मनुष्यों को गौर और उन्नत में विभाजित किया जाय तो उत्स्वपित संक्रमण होगा क्योंकि उन्नत मनुष्य गौर हो सकते हैं और गौर मनुष्य उन्नत हो सकते हैं।

नियम (४) सामान्य का नाम उसी अर्थ में प्रत्येक उप सामान्य के लिये प्रयुक्त होना चाहिये। जैसे मनुष्य शब्द मनुष्यों को भारतीय और अभारतीय में विभाजित करने पर दोनों के लिये यथावत् प्रयुक्त होना चाहिये। यह नियम तीसरे नियम से निकलता है क्योंकि यदि कोई उपसामान्य हो जिसके लिये सामान्य का नाम नहीं प्रयुक्त होता तब निश्चित रूप से उपसामान्यों का एकत्रित द्रव्यार्थ सामान्य के द्रव्यार्थ से अधिक होगा जो कभी भी वांछनीय नहीं हो सकता। इस नियम के भग करने से या तो शारीरिक विभाग का दोष होगा या अतिभौतिक विभाग का दोष होगा। जैसे मोटर का विभाग सीट, इंजन पहिये, धुरी हार्न इत्यादि में शारीरिक विभाग कहलायगा। उसी प्रकार यूरोप का विभाग फ्रान्स, जर्मनी स्पेन इटली इंगलैंड आदि में शारीरिक विभाग होगा। यह तर्कपूर्ण विभाग नहीं है। तथा यदि मनुष्य का विभाग यौवन और समझदारी में किया जाय तो यह अतिभौतिक विभाग कहलायगा। यह भी तर्कपूर्ण विभाग नहीं कहलाया जा सकता।

नियम (५) किसी क्रमिक विभाग में प्रत्येक सामान्य का विभाग तद्गत आसन्न उप सामान्यों में होना चाहिये दूरस्थ में नहीं।

---

1 Overlapping

विभाग में उल्लघन कभी नहीं होना चाहिये। जब कभी विभाग मे एक से अधिक कदम उठाए जायँ तो वे क्रमिक होने चाहिये। वे कदम क्रमिक इसलिए होने चाहिये कि एक भी मध्यवर्ती उच्च सामान्य छूट न जाय। इस नियम के भग से अतिसकुचित विभाग होता है। जैसे, आयतों का समभुज त्रिकोण, वर्ग, समानान्तर चतुर्भुज आदि मे विभाग करना अतिसकुचित विभाग है।

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये जितने नियम दिये गये हैं वे सब एक दूसरे से अनुविद्ध हैं। इसलिये हो सकता है कि एक के भग का उदाहरण दूसरे के भंग का भी उदाहरण हो। यही कारण है कि एक ही उदाहरण कई नियमों के भग का उदाहरण हो गया है। जैसे, जो उदाहरण विपरीत सक्रमण मे दिया है वही उदाहरण उल्लघित सक्रमण मे भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य में भी देख लेना चाहिये।

५—डिकोटोमी का विभाग-नियम

डिकोटोमी (Dichotomy) का प्रातिपदिक[1] अर्थ है 'दो मे विभक्त करना।' इसका अर्थ है कि किसी पद का दो उप-सामान्यों में विभाग करना, जिसमें एक सामान्य भावात्मक होता है और दूसरा अभावात्मक। यह प्रक्रिया पद-पद पर अनुसरण करनी पडती है। इससे यह स्पष्ट है—कि सामान्य का विभाग करते समय उप-सामान्य दो से अधिक नहीं होते और उसमें भी एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक। यहाँ दो सिद्धान्त के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्त तथा मध्यमयोग-परिहार के सिद्धान्त के अनुसार दोनों उप सामान्य एक दूसरे से परिहृत रहेंगे और जब दोनों को एक साथ लिया जायगा

---

1 Etymological

तब दोनों का प्रमाण विभाज्य पद के बराबर ही होगा । यह विभाग नियमानुसार पूर्ण और निर्दोष होता है । जैसेः—
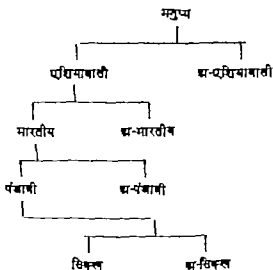
यह विभाग क्रमिक होता हुआ प्रत्येक पद पर निर्दोष है और इसमें तर्कपूर्ण विभाग के नियमों का भी पूर्ण पालन किया गया है । तर्कपूर्ण विभाग में हम देख चुके हैं कि सामान्य पद के विभाग किये हुए उपसामान्यों में उत्संकित सम्बन्ध नहीं होना चाहिये और जब उपसामान्यों को इकट्ठा ग्रहण किया जाय तब उनका मिलकर प्रमाण विभाज्य पद के प्रमाण के बराबर होना चाहिये । इससे इतना तो निश्चित है कि यह विभाग नियमानुसार है जब तक कि हमें उन उपसामान्यों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता जिनमें सामान्य या विभाज्य पद को विभक्त किया गया है । कुछ तार्किकों का कहना है कि क्रम-

विषयक तर्कशास्त्र में इस प्रकार की चर्चा करने का कोई विशेष अर्थ नहीं क्योंकि उसमे विषय पर विचार नहीं किया जाता। यदि रूप ठीक है और रूपविषयक नियमों का उल्लघन नहीं किया गया है तो परिणाम ठीक ही होगा। उनका कहना है कि यदि विषय का विचार करना है तो यह विषय-विषयक तर्कशास्त्र का विषय होगा। इसी हेतु से रूपविषयक तर्कशास्त्रियों ने यह, दो टुकड़े करके विभाग करने की प्रक्रिया, निकाली है। इसमें विषय के चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं और इसमें तर्कपूर्ण विभाग के सब नियम घटित हो जाते हैं। अत. यह प्रक्रिया परिपूर्ण मानी गई है। जहाँ तक रूप का विचार है यह प्रक्रिया सर्वोत्तम और निर्दोष है किन्तु इसमें जो विभाज्य पद को दो भागों में विभक्त कर एक को भावात्मक और दूसरे अभावात्मक रखकर समाप्त कर दिया जाता है उससे अभावात्मक विभाग का स्वरूप स्पष्ट नहीं होने पाता, इसी कारण विषय-विषयक तर्कशास्त्री इसको सर्वसुन्दर नहीं समझते।

विभाग की प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि पद या वस्तु का ज्ञान, बिना विभाग के नहीं हो सकता। ससार विभाग पर निश्चित है। तर्क में तो विभाग इसलिये उपयोगी है कि हमें पद पद पर सिद्धान्तों का विभाग कर आगे चलना पड़ता है। विभाग का उपयोग दोनों प्रकार के तर्क में चाहे वह रूपविषयक हो या विषय विषयक हो, उपयोगी है। विभाग का सम्बन्ध वर्गीकरण[1] से भी है। इसका विचार सामान्यानुमान (Inductive Logic) में किया जायगा।

अभ्यास प्रश्न

१. तार्किक विभाग किसे कहते हैं? उदाहरण देकर विवेचन करो।
२. तार्किक विभाग के नियमों की विशद व्याख्या करो, तथा उनके

---

1 Classification

न मानने से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका भी उल्लेख उदाहरण पूर्वक करो।

३ व्यवच्छेद और विभाजन की प्रक्रियाओं में क्या सम्बन्ध है? तार्किक विभाग के उपयोग की सीमाएँ क्या हैं?

४ शारीरिक, अतिभौतिक और तार्किक विभाग में क्या अन्तर है? उदाहरण देकर समझाओ।

५ विभाग और वर्गीकरण में क्या सम्बन्ध है? तार्किक विभाग की क्या विशेषताएँ हैं?

६. तार्किक विभाग में मूल सिद्धान्त से क्या अभिप्राय है? इसकी आवश्यकता क्यों मानी गई है?

७ 'द्विकोटिमी का विभाग नियम' क्या है? यह कैसी प्रक्रिया है? इसको ही सर्वोत्तम प्रक्रिया मानने में क्या हानि है?

८. विपरीत संक्रमण और उपलक्षित संक्रमण दोनों में क्या अन्तर है? इनके अलग-अलग मानने का आधार क्या है?

९ निम्नलिखित विभागों की परीक्षा करो—

(क) रंग के विभाग—सफेद पीला नीला, काला और लाल।

(ख) गधे का विभाग—सिर, पैर, पीठ कमर खुर और पूँछ।

(ग) भारतीय के विभाग—हिन्दू मुस्लिम जैन ईसाई और बौद्ध।

(घ) प्रकाश के विभाग—काला नीला पीला, लाल और हरा।

(ङ) मनुष्य के विभाग—यूरोपियन, चीनी, जापानी और अमरीकन।

(च) ग्रेट ब्रिटेन का विभाग—इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड।

(छ) मक्खी के विभाग—पीढ़वाले और बेपीढ़वाले।

(ज) कलम का विभाग—काली, नीली, पीली, हरी और लाल ।
(झ) कमरे का विभाग—दीवाल, छत, दरवाजा और खिड़की ।
(ञ) कॉलेज का विभाग—आर्ट्स, साइन्स और इञ्जीनियरिङ्ग ।
(ट) पुस्तक का विभाग—अच्छी, कीमती, बेकार और सस्ती ।
(ठ) सर्प का विभाग—विषधर और अविषधर ।
(ड) मनुष्य का विभाग—सभ्य, मूर्ख, लम्बा और गोर ।
(ढ) मनुष्य का विभाग—भारतीय और अभारतीय ।
(ण) व्याकरण का विभाग—वर्ण-विचार, शब्द-विचार और वाक्य विचार

———

अध्याय ७

तर्कवाक्य

१—वाक्य का स्वरूप

तीसरे अध्याय में पद, पद का स्वरूप प्रकार और पदों के परस्पर सम्बन्ध का पर्यालोचन किया गया था। तर्क के लिये पद की आवश्यकता है यह निश्चित है। क्योंकि अपने विचारों को हम पदों में ही व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु क्या हमारा विचार पदों तक ही सीमित रहता है या आगे भी बढ़ने का प्रयत्न करता है ? क्या हम वास्तव में मनुष्य घोड़ा गाय कलकत्ता आदि पदों से ही अर्थबोध कर लेते हैं ? नहीं हमारे विचार पदों से आगे बढ़ते हैं और उन विचारों को हमें वाक्यों के रूप में प्रयोग करना पड़ता है जैसे 'मनुष्य मरणधर्मा है' 'घोड़ा सवारी के लिये उत्तम जानवर है', 'गाय दूध देती है', 'कलकत्ता भारत का सुन्दर नगर है' इत्यादि। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक पद भी वाक्य का कार्य करता है। जैसे एक मनुष्य ने घोड़े को देखकर कहा "अश्व" इसका अर्थ यह है 'अश्व जैसा है' या 'अश्व आ रहा है'। इस प्रकार एक पद का प्रयोग भी पूरे वाक्य का द्योतक होता है। इस प्रकार के विचार से यह स्पष्ट है कि विचार का आधार केवल पद नहीं है—किन्तु वाक्य है। इसीलिये तार्किकों ने विचार की इकाई (Unit of thought) को वाक्य माना है।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि शब्दों के प्रयोग के पहिले विचार (Concept) मन में उत्पन्न होता है। पश्चात् उन विचारों

को एक दूसरे से मिलाकर निर्णय (Judgement) बना लेते हैं। यह विचारों का मिलाना सगति के अनुसार ही किया जाता है मनमाना नहीं। असगति होने से असबद्ध प्रलाप[1] या उन्मत्त के प्रलाप[2] के समान कार्यकारी नहीं होता। जब निर्णय का भाषा में प्रयोग किया जाता है, तब वह वाक्य कहलाता है। इसी प्रकार के वाक्य का तर्क-शास्त्र में विचार किया जाता है। विचार और निर्णय दोनों मानसिक प्रक्रियाएँ होने के कारण मानस-शास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु इन दोनों को भाषा के अन्दर प्रयोग न करने से न तो स्वय हम उनका स्पष्ट ज्ञान कर सकते हैं और न दूसरों को समझा ही सकते हैं, इसलिये भाषा में प्रयुक्त पद और उनसे बने हुए निर्णयात्मक वाक्यों का पर्यालोचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

वाक्य (Proposition) **दो पदों के बीच के सम्बन्ध के कथन को कहते हैं**। इस प्रकार वाक्य के तीन अग होते हैं अर्थात् दो पद और उन दोनों पदों के बीच का सम्बन्ध सूचक चिन्ह। दो पदों में से एक **कर्ता या उद्देश्य** (Subject) कहलाता है और दूसरा **विधेय** (Predicate), तथा जो सम्बन्ध सूचक चिन्ह है उसे **योजक** (Copula) कहते हैं। इन तीनों के लक्षण पहले बतलाए जा चुके हैं। उदाहरणार्थ, 'सब गाएँ चतुष्पद होती हैं' इस वाक्य में 'सब गाएँ' कर्ता या उद्देश्य है 'चतुष्पद होना' विधेय है, तथा 'हैं' यह योजक है।

२—योजक की विशेषता

योजक (Copula) के विषय में तार्किकों का मतभेद है। योजक वाक्य में सम्बन्ध सूचक होता है इसलिये इसके विषय में दो प्रश्न उठाए जाते हैं (१) क्या योजक वर्तमानकाल में ही प्रयुक्त होता है या अन्य कालों में भी? (२) क्या योजक विधिवाचक ही

1. Inconsistant talk 2 Mad man's talk

होता है या निषेधवाचक भी। प्रथम प्रश्न के उत्तर में हेमिल्टन (Hamilton) मेन्सेल (Mansel) और फाउलर (Fowler) तीनों महाशयों का एक मत है। वे कहते हैं कि योजक क्रिया पद सर्वदा वर्तमानकाल में ही होना चाहिये। यद्यपि मिल महोदय इससे विरोध रखते हैं। उनका कहना है कि यह किसी काल में हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि यह वर्तमान काल में ही हो। इस पर अधिक विचार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा—"क्योंकि योजक केवल दो पदों के बीच विध्यात्मक या निषेधात्मक सम्बन्ध प्रकट करता है इसलिये इसका वर्तमानकाल में ही होना अधिक उपयुक्त है।" तथ्य या बात सत्य है वह काल की मर्यादा में नहीं बाँधी जा सकती; काल का बन्धन विधेय पर छोड़ देना चाहिये। उदाहरणार्थ 'अशोक भारतवर्ष का सम्राट् था' यह बात भूतकाल में सत्य थी वर्तमान में भी सत्य है और भविष्यत् काल में भी सत्य होगी—ऐसे त्रिकाला-बाधित सत्य को वर्तमान में व्यक्त करने में क्या आपत्ति हो सकती है। इस कारण तर्कशास्त्र में क्रिया का रूप सर्वदा वर्तमानकाल में ही प्रयुक्त होता है। योजक पद को काल के बन्धन से मुक्त कर उसे विधेय में ही डाल देना चाहिये 'नागार्जुन एक अच्छा तार्किक था' इस वाक्य को इस प्रकार लिखना चाहिये नागार्जुन एक व्यक्ति है जो अच्छा तार्किक था।' इस वाक्य में समय का निर्देश विधेय में डाल दिया गया है। इसी प्रकार 'रेलगाड़ी शाम को आयगी' इस वाक्य को इस प्रकार तार्किक विधि में लाना चाहिये। रेलगाड़ी एक गाड़ी है जो शाम को आयगी इत्यादि। हमें इसलिये ही हेमिल्टन आदि महोदयों का मत स्वीकार करना पड़ता है कि योजक सर्वदा वर्तमान काल में ही होना चाहिये और वह 'होना'[1]

---

1. To be.

क्रिया मे ही व्यक्त किया जा सकता है। 'होना' क्रिया के कई रूप होते हैं जैसे—हूँ, हैं, है इत्यादि। उनका, जैसी अवस्था हो उसके अनुसार, प्रयोग कर लेना चाहिये। दूसरे प्रश्न के विषय मे कुछ तार्किकों का विचार है कि योजक सदा विध्यात्मक ही होना चाहिये तथा अन्य तर्कशास्त्रियों का विचार है कि यह विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों हो सकता है। जो प्रथम पक्ष के पोषक हैं वे निषेधवाचक पद 'नहीं' को विधेय के साथ जोड देते हैं। इसकी अपेक्षा कि 'मनुष्य पूर्ण नहीं है' वे कहेंगे कि 'मनुष्य, अपूर्ण है।' यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विधि और निषेध दोनों परस्पर विरोध-सूचक है इसलिये दोनों का एकीकरण असभव है। अतः यह उपयुक्त है कि योजक के दोनों ही रूप—विध्यात्मक और निषेधात्मक—स्वीकार करने चाहिये। कौन योजक विध्यात्मक है और कौन निषेधात्मक—यह उद्देश्य और विधेय के सम्बन्ध से निर्णय किया जा सकता है। यदि सम्बन्ध विध्यात्मक है तो योजक विधिरूप हो सकता है और यदि निषेधात्मक है तो निषेधात्मक हो सकता है। इसके अतिरिक्त निषेधात्मक पद को विधेय का अग बना देने से उलटा अर्थ भी हो जाता है। जैसे, 'कुछ पशु हाथी नहीं हैं' यहाँ यह ठीक है क्योंकि इसमें कुछ पशुओं से हाथियों की भिन्नता दिखलाई है, किन्तु 'कुछ पशु अ-हाथी हैं' इसका यही अर्थ होगा कि कुछ पशुओं की अहाथियों के साथ समानता है। यहाँ यह अर्थ सर्वथा अनुपयुक्त है। अत योजक को 'होना' क्रिया के वर्तमान काल में ही प्रयोग करना चाहिये और वह विध्यात्मक भी हो सकता है और निषेधात्मक भी। अर्थात् योजक के रूप 'हूँ, नहीं हूँ, हैं, नहीं हैं, है, नहीं है' इत्यादि हो सकते हैं।

योजक के विषय में एक बात पर और ध्यान देना चाहिये। **योजक (Copula) एक क्रियापद होता है जो दो पदों के मध्य संबंध को प्रकटित करता है।** किन्तु योजक स्वय न तो उद्देश्य का

और न विधेय का विधान करता है और न उनका निषेध करता है। यह तो केवल विधि और निषेध का उद्देश्य और विधेय के मध्य, चिन्ह मात्र है। जब हम कहते हैं 'चाँदी सफेद है' यहाँ 'है' केवल 'चाँदी' और सफेद के बीच संबन्ध प्रकट करता है। यह चाँदी की सत्ता को प्रकट नहीं करता है। यह बिलकुल स्पष्ट तब हो जाता है जब हम ऐसे वाक्यों पर विचार करते हैं जैसे 'नरसिंह काल्पनिक जीव है' या 'सुवर्णगिरि एक काल्पनिक पहाड़ है।' यह भ्रम, वास्तव में, तब पैदा होता है जब हम 'होना' क्रिया का अर्थ उसकी सत्ता के अर्थ में करते हैं; जैसे, 'पुरुष है' यहाँ 'है' का अर्थ है—पुरुष की सत्ता है। इस प्रकार के वाक्य में क्रिया पद 'है' विधेय का भी अन्तर्भाव करता है और इस वाक्य को पूर्ण रूप से 'पुरुष की सत्ता है' इस प्रकार लिखना चाहिये। इसलिये योजक पद को और विशेष्य बोधक[1] क्रिया को अलग-अलग करके समझना चाहिये तभी वाक्यार्थ स्पष्ट होगा।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि व्याकरण के वाक्य और तर्क-वाक्य भिन्न प्रकार के होते हैं। सामान्य रूप से जो तर्कशास्त्र में तर्क-वाक्य कहलाता है वह व्याकरण में केवल वाक्य कहलाता है। यह निश्चित है कि प्रत्येक तर्क-वाक्य वाक्य होता है किन्तु प्रत्येक वाक्य तर्क-वाक्य नहीं कहलाता। व्याकरण में कितने ही प्रकार के वाक्य होते हैं जिन्हें तर्क-वाक्य नहीं कहा जा सकता। जैसे, प्रश्न-वाचक[2] वाक्य, इच्छा-बोधक[3] वाक्य आज्ञा-बोधक[4] वाक्य, संबोधन[5]—वाक्य आदि। तर्कशास्त्र में वाक्य सर्वदा निर्देशात्मक[6] होते हैं, इसलिये अन्य प्रकार के वाक्यों को निर्देशात्मक (Indicative) वाक्य के रूप में ही परिवर्तित करना पड़ता है और जब तक वाक्य

---

1 Substantive 2. Interrogative. 3 Optative.
4 Imperative. 5. Exclamatory 6. Indicative.

ठीक तार्किक रूप में उपस्थित न किया जाय तब तक उसका कोई मूल्य भी नहीं होता। इसलिये—'तुम क्या करते हो?'—'आम लाओ'—'भगवान तुम्हारा कल्याण करे'—'हाय, वह मर गया' इत्यादि वाक्यों को तार्किक वाक्यों में परिवर्तित कर लेना चाहिये। इसके नियम आगे बतलाए जायँगे।

३—वाक्य के प्रकार

जिस प्रकार पदों के प्रकार का पहले विचार किया गया है उसी प्रकार वाक्यों के प्रकार का भी विचार करना आवश्यक है। वाक्यों को हम निम्नलिखित छः विभागों में बाँट सकते हैं जिनका विचार पृथक्-पृथक् किया जायगा:—

1. Composition 2 Relation, 3. Quality.
4 Quantity 5 Modality 6 Significance

(१) शुद्ध और मिश्र

रचना की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—(१) शुद्ध और (२) मिश्र। तर्क-वाक्य उद्देश्य और विधेय के बीच किसी सम्बन्ध का कथन करता है। यदि वाक्य में केवल एक ही इस प्रकार का कथन हो तो उसे शुद्ध (Simple) वाक्य कहते हैं। जैसे सब मनुष्य मरणधर्मा हैं, कुछ मनुष्य न्यायप्रिय हैं, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है। यदि वाक्य में एक से अधिक इस प्रकार के कथन हों तो उसको मिश्र (Compound) वाक्य कहते हैं। जैसे जवाहर लाल राजनीतिज्ञ और प्रबन्धकर्ता दोनों हैं। यह वाक्य दो वाक्यों के बराबर है क्योंकि इस वाक्य में एक ही उद्देश्य के विषय में दो कथन किये गये हैं। जवाहरलाल राजनीतिज्ञ हैं और जवाहरलाल प्रबन्धकर्ता हैं। उसी प्रकार, मनुष्य न तो अमर है और न पूर्ण है। इसको भी दो वाक्यों में तोड़ा जा सकता है अर्थात् मनुष्य अमर नहीं है और मनुष्य पूर्ण नहीं है। मिश्र वाक्य इस हेतु से एक वाक्य से अधिक वाक्य वाला होता है। मिश्र वाक्य के दो और भेद होते हैं—(१) संयोजक वाक्य (२) दूरस्थ वाक्य। संयोजक (Copulative) मिश्र वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक से अधिक विधि-वाक्य हों। तथा दूरस्थ (Remotive) मिश्र वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक से अधिक निषेध वाक्य हों। दोनों के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। वे इनके भी उदाहरण हो सकते हैं।

(२) निरपेक्ष (नियत) और सापेक्ष (अनियत)

सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सापेक्ष (नियत) और निरपेक्ष (अनियत)। निरपेक्ष (Categorical) या नियत वाक्य उन्हें कहते हैं जिनमें उद्देश्य और विधेय के बीच में बिना किसी शर्त के सम्बन्ध स्थापित किया जाय। जैसे, सब

गाएँ चतुष्पद हैं; कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, कुछ विद्यार्थी शरारती हैं, कुछ आम मीठे नहीं हैं। इन वाक्यों मे किसी प्रकार की कोई शर्त नहीं रक्खी गई है जो उद्देश्य और विधेय को बाँधे। अतः ये वाक्य निरपेक्ष वाक्य है। **तथा सापेक्ष (Conditional) या अनियत वाक्य उन्हें कहते हैं जिनमें उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध किसी शर्त के ऊपर निर्भर रहता है।** जैसे, यदि वह आता है तो मैं जाऊँगा। इस वाक्य में मेरा जाना उनके आने पर निर्भर है। यदि मैं पढ़ा लिखा होता तो सुखी होता, या मैं शादी कराऊँगा या ब्रह्मचारी रहूँगा। इन दोनों वाक्यों में उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध किसी न किसी शर्त पर निर्भर है जिसका पूर्ण होना आवश्यक है यदि फलस्वरूप कार्य का होना जरूरी है।

सापेक्ष वाक्य दो प्रकार के होते हैं—(१) हेतुहेतुमद् वाक्य और (२) वैकल्पिक वाक्य। हेतुहेतुमद् (Hypothetical) वाक्य एक प्रकार के सापेक्ष वाक्य हैं जिनमें शर्त, अगर, यदि, आदि पदों से प्रकाशित की जाती है। इसलिये **हेतुहेतुमद् वाक्य वे सापेक्ष वाक्य हैं जिनमें उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध किसी शर्त के पूरे होने पर निर्भर रहता है।** जैसे, यदि रोटी बनती है तो भूक मिटती है। यदि वर्षा होती है तो मैं शहर न जाऊँगा। जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग है। यदि मैं उनके स्थान पर होता तो कभी अन्याय नहीं होने देता। इन सब वाक्यों में किसी न किसी शर्त से पूर्ण होने पर ही हेतुफल का होना बतलाया है। इसलिये इनको सापेक्ष हेतुहेतुमद् वाक्य कहा गया है। हेतुहेतुमद् के दो भाग होते हैं (१) हेतु और (२) हेतुमद्। **हेतु (Antecedent) वह भाग है जो शर्त को पेश करता है तथा हेतुमद् (Consequent) वह भाग है जो फल या कथन को उपस्थित करता है।** उपर्युक्त वाक्यों में यदि रोटी बनती है, यदि वर्षा होती **है,** जहाँ **इच्छा** होती है, यदि मैं उनके स्थान पर होता, ये

सब हेतु-वाक्य हैं जो उन वाक्यों में शर्त का काम कर रहे हैं। तथा—भूख मिटती है, मैं शहर नहीं जाऊँगा, यहाँ मार्ग है, कभी अन्धाव नहीं होने देता, ये हेतुमद् या फलवाक्य हैं। जब हेतुहेतुमद् वाक्य को तार्किक रीति से लिखा जाय तब हेतुवाक्य पहले रखना चाहिये और फलवाक्य बाद में रखना चाहिये। इसलिये अँगरेजी में हेतुवाक्य को एन्टीसीडेन्ट (Antecedent) अर्थात् प्रथम आनेवाले वाक्य कहते हैं और फल वाक्य को कन्सेक्वेन्ट (Consequent) कहते हैं जो बाद में आनेवाला होता है। यदि कोई कहे "मैं जाऊँगा अगर वह आता है" तो यह वाक्य तर्क रीति का नहीं है। इसको ठीक करना पड़ेगा; यानी हेतु वाक्य को पहले रखकर फलवाक्य को बाद में रखना होगा। तर्क की रीति में परिवर्तित रूप वाक्य का—यदि वह आता है तो मैं जाऊँगा—यह रूप होगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि हेतुहेतुमद् वाक्य में हेतु और हेतुमद् या फल का वही स्थान है जो निरपेक्ष वाक्य में उद्देश्य और विधेय का स्थान है। अतः हेतुहेतुमद् वाक्य को निरपेक्ष वाक्य में आसानी से बदल सकते हैं जैसे "गाय चतुष्पद है" = यदि गाय है तो चतुष्पद है। यदि वर्षा हो तो खेती हो = वर्षा होने की अवस्था खेती की अवस्था है। इत्यादि।

वैकल्पिक Disjunctive वाक्य उन्हें कहते हैं जिसमें दो वैकल्पिक कथन किए जाते हैं और उनको—'या तो—या' द्वारा पृथक् किया जाता है। जैसे या तो वह आवेगा या मैं जाऊँगा या तो वह देवता है या नारकी या तो वह साधु है या धूर्त है। इनमें दो विकल्प हैं जो एक दूसरे को पृथक् करते हैं।

कुछ दार्शनिक जिनमें यूवरवेग (Uverbeg) मुख्य हैं, कहते हैं कि वैकल्पिक वाक्य के दो विकल्प सदा भिन्न होते हैं। इनमें से एक के सत्य होने से दूसरा मिथ्या होता है तथा एक के

मिथ्या होने से दूसरा सत्य होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य जिनमें मिल प्रधान है, का कहना है कि वैकल्पिक वाक्यों के विकल्पों का परस्पर विरुद्ध होना कोई आवश्यक नहीं। इनके अनेक विकल्प भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार एक विकल्प के मिथ्या[1] होने से अन्य सत्य तो हो जाता है किन्तु इसके विपरीत, एक के सत्य होने से दूसरा मिथ्या नहीं होता। जैसे, हरिहर या तो धूर्त है या विद्वान्। इस वैकल्पिक वाक्य से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यदि हरिहर विद्वान् नहीं है, तो वह धूर्त है और यदि हरिहर मूर्ख नहीं है तो वह धूर्त है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता—कि यदि हरिहर धूर्त है तो वह विद्वान् नहीं है, या हरिहर विद्वान् है तो वह धूर्त नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैकल्पिक वाक्यों के बारे में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। बिना इनकी परीक्षा किये हुये यह नहीं कहा जा सकता कि ये परस्पर विरुद्ध हैं या नहीं। यदि दो विकल्प जैसे जीवित या मृत इस प्रकार के हों तो पहला पक्ष ठीक है और विद्वान् और धूर्त के समान हों तो दूसरा पक्ष ठीक है।

वैकल्पिक वाक्यों के विकल्प से वक्ता के दो उद्देश्य होते हैं—(१) संशय[2] और (२) विवेचन की पूर्णता[3]। उदाहरणार्थ, 'यह या तो सीप है या चाँदी' इस वाक्य में संशय के प्रदर्शनार्थ विकल्प रक्खे गये हैं। तथा सत्याग्रहियों के असफल होने का कारण या तो मानसिक दुर्बलता है या राजनैतिक दबाव। यहाँ विकल्प विवेचन की पूर्णता को दिखलाने के लिए रक्खे गये हैं। दोनों विकल्प सत्याग्रहियों की असफलता के द्योतक हैं इसलिये वे उनकी पूरी व्याख्या करते हैं।

---

1 False 2. Doubt

3. Thoroughness of description

(१) विधिवाक्य—निषेधवाक्य

गुण की दृष्टि से वाक्य के दो भेद हैं:—(१) विधि वाक्य और (२) निषेधवाक्य। विधि वाक्य (Affirmative) उसे कहते हैं जिसमें उद्देश्य के साथ विधेय की विधि की गई हो। जैसे, 'मनुष्य मरणधर्मा है' इस वाक्य में मनुष्य उद्देश्य है उसके साथ विधेय मरणधर्म की विधि की गई है। विधिवाक्य में योजक विध्यात्मक होता है यथा उपर्युक्त उदाहरण विधिवाक्य का है। तथा निषेध वाक्य (Negative) उसे कहते हैं जिसमें कर्ता के साथ विधेय का निषेध किया गया हो। जैसे 'मनुष्य पूर्ण नहीं है'। इस वाक्य में मनुष्य उद्देश्य है। 'पूर्ण' विधेय का उसके साथ निषेध दिखलाया गया है। निषेध-वाक्य में योजक निषेधात्मक होता है। यथा उपर्युक्त वाक्य निषेधात्मक है।

कुछ तार्किक लोग जितने निषेध-वाक्य हैं उन सबको विधि-वाक्यों में बदल लेते हैं और निषेध के चिन्ह को विधेय का अंग मान लेते हैं। जैसे मनुष्य पूर्ण नहीं है—इसके स्थान पर वे कहते हैं—मनुष्य अ-पूर्ण है। इस प्रकार वे निषेध के चिन्ह को विधेय में लेकर उसमें सम्मिलित कर लेते हैं। इस प्रकार के वाक्य अपरिमित (Infinite) वाक्य कहलाते हैं। क्योंकि इस प्रकार के अपरिमित वाक्य 'विध्यात्मक योजक' ग्रहण करते हैं। इस हेतु से वे विधि-वाक्य हैं। यद्यपि उनका बल निषेधात्मक होता है। इस विषय पर पहले भी विचार किया जा चुका है और यह सिद्ध कर दिया गया है कि विधि और निषेध परस्पर भिन्न हैं। वाक्यों में दोनों का होना वांछनीय है इसलिये दोनों प्रकार के वाक्यों की उपयोगिता स्वीकार करनी चाहिये।

जहाँ तक हेतुहेतुमद् वाक्यों का सम्बन्ध है उनका गुण[1] वाक्य के हेतुमद् या फल के ऊपर निर्भर रहता है। हेतु के गुण से वाक्य में

---

1 Quality

कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि हेतुवाक्य में केवल शर्त होती है, सम्बन्ध का कथन नहीं होता। इसलिये यदि हेतुमद् या फल विधिरूप हो तो हेतुहेतुमद्-वाक्य विधि-वाक्य होगा और निषेध रूप हो तो निषेध वाक्य होगा। जैसे,

विधि-वाक्य

(१) यदि वर्षा होती है तो खेती अच्छी होगी।

(२) यदि वह नहीं आता तो मैं जाऊँगा।

निषेध वाक्य

(१) यदि सुभिक्ष होता है तो लोग भूखे न मरेंगे।

(२) यदि वर्षा नहीं होती है तो जमीन भीगेगी नहीं।

कुछ तर्कशास्त्रियो का यह मत है कि जितने हेतुहेतुमद् वाक्य हैं वे सब विधिवाक्य ही होते हैं। उनके अनुसार हेतुहेतुमद् वाक्य यह प्रकट करता है कि हेतुमद् और हेतु में निर्भरता[1] का सम्बन्ध है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो बहुत-सी आपत्तियाँ उपस्थित हो जायँगी। क्योंकि फिर इस वाक्य में—यदि वह नहीं पढ़ेगा तो ज्ञानी नहीं हो सकेगा—हमें इस प्रकार का परिवर्तन करना होगा—यदि वह नहीं पढ़ेगा तो अज्ञानी रहेगा। इस तरह करने से जो विधि-निषेध का अलग-अलग कथन है वह गडबड में पड़ जायगा। इसलिए भेद को स्वीकार करना उचित ही है। इसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है।

वैकल्पिक वाक्यों में विधि-निषेध का भेद नहीं होता। क्योंकि वैकल्पिक वाक्य सब के सब विध्यात्मक ही होते हैं। वेल्टन (Welton) महोदय का कहना है कि वैकल्पिक वाक्यों के स्वरूप से

1. Dependence

ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये विध्यात्मक ही हो सकते हैं क्योंकि उसमें विधेय के अनेक विकल्प होते हैं। उनमें से किसी एक की विधि अवश्य होनी चाहिये। राम न तो आलसी है और न उत्साही—यह वैकल्पिक वाक्य नहीं है। इस वाक्य में विधेय वैकल्पिक नहीं किन्तु केवल द्विधार निषेध रूप है। राम आलसी नहीं है और राम उत्साही नहीं है। यह नियत मिश्र वाक्य है जो दूरस्थ[1] प्रकार का है।

(५) सामान्य वाक्य और विशेष वाक्य

अंश या परिमाण की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं :— (१) सामान्य वाक्य और (२) विशेष वाक्य। सामान्य वाक्य उसे कहते हैं जिसमें विधेय पद का समग्र उद्देश्य पद के साथ विधि रूप में या निषेध रूप में सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। जैसे 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' इन दोनों वाक्यों में विधेय उद्देश्य के समस्त अभ्यार्थ से सम्बन्ध रखता है इसलिये ये सामान्य वाक्य हैं। तथा विशेष वाक्य उसे कहते हैं जिसमें विधेय का विधिरूप या निषेधरूप सम्बन्ध उद्देश्य के एक भाग के साथ स्थापित किया गया हो। जैसे कुछ मनुष्य काले हैं ; कुछ आदमी अज्ञानी हैं ; इत्यादि। अंश या परिमाण के प्रकट करने के लिये तर्कशास्त्र में सामान्य वाक्यों के आदि में प्रायः ये शब्द लगाये जाते हैं :—कोई, हर एक, सब, सभी, जो कुछ ; और विशेष वाक्यों के आदि में ये शब्द लगाये जाते हैं :—कुछ थोड़े से अधिक इत्यादि। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि तर्कशास्त्र में कुछ (Some) का अर्थ लौकिक कुछ के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। सामान्य तौर से हम कुछ का अर्थ पूर्ण अंश में प्रयोग करते हैं किन्तु तर्कशास्त्र में कुछ का अर्थ है—कोई अनिश्चित परिमाण[2]। मान लो

1 Remotive. 2. Indefinite quality

एक पुस्तकालय मे ५०० पुस्तकें हैं उनमें एक या दो पुस्तकें कीमती हैं। तो हम कह सकते हैं कि पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें कीमती हैं। यदि ४९९ पुस्तकें कीमती हों तब भी यह कहेंगे कि कुछ पुस्तकें कीमती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तर्क-शास्त्र में कुछ का अर्थ कम-से कम एक है। तथा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि तर्क-शास्त्र में जब हम 'कुछ' प्रयोग करते हैं तब सब या पूर्ण का प्रश्न बिलकुल खुला रहता है। जन-साधारण की भाषा में हम कोई वक्तव्य कुछ व्यक्तियों के बारे में देते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि इसका विरुद्ध वक्तव्य कुछ के बारे में सही होगा। जैसे, हम जन-साधारण की भाषा में कहते हैं—कुछ इटालियन बेईमान हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि जो बचे हुये इटालियन हैं वे सब ईमानदार हैं। किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्क-शास्त्र में इस प्रकार का कोई सकेत या अभिप्राय मानने योग्य नहीं है। तर्क शास्त्र में कुछ का प्रयोग करने पर अवशिष्ट के बारे में उसका कोई सकेत या अभिप्राय नहीं है। यही कारण है कि जनसाधारण की भाषा में कुछ का अर्थ है 'कुछ ही' किन्तु तर्क-शास्त्र में कुछ का अर्थ है **कम से कम कुछ**[1]। सम्भव है वे सब हों या सब न भी हो। इसलिये तर्क-शास्त्र में 'कुछ' सबको सर्वथा पृथक् नहीं करता किन्तु 'सब' का प्रश्न खुला रखता है। यही विशेषता है।

निरपेक्ष वाक्य में उद्देश्य के अश या परिमाण से वाक्य का अश या परिमाण नियत किया जाता है। यदि कर्ता अपने पूर्ण द्रव्यार्थ में लिया गया है तो वाक्य सामान्य है। यदि कर्ता का द्रव्यार्थ अल्प है तो वह विशेष वाक्य है। जनसाधारण की भाषा में एक वाक्य का अंश या परिमाण स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं रहता।

---

1. Some at least

जब परिमाण उल्लिखित नहीं रहता या अनिश्चित रहता है तब उन वाक्यों को अनिश्चित वाक्य कहते हैं। जैसे 'मनुष्य दुर्बल प्राणी है' 'किताबें लाभदायक हैं' इन वाक्यों में परिमाण अनिश्चित है। तथा जिन वाक्यों में परिमाण स्पष्ट रूप से उल्लिखित होता है उनको निश्चित वाक्य कहते हैं। जैसे, 'मनुष्य मरणधर्मा है। यहां उद्देश्य का परिमाण निश्चित है। वास्तव में देखा जाय तो तर्कशास्त्र में अनिश्चित (Indefinite or Indesignate) वाक्यों के लिये कोई स्थान नहीं। यहाँ केवल निश्चित (Definite or Predesignate) वाक्य ही काम में लिये जाते हैं।

एकवचन (Singular) वाक्यों के विषय में तार्किकों में काफी मतभेद है। जब किसी वाक्य का उद्देश्य एकवचन हो तो उस वाक्य को एकवचन वाक्य कहते हैं। कुछ तार्किक इस प्रकार के वाक्यों को सामान्य और विशेष वाक्यों से अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के वाक्य मानते हैं किन्तु यह मतभेद निरर्थक है। वास्तव में एकवचन वाक्यों को सामान्य वाक्य मानना चाहिये। जब उद्देश्य किसी खास व्यक्ति का उल्लेख करता है, जैसे—"गौतम एक बड़ा तार्किक है" 'यह मनुष्य विद्वान् है'—यहाँ एक खास मनुष्य या व्यक्ति अभिप्रेत है इसलिये ये वाक्य क्योंकि इसका अर्थ पूर्व अध्याय में लिया गया है सामान्य वाक्य ही मानने चाहिये। और यदि किसी वाक्य का कर्ता एक खास व्यक्ति को न बतलाकर केवल अपूर्ण अर्थ का द्योतक है तो उसे विशेष वाक्य समझना चाहिये। जैसे 'एक आदमी यहाँ है' 'एक धातु तरल है' इत्यादि।

यह हम कह चुके हैं कि सामान्य वाक्य वह है जिसमें उद्देश्य का विधेय के साथ विधिरूप से या निषेधरूप से पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। क्योंकि सामान्य वाक्य में उद्देश्य अपने पूर्ण अर्थ में ग्रहण किया जाता है। किन्तु जब उद्देश्य सामान्य पद होता है

तब हम समझ लेते हैं कि इसके शुरू में 'सब', 'कोई भी नहीं' इत्यादि पद लगे हुए हैं, इसलिये ये सामान्य वाक्य हैं; किन्तु उद्देश्य यदि एक-वचनात्मक हो और वह अपने पूर्ण द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया हो तो वह निश्चित रूप से सामान्य वाक्य ही कहलायेगा। निम्नलिखित उदाहरण सामान्य वाक्य के हैं:—

सामान्य विध्यात्मक	सामान्य निषेधात्मक
(१) सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।	(१) कोई मनुष्य अमर नहीं है।
(२) गौतम एक दार्शनिक है।	(२) कालिदास दाक्षिणात्य नहीं था।
(३) यह मनुष्य धूर्त है।	(३) यह मनुष्य पागल नहीं है।

हेतुहेतुमद् वाक्य का अंश या परिमाण उसके हेतु पर निर्भर रहता है। यदि हेतु पूर्ण परिमाणवाला हो तो वाक्य सामान्य होता है और यदि अपूर्ण परिमाण वाला है तो विशेष माना जाता है। उदाहरणार्थ, 'यदि कहीं भी जल है तो वहाँ शैत्य अवश्य होगा'। इस वाक्य के हेतु में जल की विद्यमानता सर्वत्र अभिप्रेत है इसलिये यह सामान्य वाक्य है। और 'कभी-कभी मनुष्य सावधान है तो सफल होता है' यह वाक्य विशेष है क्योंकि इस वाक्य के हेतु में मनुष्य की सावधानता सब अवस्थाओं में अभिप्रेत नहीं है इसलिये यह विशेष वाक्य है। अत. हेतुहेतुमद् वाक्यों का परिमाण उनके हेतुओं के परिमाण पर आश्रित रहता है।

वैकल्पिक वाक्य सामान्य भी हो सकते हैं और विशेष भी। इसका निर्णय प्रायः उद्देश्य पद से किया जाता है। जैसे, सब मनुष्य या तो गौर हैं या अगौर। यह वाक्य सामान्य है। तथा "कुछ मनुष्य पण्डित हैं और कुछ धूर्त" यह विशेष वाक्य है। विशेष वैकल्पिक वाक्य तर्क-शास्त्र में प्राय. निष्प्रयोजन के होते हैं और इसलिये ही उनका विशेष प्रयोग नहीं देखा जाता है।

(५) आवश्यक-प्रतिज्ञात-संदिग्ध

रीति[1] की दृष्टि से वाक्य के तीन भेद होते हैं–(१) आवश्यक (२) प्रतिज्ञात और (३) संदिग्ध। वाक्य की रीति (Modality) निश्चितता की या सम्भावना की मात्रा से नियत की जाती है और उसी से विधेय का विधिरूप में या निषेध रूप में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(१) आवश्यक (Necessary) वाक्य उसे कहते हैं जब उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध उनके स्वभाव पर स्थिर रहता है अर्थात् जो पूर्णरूप से या आवश्यक रूप से सत्य हो। जैसे 'दो से अवश्य चार होंगे' 'दो सरल समानान्तर[2] रेखाएँ कभी नहीं मिल सकतीं' इत्यादि।

(२) प्रतिज्ञात (Assertory) वाक्य वह है जिसमें उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध ऐसा है कि वह अनुभव सिद्ध है और सत्य है जहाँ तक कि हमारे अनुभव की पहुँच है और जिसमें आवश्यकता का कोई लक्ष्य नहीं। जैसे 'सब कौवे काले हैं' इसमें जहाँ तक हमारा अनुभव जाता है सब कौवे काले ही होते हैं। यह सत्य भी है और न इसमें आवश्यकता की जरूरत है इसलिये यह प्रतिज्ञात वाक्य कहलाता है।

(३) संदिग्ध (Problematic) वाक्य उसे कहते हैं जिसमें उद्देश्य और विधेय के सम्बन्ध की केवल सम्भावना होती है अर्थात् वह कुछ अवस्थाओं के अन्दर सत्य है और अन्य के अन्दर नहीं। क्योंकि इसमें सन्देह बना रहता है इसलिये यह संदिग्ध वाक्य कहलाता है। जैसे 'शायद वह कल आवे' वह आ भी सकता है

1. Modality 2. Straight parallel lines.

और नहीं भी आ सकता। उसके आने में सन्देह होने से वाक्य संदिग्ध है।

(६) विश्लेषणात्मक—संश्लेषणात्मक

तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं। (१) विश्लेषणात्मक और (२) संश्लेषणात्मक।

विश्लेषणात्मक (Analytic) वाक्य उसे कहते हैं जिसमें विधेय, केवल उद्देश्य के भावार्थ या उसके अंश मात्र को प्रकट करता है। जैसे 'सब मनुष्य समझदार हैं' इस वाक्य में विधेय उसी को प्रकट रूप में रखता है जो उद्देश्य मे अप्रकट रूप से निहित है अर्थात् मनुष्य का भावार्थ है—जीवत्व और समझदारी। इस वाक्य मे समझदारी को विधेय बनाकर जो अप्रकट रूप से उद्देश्य मे विद्यमान था, प्रकट कर रख दिया गया है। यही कारण है कि विश्लेषणात्मक वाक्य कोई नया विधेय नहीं रखता है। इसको विश्लेषणात्मक इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें उद्देश्य का विश्लेषण कर विधेय रूप में रख दिया जाता है। इस प्रकार के वाक्यों को शाब्दिक[1], आवश्यक[2] या व्याख्यानात्मक[3] भी कहते हैं। शाब्दिक इसलिये कहते हैं क्योंकि शब्द का इसमें विश्लेषण होता है। आवश्यक इसलिये कहते हैं क्योंकि आवश्यक गुणों का विधेय में उल्लेख रहता है। व्याख्यानात्मक इसलिये कहते हैं क्योंकि उद्देश्य का ही व्याख्यान विधेय में होता है।

संश्लेषणात्मक (Synthetic) वाक्य उसे कहते हैं जिसमें विधेय भावार्थ के अतिरिक्त कुछ अधिक बात को प्रकट करता है जिसको उद्देश्य का भावार्थ, प्रकट करने में असमर्थ होता है। संश्लेषणात्मक वाक्य सर्वदा उद्देश्य के विषय में नया ज्ञान पैदा

---

1. Verbal 2 Essential 3 Explicative

करता है जिसका अस्तित्व उद्देश्य में अन्तर्हित नहीं होता। जैसे, 'मनुष्य एक हँसनेवाला प्राणी है', 'राम पालतू जानवर है' इत्यादि वाक्यों में विधेय उद्देश्य के बारे में एक नई सूचना देता है जिसका ज्ञान हमें उसके भावार्थ से कदापि नहीं हो सकता था। इस प्रकार के वाक्यों को आकस्मिक[1] या अधिक ज्ञान-बोधक[2] भी कहते हैं। इनको आकस्मिक इसलिये कहते हैं क्योंकि इनमें विधेय आकस्मिक गुणों को व्यक्त करता है। तथा अधिक-ज्ञान-बोधक इसलिये कहते हैं क्योंकि इनमें विधेय अधिक ज्ञान प्रदान करता है।

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि विश्लेषणात्मक वाक्यों में विधेय उद्देश्य के सम्बन्ध में या तो सामान्य होता है या अन्तर धर्म। जैसे, 'सब मनुष्य जीव हैं' इस वाक्य में विधेय सामान्य (Genus) है। तथा 'सब मनुष्य समझदार होते हैं' यहाँ विधेय अन्तर या व्यवच्छेदक गुण (Differentia) है जो मनुष्य को अन्य जीवों से पृथक् करता है। संश्लेषणात्मक वाक्यों में विधेय उद्देश्य के सम्बन्ध में या तो भावार्थोत्पन्न होता है या आकस्मिक गुण होता है। जैसे, 'मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है' यहाँ बुद्धिमान भावार्थोत्पन्न (Property) है और 'मनुष्य हँसनेवाला जीव है' इसमें विधेय आकस्मिक (Accidental) गुण है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया जाता है और वह यह है— यदि विधेय उद्देश्य के सम्बन्ध में एक सामान्य वाक्य हो तो क्या वाक्य विश्लेषणात्मक कहलाएगा या संश्लेषणात्मक? इसका उत्तर यह है कि यदि वाक्य सामान्य है तो विधेय उद्देश्य का उप-सामान्य नहीं हो सकता और यदि वाक्य विशेष है तो विधेय

---

1 Accidental. 2 Ampliative.

उद्देश्य का उप-सामान्य हो सकता है। जैसे, 'कुछ जानदार मनुष्य है'। वेल्टन महोदय का इसमे यह मन्तव्य है कि उप-सामान्य केवल एक व्यक्ति का विधेय बन सकता है। इसमें उप-सामान्य सामान्य का सह-सम्बन्धी (Correlative) नहीं समझा गया है। बल्कि एक व्यक्ति के साथ उसका पार्थक्य दिखलाया गया है। इसलिये मानना पड़ेगा कि यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं—या तो व्यक्ति को एक व्यक्तिवाचक नाम से निर्दिष्ट किया जाय या एक सार्थक एकवचनात्मक नाम से। यदि व्यक्ति का उल्लेख व्यक्तिवाचक नाम से किया जाता है तो वाक्य संश्लेपणात्मक' कहलाएगा ; जैसे, नागार्जुन मनुष्य है, नागाचोटी पहाड़ है। क्योंकि व्यक्तिवाचक नामों का कोई भावार्थ नहीं होता इसलिये उपर्युक्त उदाहरण में विधेय, उद्देश्य के बारे में एक नया ज्ञान पैदा करता है। तथा यदि व्यक्ति एक सार्थक एक-वचनात्मक नाम है तो वाक्य प्राय विश्लेपणात्मक होता है 'यह महान् ग्रीक दार्शनिक मनुष्य है', 'ससार की सबसे बडी चोटी एक पहाड है'। इन उदाहरणों में विधेय, मनुष्य और पहाड़ के भावार्थ, उद्देश्य, दार्शनिक और सबसे बड़ी चोटी में अन्तर्भूत हैं। यह विचार सही प्रतीत होता है।

४—वाक्यों का सुगमीकरण

अंश की दृष्टि से वाक्यों का विभाजन सामान्य वाक्य और विशेष वाक्यों में किया गया है। इन दोनों प्रकार के वाक्यों को, पुन गुण की दृष्टि से विधिवाक्य और निषेध वाक्यों में विभाजन किया जा सकता है। इस प्रकार दोनों के सयोग से चार प्रकार के वाक्य बनते हैं —

वाक्य

सामान्य		विशेष	
विधि	निषेध	विधि	निषेध
(आ)	(ए)	(ई)	(ओ)

यहाँ हमने सामान्य-विधिवाक्य के लिये (आ) चिन्ह रक्खा है, सामान्य-निषेध के लिये (ए) चिन्ह रक्खा है, विशेष विधि के लिये (ई) रक्खा है तथा विशेष-निषेध के लिये (ओ) रक्खा है। क्योंकि प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय होता है इसलिए यदि उद्देश्य के लिये (उ) और विधेय के लिए (वि) संक्षिप्त रक्खे जावें तो वाक्यों का प्रुपभीकरण इस प्रकार होगा।

आ सामान्य-विधि—सब 'उ' 'वि' हैं।
ए सामान्य निषेध—कोई उ वि' नहीं है।
ई विशेष-विधि—कुछ 'उ' 'वि' हैं।
ओ विशेष निषेध—कुछ उ' वि नहीं हैं।

[अंगरेजी में इनके नाम क्रमानुसार A E, I, O हैं। इनमे A सामान्य-विधिसूचक है E सामान्य-निषेधसूचक है, I विशेष-विधि सूचक तथा O विशेष-निषेधसूचक है। अर्थात् A I विधिसूचक स्वर हैं और E, O निषेध-सूचक स्वर हैं। तथा उद्देश्य के लिये अंगरेजी शब्द है Subject और विधेय के लिए Predicate। इस लिये इनके लिये यहाँ S और P संकेत ग्रहण किये गये हैं]

तर्कशास्त्र में वाक्यों के यही चार प्रामाणिक रूप है। तर्क

सम्बन्धी विचार करने के लिये इन्हीं चार का प्रयोग किया जाता तर्कशास्त्रीय विचार के लिये यह आवश्यक है कि जितने व्यावहारिक वाक्य है उन सब का इन चार रूपों में ही परिवर्तन कर लेना चाहिये। इनके परिवर्तन के नियम आगे के अध्याय मे वर्णन किये जायँगे।

अभ्यास प्रश्न

१ निर्णय, न्याय और लौकिक वाक्य में क्या अन्तर है? स्पष्ट करो। इनमें तर्कशास्त्र किसका अध्ययन कराता है?

२ तर्कशास्त्र में वाक्य का क्या अभिप्राय है? वाक्य के अङ्ग कौन हैं? इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है?

३ वैकल्पिक वाक्य का क्या अभिप्राय है? निषेधात्मक वैकल्पिक वाक्य किस प्रकार के होंगे?

४. वाक्यों के परिणाम की दृष्टि से कितने भेद होते है? हेतुहेतुमद् वाक्यों का परिणाम किस पर निर्भर रहता है?

५. परिणाम और गुण की दृष्टि से वाक्यों के भेद करके उनके रूप, उदाहरण देकर समझाओ।

६ 'सभी वाक्य विध्यात्मक और निरपेक्ष ही होने चाहिये'—यह कहना कहाँ तक ठीक है?

७ वाक्य में पदों के द्रव्यार्थ से क्या अभिप्राय है? सिद्ध कीजिये कि विधेय पद का विस्तार वाक्य के गुण पर निर्भर रहता है।

८ विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यों से क्या मतलब है? तर्कशास्त्र में किस प्रकार के वाक्यों की विशेष उपयोगिता है?

९ एकवचनात्मक वाक्यों को सामान्य वाक्य क्यों माना है? इसके सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रतिपादन कीजिये।

१० निम्नलिखित प्रकार के वाक्यों को उदाहरणपूर्वक लिखो.—

वाक्य

सामान्य		विशेष	
विधि	निषेध	विधि	निषेध
(आ)	(ए)	(ई)	(ओ)

यहाँ हमने सामान्य-विधिवाक्य के लिये (आ) चिन्ह रक्खा है, सामान्य-निषेध के लिये (ए) चिन्ह रक्खा है विशेष-विधि के लिये (ई) रक्खा है तथा विशेष-निषेध के लिये (ओ) रक्खा है। क्योंकि प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय होता है इसलिए यदि उद्देश्य के लिये (उ) और विधेय के लिए (वि) संक्षिप्त रक्खे जावें तो वाक्यों का सुगमीकरण इस प्रकार होगा।

आ सामान्य-विधि—सब 'उ' 'वि' हैं।
ए सामान्य-निषेध—कोई 'उ वि' नहीं है।
ई विशेष-विधि—कुछ उ' 'वि' हैं।
ओ विशेष निषेध—कुछ उ' 'वि' नहीं है।

[अंगरेजी में इनके नाम क्रमानुसार A E, I, O हैं। इनमें A सामान्य-विधिसूचक है E सामान्य-निषेधसूचक है, I विशेष-विधि सूचक तथा O विशेष-निषेधसूचक है। अर्थात् A I विधिसूचक स्वर हैं और E, O निषेध-सूचक स्वर हैं। तथा उद्देश्य के लिए अंगरेजी शब्द है Subject और विधेय के लिए Predicate। इस लिये इनके लिये यहाँ S और P संक्षिप्त ग्रहण किये गये हैं]

तर्कशास्त्र में वाक्यों के यही चार प्रामाणिक रूप हैं। तर्क

सम्बन्धी विचार करने के लिये इन्हीं चार का प्रयोग किया जाता। तर्कशास्त्रीय विचार के लिये यह आवश्यक है कि जितने व्यावहारिक वाक्य हैं उन सब का इन चार रूपों मे ही परिवर्तन कर लेना चाहिये। इनके परिवर्तन के नियम आगे के अध्याय में वर्णन किये जायँगे।

अभ्यास प्रश्न

१ निर्णय, न्याय और लौकिक वाक्य में क्या अन्तर है? स्पष्ट करो। इनमें तर्कशास्त्र किसका अध्ययन कराता है?

२ तर्कशास्त्र में वाक्य का क्या अभिप्राय है? वाक्य के अङ्ग कौन हैं? इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है?

३ वैकल्पिक वाक्य का क्या अभिप्राय है? निषेधात्मक वैकल्पिक वाक्य किस प्रकार के होंगे?

४ वाक्यों के परिणाम की दृष्टि से कितने भेद होते हैं? हेतुहेतुमद् वाक्यों का परिणाम किस पर निर्भर रहता है?

५. परिणाम और गुण की दृष्टि से वाक्यों के भेद करके उनके रूप, उदाहरण देकर समझाओ।

६. 'सभी वाक्य विध्यात्मक और निरपेक्ष ही होने चाहिये'—यह कहना कहाँ तक ठीक है?

७ वाक्य में पदों के द्रव्यार्थ से क्या अभिप्राय है? सिद्ध कीजिये कि विधेय पद का विस्तार वाक्य के गुण पर निर्भर रहता है।

८ विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यों से क्या मतलब है? तर्कशास्त्र में किस प्रकार के वाक्यों की विशेष उपयोगिता है?

९ एकवचनात्मक वाक्यों को सामान्य वाक्य क्यों माना है? इसके सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रतिपादन कीजिये।

१० निम्नलिखित प्रकार के वाक्यों को उदाहरणपूर्वक लिखो.—

(क) हेतुहेतुमद् वाक्य।
(ख) वैकल्पिक वाक्य।
(ग) निरपेक्ष वाक्य।
(घ) प्रतिज्ञात वाक्य।

११ आवश्यक प्रतिज्ञात और संदिग्ध वाक्यों में अन्तर बतलाकर प्रत्येक के उदाहरण दो।

१२ 'विचार की इकाई' से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? वाक्य को विचार की इकाई क्यों माना गया है?

१३ निम्नलिखित में अन्तर बतलाओ—
(क) निर्णय और वाक्य।
(ख) शुद्ध और मिश्र।
(ग) विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक।
(घ) आवश्यक और प्रतिज्ञात।

१४ सापेक्ष वाक्यों के रूप और विशेषताएँ बतलाओ। तर्कशास्त्र में किस प्रकार के वाक्यों का अधिक उपयोग होता है?

१५. वाक्यों का सम्बन्ध और रीति की दृष्टि से वर्गीकरण करो और उनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

१६ हेतुहेतुमद् वाक्यों की रीति क्या होती है? उदाहरण देकर समझाओ।

१७ वाक्यों का सम्बन्ध की दृष्टि से वर्गीकरण करो। क्या यह कथन ठीक है कि सब वाक्यों को अवश्य ही विध्यात्मक और निरपेक्ष होना चाहिये?

१८. विधेय के परिमाण के सिद्धान्त का संक्षेप में वर्णन करो।

अध्याय ८

साधारण (व्याकरण) वाक्यों का तार्किक-वाक्यों, में परिवर्त्तन और उसके नियम

पिछले अध्याय मे यह बतलाया जा चुका है कि तार्किक वाक्य चार प्रकार के होते हैं :—आ, ए, ई, ओ। यदि कोई वाक्य इन रूपों में से किसी एक रूप में नहीं प्रकट किया गया है तो उसका तर्कशास्त्र में विचार नहीं हो सकता। अत सब साधारण वाक्यों को तार्किक-रूप मे लाना चाहिये। अब यहाँ हम कुछ अनियमित वाक्यों के ऊपर विचार करेंगे जो जनसाधारण की भाषा में या व्याकरण मे प्रयुक्त होते हैं और उन्हें किस प्रकार तार्किक वाक्यों में परिवर्तित करना चाहिये। इस प्रकरण मे जहाँ तक हो सके वाक्य के अर्थ पर विशेष ध्यान रखना चाहिये, रूप पर नहीं। रूप की भिन्नताओं के कारण विचार के सिलसिले में भ्रान्ति का बड़ा डर रहता है। जैसे, उदाहरण के लिये—

केवल एन्ट्रेन्स पास ही भरती किये जा सकते हैं।
कोई अ एन्टेन्स पास भरती नहीं किये जा सकते है।
वे ही भरती किये जा सकते हैं जो एन्ट्रेन्स पास हैं।

इन तीनों वाक्यो के रूप भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अर्थ एक ही है। इसलिये यह आवश्यक है कि सब प्रकार के वाक्यों को तार्किक ४ वाक्यों के रूपों मे ही बदल लिया जाय। इसके लिये कुछ नियम यहाँ दिये जाते हैं —

(१) सबसे पहले हमारी दृष्टि वाक्य में योजक पर जानी चाहिये। यह हम जानते हैं कि योजक वर्तमान काल में 'होना' क्रिया

(क) हेतुहेतुमद् वाक्य।

(ख) वैकल्पिक वाक्य।

(ग) निरपेक्ष वाक्य।

(घ) प्रतिज्ञात वाक्य।

११ आवश्यक प्रतिज्ञात और संदिग्ध वाक्यों में अन्तर बतलाकर प्रत्येक के उदाहरण दो।

१२ विचार की इकाई से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? वाक्य को विचार की इकाई क्यों माना गया है?

१३ निम्नलिखित में अन्तर बतलाओ—

(क) निर्णय और वाक्य।

(ख) शुद्ध और मिश्र।

(ग) विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक।

(घ) आवश्यक और प्रतिज्ञात।

१४ सापेक्ष वाक्यों के रूप और विशेषताएँ बतलाओ। तर्कशास्त्र में किस प्रकार के वाक्यों का अधिक उपयोग होता है?

१५. वाक्यों का सम्बन्ध और रीति की दृष्टि से वर्गीकरण करो और उनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

१६ हेतुहेतुमद् वाक्यों की रीति क्या होती है? उदाहरण देकर समझाओ।

१७ वाक्यों का सम्बन्ध की दृष्टि से वर्गीकरण करो। क्या यह कथन ठीक है कि सब वाक्यों का स्वरूप ही विध्यात्मक और निरपेक्ष होना चाहिये?

१८. विधेय के परिमाण के सिद्धान्त का संक्षेप में वर्णन करो।

आता है। जैसे, 'वह क्या जाने पीर पराई, जिसकी न फटी बिवाई' यहाँ सम्बन्धबोधक वाक्य 'जिसकी ... बिवाई' 'वह' की तारीफ करता है। इसलिये इसका परिवर्तन इस प्रकार करना चाहिये—'वे सब मनुष्य जिनकी बिवाइयाँ नहीं फटी हैं, मनुष्य हैं जो दूसरे की पीर का अनुभव नहीं करते'।

(५) वे वाक्य, जो, सब, सभी, हर एक, सब कोई, प्रत्येक आदि शब्दों से प्रारम्भ होते हैं उन्हे विधिवाक्य समझना चाहिये और यदि उनमे निषेधात्मक शब्द 'नहीं' लगा हो तो निषेध वाक्य समझना चाहिये और वे विशेष वाक्य होंगे।

१—विधि-वाक्य

(१) सब मनुष्य मरणशील है (आ)
(२) सभी गाय चतुष्पद हैं (आ)
(३) हर एक गलती करता है=सब गलती करते हैं (आ)
(४) सब कोई पास हुआ है=सब पास हुए हैं (आ)
(५) प्रत्येक दाने का मूल्य है=सब दाने मूल्यवान है (आ)

२—निषेध वाक्य

(१) सब चमकनेवाली वस्तुएँ सोना नहीं होती हैं=कुछ चमकनेवाली वस्तुएँ सोना नहीं होती हैं (ओ)

(२) हर एक मनुष्य बुरा नहीं होता है=कुछ मनुष्य बुरे नहीं होते हैं (ओ)

(३) सब कोई नेता नहीं बन सकता है=कुछ मनुष्य, मनुष्य नहीं हैं जो नेता बन सकते हैं।

(६) वाक्य जो बहुत से, कुछ, कोई, करीब करीब सब, एक को छोड़कर सब, कई, से आरम्भ होते हैं वे विशेष निषेध

का निषेधात्मक अव्यय 'नहीं' के साथ या बिना उसके वाक्य में प्रयोग किया जाता है। यह देखा जाता है कि वाक्यों में यह योजक अलग नहीं प्रयोग किया जाता; किन्तु प्रायः विधेय की मुख्य क्रिया के साथ मिला रहता है। इस प्रकार के वाक्यों में यह आवश्यक है कि योजक को अलग निकाल लेना चाहिये जिससे वाक्य के गुण और अंश निश्चित किये जा सकें। जैसे 'गुणवानों का आदर होना चाहिये' यह वाक्य तार्किक रूप में इस प्रकार होगा—गुणवान जिनका आदर होना चाहिये मनुष्य हैं।

(२) निषेधात्मक वाक्यों में हम देखते हैं कि निषेध का चिन्ह योजक से लगा रहता है। अंगरेजी मे सामान्य निषधात्मक वाक्यों में निषेधात्मक अव्यय, वाक्य के पहले रखा जाता है और उससे उसका भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है किन्तु उन वाक्यों में जिनमें उद्देश्य निश्चित एक वचनात्मक है, निषेध का चिन्ह, योजक से लगा रहता है। इसलिये जिन वाक्यों में निषेध का चिन्ह विधेय के साथ लगा रहता है उसे अलग कर देना चाहिये—जैसे, 'उसे सफलता नहीं मिल सकती'। इसका तार्किक रूप यह होगा 'वह एक मनुष्य नहीं है जिसे सफलता मिल सकती है। उसी प्रकार "अकर्मण्य जीवन में सफल नहीं हो सकते' का परिवर्तन वे अकर्मण्य मनुष्य नहीं हैं जो सफल हो सकते हैं' में होगा।

(३) कभी-कभी ज़ोर देने के लिये विषय को पहले रख देते हैं। उसका भी परिवर्तन इस प्रकार करना चाहिये। जैसे 'सफल होते हैं कर्मवीर' —कर्मवीर सफल होते हैं। 'था कोलाहल अधिक वहाँ'—कोलाहल एक वस्तु है जो वहाँ अधिक थी।

(४) कभी-कभी उद्देश्य का विधेय में भ्रम हो जाता है विशेष रूप से जब वाक्य में एक सम्बन्ध-वाक्य होता है जो कर्ता या उद्देश्य की तारीफ करता है और वाक्य के अन्त में

के विद्यार्थी नहीं हो सकते हैं।   (ए)

तीसरा प्रकार उक्त वाक्य को (ई) में प्रकट करने का है। इसके अनुसार—केवल प्रथमा उत्तीर्ण विद्यार्थी ही इस विद्यालय के छात्र हो सकते हैं=कुछ प्रथमा उत्तीर्ण विद्यार्थी इस विद्यालय के छात्र हो सकते हैं (ई)। अन्य उदाहरणः—

(१) विद्वान ही की वास्तव में पूजा होती है। यह बराबर है=

(क) जिनकी वास्तव में पूजा होती है वे विद्वान हैं। (आ)

(ख) अविद्वान की पूजा नहीं (होती) है।   (ए)

(ग) कुछ विद्वान की पूजा (होती) है।   (ई)

(२) सिर्फ सत्यवक्ता विश्वासपात्र होते हैं। यह बराबर है=

(क) सब मनुष्य जो विश्वासपात्र होते हैं सत्यवक्ता हैं (आ)

(ख) असत्यवक्ता विश्वासपात्र नहीं हैं   (ए)

(ग) कुछ सत्यवक्ता विश्वास पात्र हैं।   (ई)

(६) **कुछ वाक्य अपवादात्मक होते हैं। जिन वाक्यों में विधेय समग्र उद्देश्य को, कुछ को छोड़ कर, विधि करता है उन्हें अपवादात्मक वाक्य कहते हैं।** वाक्य जिनमें अपवाद या छूट निश्चित हैं उन्हें विशेष वाक्य समझना चाहिये। जैसे—

(क) सभी वकील, गोविन्ददास को छोड कर अच्छे हैं (आ)

(ख) एक को छोड कर सभी अध्यापक योग्य हैं (ई)

(१०) **एकवचनात्मक जितने वाक्य हैं यदि उनके उद्देश्य खास एकवचनात्मक पद हैं तो उनको 'सामान्य' वाक्य के रूप में ग्रहण करना चाहिये और यदि उद्देश्य अनिश्चित है तो उन्हें विशेष मानना चाहिये।** विध्यात्मक और निषेधात्मक तो वे "नहीं" के रहने और न रहने से हो जाते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान् शासक था   (आ)

(Exclusive) वाक्य कहलाते हैं। इस प्रकार के वाक्यों का भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तन किया जाता है।

एक प्रकार तो यह है कि निवारक वाक्यों को (आ) के रूप में परिवर्तित कर लिया जाय और इसके लिये वाक्य में दिये हुए उद्देश्य और विधेय को विपर्यय के सम्बन्ध में रख देना चाहिये।

जैसे—केवल प्रथमा[1] उत्तीर्ण विद्यार्थी ही इस विद्यालय के छात्र हो सकते हैं=इस विद्यालय के सब विद्यार्थी प्रथमा उत्तीर्ण हैं। (आ)

इस प्रक्रिया में यह ध्यान रखना चाहिये कि वाक्य का अर्थ न बिगड़ जाय। उपर्युक्त वाक्य का यह कदापि अर्थ नहीं हो सकता कि सब प्रथमा उत्तीर्ण विद्यार्थी इस विद्यालय के छात्र हैं। जिन विद्यार्थियों ने अन्य विद्यालयों में अध्ययन आरम्भ किया है तथा जिन्होंने पढ़ना छोड़ दिया है, इस विद्यालय के छात्र नहीं हो सकते किन्तु जिन्होंने इस विद्यालय में प्रवेश[2] लिया है वे अवश्य ही प्रथमा उत्तीर्ण होने चाहिये। कुछ तार्किक इस प्रक्रिया पर आपत्ति प्रकट करते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह व्यवहारिक वाक्य का तार्किक वाक्य में परिवर्तन नहीं है, किन्तु एक प्रकार का अनुमान है जिसको व्यवयम या समान्तरानुमान कहते हैं।

दूसरी प्रक्रिया (ए) में परिवर्तन करने की है। इसमें दिये हुए उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी उद्देश्य पद, उद्देश्य के स्थान में रख सकते हैं और विधेय में कोई परिवर्तन नहीं करते। इस प्रक्रिया के अनुसार यह रूप होगा।

जैसे, केवल प्रथमा उत्तीर्ण विद्यार्थी ही इस विद्यालय के छात्र हो सकते हैं=प्रथमा उत्तीर्ण विद्यार्थी इस विद्यालय

---

1 Entrance 2. Admission.

२—वाक्य में पदों का विस्तार

वाक्य में पदों के विस्तार का सिद्धान्त बड़ा उपयोगी है। बिना इसके हम अनुमान ठीक-ठीक नहीं कर सकते। अतः इसका यहाँ विचार किया जायगा। वाक्य में पदों का विस्तार (Distribution of Terms) से हमारा अभिप्राय यह है कि जिस पद का हम विस्तार ले रहे हैं वह अपने समग्र द्रव्यार्थ में समझा जा रहा है या नहीं अर्थात् उसके प्रत्येक अंश से उसका सम्बन्ध है या नहीं? सामान्य वाक्यों में उद्देश्य पद अपने समग्र द्रव्यार्थ में लगाया जाता है। यह सामान्य वाक्य के आरम्भ में आनेवाले, 'सब', या 'कोई' पद से व्यक्त होता है। विशेष वाक्यों में उद्देश्य पद अपने असमग्र द्रव्यार्थ में लगाया जाता है। यह विशेष वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त 'कुछ' शब्द से स्पष्ट होता है। तार्किकों की भाषा में हम इस प्रकार कहेंगे कि उद्देश्य-पद सामान्य वाक्यों में समग्र द्रव्यार्थी (Distributed) होता है तथा विशेष वाक्यों में असमग्र द्रव्यार्थी (Undistributed) होता है। यहाँ यह उपयुक्त होगा कि हम, जो चार प्रकार के तार्किक वाक्य हैं—आ, ए, ई, ओ—उनके उद्देश्य और विधेयों में कौन समग्र द्रव्यार्थी हैं और कौन असमग्र द्रव्यार्थी हैं— इसे समझ लें।

'आ' वाक्य का अथवा सामान्य विधिवाक्य का यह रूप है— सब 'उ' 'वि' हैं=सब मनुष्य मरणशील हैं। यहाँ यह बिलकुल स्पष्ट है कि उद्देश्य पद अपने पूरे द्रव्यार्थ में लिया गया है अर्थात् ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो मरणशील न हो। किन्तु विधेय पद पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि विधेय पद अपने समग्र द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है क्योंकि जितने प्राणी मरणशील हैं वे सब मनुष्य ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। विधेय पद यहाँ असमग्र द्रव्यार्थ का द्योतक

अलक्षेंद्र[1] महान् योद्धा नहीं था (ए)

एक भारतीय ने विदेश में धर्म-प्रचार किया था

= कुछ भारतीयों ने विदेश में धर्म-प्रचार किया था। (ई)

एक विद्यार्थी भला नहीं है। (ओ)

(११) प्रश्नवाचक वाक्यों का परिवर्तन शब्दों में विहित होता है। यदि थोड़ा सा भी अर्थ पर विचार किया जाय तो तुरन्त उत्तर मिल जाता है और इस प्रकार उनका परिवर्तन बड़ी सरलता से हो जाता है—क्या कोई मनुष्य है जो विद्रोही होगा?

= कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो विद्रोही होगा। (ए)

क्या कोई भारतीय है जिसे मातृभूमि का गौरव न हो?

कोई ऐसा भारतीय नहीं है जिसे मातृभूमि का अगौरव हो। (ए)

(१२) कुछ वाक्य ऐसे हैं जो जनसाधारण की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। उनमें कर्ता या उद्देश्य लुप्त रहता है। उन्हें निरुद्देश्य वाक्य कहा जा सकता है। जैसे 'पानी ठंडी है' 'दिन है' 'बारह बजे हैं'। इन वाक्यों में हम उद्देश्य को लगाकर पूर्ति कर देनी चाहिये। पानी ठंडी है = आज पानी ठंडी है। दिन है = यह समय दिन का है। बारह बजे हैं = यह समय बारह बजने का है इत्यादि।

अन्त में यह कहना उचित होगा कि साधारण वाक्यों का तार्किक वाक्यों में परिवर्तन करने के लिये सारे नियमों का देना असम्भव है, क्योंकि वाक्यों के प्रकारों का कोई अन्त नहीं है तथा बारह नियम अभी दिये गये हैं जिनके द्वारा बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार का परिवर्तन करते समय वाक्य का अर्थ तो नहीं बदलता, अन्यथा उससे जो निष्कर्ष या परिणाम निकाला जायगा वह गलत होगा।

---

1 Alexander

२—वाक्य में पदों का विस्तार

वाक्य में पदों के विस्तार का सिद्धान्त बड़ा उपयोगी है। बिना इसके हम अनुमान ठीक-ठीक नहीं कर सकते। अत. इसका यहाँ विचार किया जायगा। वाक्य में पदों का विस्तार (Distribution of Terms) से हमारा अभिप्राय यह है कि जिस पद का हम विस्तार ले रहे हैं वह अपने समग्र द्रव्यार्थ मे समझा जा रहा है या नहीं अर्थात् उसके प्रत्येक अश से उसका सम्बन्ध है या नहीं ? सामान्य वाक्यों में उद्देश्य पद अपने समग्र द्रव्यार्थ में लगाया जाता है। यह सामान्य वाक्य के आरम्भ में आनेवाले, 'सब', या 'कोई' पद से व्यक्त होता है। विशेष वाक्यों में उद्देश्य पद अपने असमग्र द्रव्यार्थ मे लगाया जाता है। यह विशेष वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त 'कुछ' शब्द से स्पष्ट होता है। तार्किकों की भाषा मे हम इस प्रकार कहेंगे कि उद्देश्य-पद सामान्य वाक्यो में समग्र द्रव्यार्थी (Distributed) होता है तथा विशेप वाक्यों में असमग्र द्रव्यार्थी (Undistributed) होता है। यहाँ यह उपयुक्त होगा कि हम, जो चार प्रकार के तार्किक वाक्य हैं—आ, ए, ई, ओ—उनके उद्देश्य और विधेयों में कौन समग्र द्रव्यार्थी हैं और कौन असमग्र द्रव्यार्थी हैं—इसे समझ लें।

'आ' वाक्य का अथवा सामान्य विधिवाक्य का यह रूप है—सब 'उ' 'वि' है—सब मनुष्य मरणशील हैं। यहाँ यह बिलकुल स्पष्ट है कि उद्देश्य पद अपने पूरे द्रव्यार्थ मे लिया गया है अर्थात् ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो मरणशील न हो। किन्तु विधेय पद पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि विधेय पद अपने समग्र द्रव्यार्थ मे नहीं लिया गया है क्योंकि जितने प्राणी मरणशील हैं वे सब मनुष्य ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। विधेय पद यहाँ असमग्र द्रव्यार्थ का द्योतक

है। इस लिये यह नियम है कि 'आ' वाक्यों में, उद्देश्य समग्र प्रव्याप्त होता है और विधेय, असमग्र प्रव्याप्त होता है।

'ए' वाक्य अर्थात् सामान्य निषेध वाक्यों का यह रूप है—कोई 'उ', 'वि' नहीं है—कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है। इसमें दोनों उद्देश्य और विधेय अपने समग्र प्रव्याप्त में लिये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जो जातियाँ उद्देश्य और विधेय रूप में यहाँ उपस्थित हैं वे परस्पर एक दूसरे की सर्वथा व्यावर्तक हैं। उपर्युक्त वाक्य में 'मनुष्य' और 'पूर्णता' में आत्यन्तिक विरोध है अर्थात् दोनों पद समग्र प्रव्याप्त में लिये गये हैं। इससे यह नियम निकलता है कि सामान्य निषेध वाक्यों में उद्देश्य और विधेय दोनों समग्र प्रव्याप्त होते हैं।

'ई' वाक्य अर्थात् विशेष विधिवाक्यों का रूप यह है—कुछ 'उ', 'वि' हैं—कुछ मनुष्य ईमानदार हैं। इस वाक्य पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि दोनों उद्देश्य और विधेय यहाँ असमग्र प्रव्याप्त में लिये गये हैं। अतः यह नियम निकलता है कि 'ई' वाक्यों में न तो उद्देश्य और न विधेय ही समग्र प्रव्याप्त में लिया जाता है अर्थात् दोनों असमग्र प्रव्याप्त होते हैं।

'ओ' वाक्य अर्थात् विशेष निषेध-वाक्यों का रूप यह है—कुछ 'उ', 'वि' नहीं हैं—कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं। यहाँ यह तो स्पष्ट है कि उद्देश्य असमग्र प्रव्याप्त है यानी वह अपने पूरे विस्तार में नहीं लिया गया है किन्तु यदि विधेय पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वह अपने पूरे विस्तार में लिया गया है। यहाँ विधेय समग्र उद्देश्य के बारे में पूर्ण निषेध करता है अन्यथा निषेध का कोई अर्थ न होगा। यदि असमग्र प्रव्याप्त मानें तो भी निषेध का कोई अर्थ नहीं है। अतः यह नियम निकलता है कि विशेष-निषेध वाक्यों

में यानी 'ओ' में उद्देश्य असमग्र द्रव्यार्थी होता है किन्तु विधेय समग्र द्रव्यार्थी होता है।

संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि **सामान्य वाक्य अपने उद्देश्यों को समग्र द्रव्यार्थ में बाँटते हैं किन्तु विशेष वाक्य अपने उद्देश्यों को समग्र द्रव्यार्थ में नहीं बाँटते हैं तथा निषेधात्मक वाक्य अपने विधेयों को समग्र द्रव्यार्थ में बाँटते हैं विधि-वाक्य अपने विधेयों को समग्र द्रव्यार्थ में नहीं बाँटते हैं।**

अत.—

'आ'[1] उद्देश्य को केवल समग्र द्रव्यार्थ में लेता है।

'ए'[2] उद्देश्य और विधेय दोनों को समग्र द्रव्यार्थ में लेता है।

'ई'[3] न तो उद्देश्य को और न विधेय को समग्र द्रव्यार्थ में लेता है।

'ओ'[4] उद्देश्य को नहीं लेता है किन्तु विधय को समग्र द्रव्यार्थ में लेता है।

निम्नलिखित तालिका, वक्‍ाय के पदों के विस्तार के भाव को और भी स्पष्ट कर देगी :—

---

1 'A' distributes its subject only

2. 'E' distributes both, subject and predicate

3. 'I' distributes none

4. 'O' distributes its predicate only.

	विधि		निषेध	
	उद्देश्य	विधेय	उद्देश्य	विधेय
सामान्य	समग्र प्रम्यार्थी	असमग्र प्रम्यार्थी	समग्र प्रम्यार्थी	समग्र प्रम्यार्थी
विशेष	असमग्र प्रम्यार्थी	असमग्र प्रम्यार्थी	असमग्र प्रम्यार्थी	असमग्र प्रम्यार्थी

उपर्युक्त तर्कशास्त्र चार वाक्य आ, ए, ई, ओ में उद्देश्य का तो परिमाण स्पष्ट रूप से उल्लिखित है किन्तु विधेय के परिमाण का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यदि विधेय के भी प्रम्यार्थ का स्पष्ट निर्देश किया जाय तो वाक्य के ८ रूप हो सकते हैं। इस मत के माननेवाले विशेषरूप से हेमिल्टन हैं जिनके सिद्धान्तानुसार निम्नलिखित आठ रूप हैं :—

इगलिश संकेत		संकेत
(१) U पूर्ण + पूर्ण + विधि-वाक्य	सब 'उ' सब 'वि' हैं	आ + आ + वि
(२) A पूर्ण + अपूर्ण + विधि-वाक्य	सब 'उ' कुछ 'वि' हैं	आ + ई + वि
(३) Y अपूर्ण + पूर्ण + विधि-वाक्य	कुछ 'उ' सब 'वि' हैं	ई + आ + वि
(४) I अपूर्ण + अपूर्ण + विधि-वाक्य	कुछ 'उ' कुछ 'वि' हैं	ई + ई + वि
(५) E पूर्ण + पूर्ण + निषेध-वाक्य	कोई 'उ' कोई 'वि' नहीं हैं	आ + आ + नि
(६) π पूर्ण + अपूर्ण + निषेध-वाक्य	कोई 'उ' कुछ 'वि' नहीं हैं	आ + ई + नि
(७) O अपूर्ण + पूर्ण + निषेध-वाक्य	कुछ 'उ' कोई 'वि' नहीं हैं	ई + आ + नि
(८) ω अपूर्ण + अपूर्ण + निषेध-वाक्य	कुछ 'उ' कुछ 'वि' नहीं हैं	ई + ई + नि

हेमिल्टन महोदय ने इनमें जो आ + आ + वि, आ + ई + वि आदि संकेत निश्चित किये हैं उनमें 'आ' का अर्थ है समग्र द्रव्यार्थी, 'ई' का अर्थ है असमग्र द्रव्यार्थी, 'वि' का विध्यात्मक और 'नि' का निषेधात्मक अर्थ है। इससे आ + आ + वि का अर्थ हुआ कि यह वाक्य विधि-वाचक है जिसके दोनों पद अर्थात् उद्देश्य और विधेय पद समग्र द्रव्यार्थी हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि यह विधेय के परिमाण का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है क्योंकि यह प्रक्रिया अधिक कष्टकारक है। इनके वास्तविक उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(१) सब त्रिभुज सब तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र हैं।
(२) सभी हाथी कुछ पशु हैं।
(३) कुछ पशु सभी हाथी हैं।
(४) कुछ भारतीय नीतिज्ञ हैं।
(५) कोई कव्वा कोई गरुड़ नहीं है।
(६) कोई मनुष्य कुछ मायावी नहीं हैं।
(७) कुछ मनुष्य कोई नेता नहीं हैं।
(८) कुछ मनुष्य कुछ देशभक्त नहीं हैं।

आर्चबिशप थॉमसन (Archwishop Thompson) के संकेत चिन्ह U आदि तालिका में ही दे दिये गये हैं। ये भी ठीक नहीं हैं क्योंकि थॉमसन ने स्वयं बाद में यह विचार कर कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय पद कभी असमग्र प्रम्मायी नहीं होते—इनको अमुक बतलाया है। इसके अतिरिक्त यदि सभी विधेय पद बिलकुल प्रम्मार्थ ही प्रकट करते तो हेमिल्टन महोदय का सिद्धान्त ठीक बैठता; किन्तु ऐसा नहीं मालूम होता। विधि-वाक्यों में विधेय पद मात्रार्थबोध में ही समझना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ 'सभी मनुष्य मरणशील हैं', 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं' इन वाक्यों में से प्रथम वाक्य में यह समझना कि संसार में जितने मरणधर्मवाले पदार्थ हैं उनमें सभी *मनुष्य सम्मिलित हैं और इनके अतिरिक्त और किसी के मरणधर्मत्व* की बात ही मन में पैदा नहीं होती। तथा दूसरे वाक्य में जितने बुद्धिमान पुरुष हैं उनमें कुछ मनुष्य सम्मिलित हैं और पशु वगैरह का ध्यान ही नहीं आता—ऐसा नहीं है। हाँ यह अवश्य ध्यान में आता है कि 'सभी मनुष्य मरनेवाले हैं', 'कुछ मनुष्य बुद्धिवाले हैं'। अतः विधेय पद के विचार करने का इन वाक्यों में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। तथा इसके रूप पर जब हम विचार करते हैं तो और भी गड़बड़ पैदा हो जाती है। जैसे आ + ई + वि = सभी बैल कुछ पशु हैं। यहाँ पशु

का या अर्थ है ? बिल्ली, कुत्ते भी तो कुछ पशु कहे जा सकते हैं। तो क्या इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है ? सभी बैल, कुत्ते बिल्ली इत्यादि हैं। कुछ ऐसे भी वाक्य हैं जिन पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वे एक वाक्य न होकर दो प्रतीत होते हैं, जैसे, आ + आ + वि सब 'उ', 'वि' हैं। इसमें दो वाक्य प्रतीत होते हैं— अर्थात् सब 'उ', 'वि' है + सब 'वि', 'उ' है। अतः यह निश्चित है कि इस प्रकार विधेय पद का द्रव्यार्थ निश्चित कर देने से कठिनाइयाँ अधिक पैदा हो जायँगी। सरलता इसीमें है कि विधेय पद के द्रव्यार्थ का निश्चय उसके गुणों के आधार पर ही होना चाहिये। विधि-वाक्य के विधेय पद असमग्र द्रव्यार्थी होते हैं और निषेध वाक्यों के विधेय पद समग्र द्रव्यार्थी होते हैं। इस कारण वाक्यों के चार भेद—आ, ए, ई, ओ—मानना ही तर्कसंगत है।

३—चार प्रकार के वाक्यों का मानचित्रों द्वारा प्रदर्शन

भावों को मानचित्रों द्वारा प्रकट करने की प्रथा बहुत प्राचीन है। तर्क-शास्त्रियों ने भी इसका अवलम्बन किया है। यूलर (Eulor) महोदय एक विख्यात स्विट्जरलैण्ड के तार्किक अठारहवीं सदी में हुए हैं। उन्होंने यह प्रक्रिया—चार प्रकार के वाक्यों का मानचित्रों द्वारा प्रदर्शन—निकाली थी। इन मानचित्रों से उद्देश्य और विधेय का परस्पर सम्बन्ध व्यक्त किया जाता है। जिस सम्बन्ध को केवल बुद्धि से समझने का प्रयत्न किया जाता है उसमें कठिनाई होती है जब उनका चित्र सामने उपस्थित हो जाता है तो बिलकुल सरल हो जाता है। इस प्रक्रिया में दो चक्र बनाए जायँगे। उनमें एक उद्देश्य के लिये होगा और दूसरा विधेय के लिये और दोनों को एक दूसरे पर रखकर या अलग-अलग करके चारों वाक्यों, अर्थात् आ, ए, ई, ओ को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया जायगा।

आ=सामान्य विधिवाक्य,
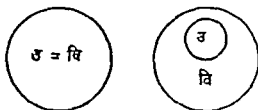
यहाँ 'उ' तो उद्देश्य के लिये और 'वि' विधेय के लिये ग्रहण किया गया है और दोनों पदों को उनके द्रव्यार्थ में समझने का प्रयत्न किया गया है।

इन दो चित्रों से प्रथम वाक्य 'आ' का स्पष्ट प्रदर्शन होता है। क्योंकि 'आ' वाक्य में यह हो सकता है कि उद्देश्य और विधेय दोनों का द्रव्यार्थ बराबर हो तो यहाँ दोनों वृत्त एक दूसरे को घेर लेंगे और उन्हें हम समव्याप्तिक भी कह सकते हैं। जैसे, सब त्रिभुज तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र हैं। बनारस काशी है। कोहनूर सर्वश्रेष्ठ हीरा है। इन वाक्यों में उद्देश्य और विधेय दोनों के द्रव्यार्थ सम या बराबर हैं। इस भाव को व्यक्त करनेवाला प्रथम मानचित्र है। द्वितीय मानचित्र 'आ' को ही प्रकट करता है किन्तु इसमें विधेय के वृत्त में उद्देश्य का चित्र पूर्णरूप से प्रविष्ट है। इसलिये इसमें 'उ' तो अपने समग्र द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है और विधेय 'वि' का द्रव्यार्थ अनिश्चित है अर्थात् उसको असमग्र द्रव्यार्थ में लिया गया है। जैसे "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं"। इस वाक्य में मनुष्य तो उपसामान्य होने से समग्र द्रव्यार्थी है किन्तु मरणधर्मत्व तो सामान्य है इसलिये वह असमग्र द्रव्यार्थी है। क्योंकि मनुष्य को छोड़कर और जीव भी हैं जो मरणधर्मा हैं।

ए = सामान्य निषेध वाक्य,
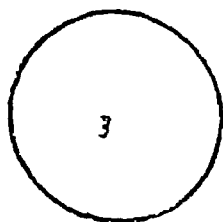
'ए' वाक्य का प्रदर्शन इस चित्र द्वारा होता है। इस चित्र में दो चक्र अलग-अलग बने हुए हैं जिसका अर्थ यह है कि उद्देश्य और विधेय सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों मे केवल आत्यन्तिक विरोध का ही सम्बन्ध हो सकता है। जैसे, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है। यदि मनुष्य का चक्र 'उ' है तो 'वि' जो पूर्णत्व का द्योतक चक्र है—उन दोनों में पूर्ण विरोध दिखलाता है। इसलिये यहाँ 'उ' भी समग्र-द्रव्यार्थी है और 'वि' भी समग्र द्रव्यार्थी है और दोनों आपस में अलग अलग हैं।

ई = विशेष विधिवाक्य

उ वि

उ
वि

वि
उ

उ वि
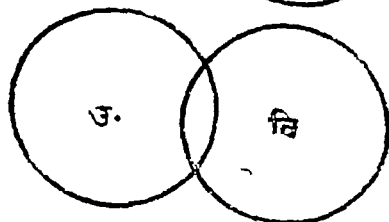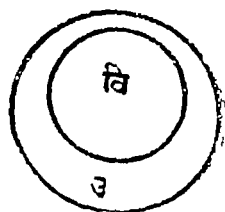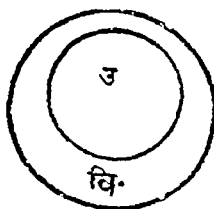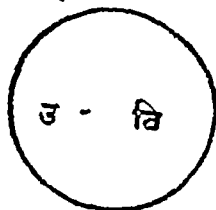
'ई' वाक्य के मानचित्र कई हैं और इनमें चार प्रकार के सम्बन्ध बतलाए गये हैं। पहले में तो 'उ' और 'वि' बराबर हैं। दूसरे में 'वि' के वृत्त में 'उ' अनुप्रविष्ट है। तीसरे में 'उ' के वृत्त में 'वि' का अनुप्रवेश है तथा चौथे में कुछ हिस्सा 'उ' का 'वि' में है। और कुछ हिस्सा 'वि' का 'उ' में है। इससे ध्वनित होता है कि 'ई' का सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। यह हम जानते हैं कि 'ई' में उद्देश्य और विधेय दोनों असमग्र प्रमार्थी होते हैं। अतः इसका प्रदर्शन कई प्रकार से हो सकता है। इसका मुख्य उदाहरण यह है 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं'' इसको उपर्युक्त सभी चित्रों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। तथा अन्य वाक्य इसी प्रकार के बन सकते हैं जैसे 'कुछ भारतीय दाक्षिणात्य हैं'। 'कुछ गायें कृष्ण हैं' इत्यादि। तर्कशास्त्र में 'कुछ' का अर्थ 'समग्र' के प्रश्न को सर्वदा खुला छोड़ता है इसलिये 'कुछ' 'उ' 'वि' हैं, यह वाक्य प्रथम मानचित्र से प्रकट हो सकता है जिसमें सब 'उ' सब 'वि' हैं, तथा दूसरे से प्रकट हो सकता है जिसमें 'सब 'उ' कुछ वि' हैं तथा तीसरे से प्रकट हो सकता है जिसमें सब' 'उ' कुछ 'वि' हैं तथा चौथे से प्रकट किया जा सकता है जिसमें कुछ उ कुछ 'वि' हैं।

ओ = विशेष निषेध वाक्य
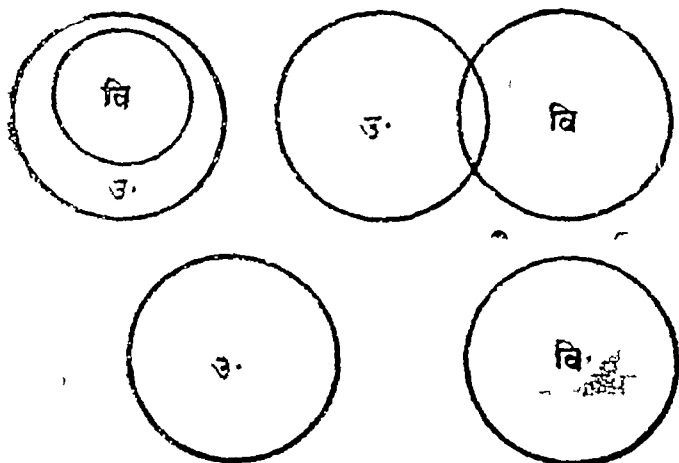
'ओ' वाक्य का प्रदर्शन तीन चित्रों द्वारा किया गया है। प्रथम चित्र प्रकट कर रहा है कि विधेय उद्देश्य में अन्तर्भूत है। अर्थात् विधेय समग्र-द्रव्यार्थी है और उद्देश्य असमग्र द्रव्यार्थी है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि—कुछ मनुष्य ईमानदार नहीं हैं। इसमें कुछ मनुष्यों का ईमानदारो से कुछ सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे उनसे सर्वथा पृथक् है। इसलिये प्रथम चक्र इस बात का द्योतक है कि कुछ मनुष्यों का ईमानदारों से विरोध है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि तर्कशास्त्र में 'कुछ' पद के अर्थ से 'सब' का अर्थ खुला रहता है इसलिये अन्य मानचित्र में भी इस अर्थ को द्योतित कर सकते है। जैसे द्वितीय चित्र मे तो दोनों पद उद्देश्य विधेय, कुछ के अर्थ में लिये गये है तथा तीसरे चित्र में दोनों का पृथक् सम्बन्ध, जो 'ओ' वाक्य में सम्भव है यदि दोनों के अत्यन्त विरोध का सम्बन्ध ग्रहण किया जाय, बतलाया गया है।

मूलर महाशय का यह मानचित्रों द्वारा चारों प्रकार के वाक्यों का प्रदर्शन, हमें उनके ज्ञान कराने में बड़ी सुगमता पैदा करता है किन्तु यह प्रश्न उठता है—क्या सब वाक्य इस प्रकार दिखलाए जा सकते हैं ? उत्तर मिलता है 'नहीं'। कुछ वाक्य ऐसे हैं जिनका इस प्रकार प्रदर्शन करना अत्यन्त कठिन है। उनको तो भावार्थ में ही समझना चाहिये द्रव्यार्थ में नहीं। जैसे; 'आपकी बात सच नहीं है', 'मिश्री का रस अधिक मीठा है'—ये वाक्य ऐसे हैं कि यदि इनके अर्थों को द्रव्यार्थ में समझने का प्रयत्न किया जाय तो हम असफल होंगे क्योंकि इनमें विशेष-सामान्य का सम्बन्ध नहीं है, यहाँ तो भाव और भाववान् का सम्बन्ध है। इसलिये इनका अर्थ भावार्थ में समझना चाहिये तभी ठीक होगा। अतः मूलर महोदय का यह प्रयत्न लाभदायक होता हुआ भी पूर्ण नहीं है।

अभ्यास प्रश्न

१ साधारण वाक्यों को तर्कवाक्यों में क्यों परिवर्तित करना चाहिये ? यदि साधारण वाक्यों के आधार पर ही तर्क किया जाय तो क्या आपत्ति होगी ?

२ वाक्य में योजक का क्या स्थान है ? क्या वाक्य विध्यात्मक ही हो सकते हैं या निषेधात्मक भी ?

३ कुछ, कोई सभी विरले बहुतेरे और अधिकांश शब्दों से किस प्रकार के वाक्य बनते हैं ? उदाहरण देकर स्पष्ट समझाओ।

४ निम्नलिखित वाक्य सामान्य हैं या विशेष ?
   (क) दूध का जला छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है।
   (ख) तमाम गलतियों का मूल मनुष्य है।
   (ग) पुस्तकें प्रायः लाभप्रद होती हैं।
   (घ) पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ घूमती है।
   (ङ) आजकल कोई भी देश आर्थिक दबाव से बचा नहीं है।

५. यूलर महोदय के मानचित्रों से तुम क्या समझते हो ? क्या ये वाक्यों के भाव को प्रकट करने में समर्थ हैं ?

६. विशेष विधिवाक्य कितने चित्रों से प्रकट किया जा सकता है ? स्पष्ट रूप से समझाओ।

७. वाक्य में पदों के विस्तार से क्या अभिप्राय है ? प्रत्येक वाक्य के पदों का अलग-अलग विस्तार बतलाओ।

८ आर्चविशप थॉमसन की संकेत प्रकिया से तुम कहाँ तक सहमत हो ? इसका उदाहरण पूर्वक विवेचन करो।

९. 'निवारक' वाक्य किसे कहते हैं ? उन्हें तार्किक वाक्यों में किस प्रकार परिवर्तित करना चाहिये।

१० निम्नलिखित वाक्यो को तार्किक वाक्यों में परिवर्तित करो—

(१) वर्षा हो रही है।

(२) सभी वकील बदमाश नहीं होते।

(३) केवल पठित ही वोट देने योग्य हैं।

(४) केवल मैट्रिक पास ही भर्ती किये जायँगे।

(५) गलती करना मनुष्य का स्वभाव है।

(६) थोड़े ही मनुष्य विख्याति प्राप्त करते हैं।

(७) अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता।

(८) इन्द्रिय विजयी वीर होता है।

(९) सबसे होशियार लड़के को छोड़कर बाकी सब फेल हो गये।

(१०) प्रत्येक उत्तर अच्छा उत्तर नहीं होता।

(११) कुछ मनुष्य नहीं आये थे।

(१२) जिसकी न फटी बिवाई वह क्या जाने पीर पराई।

(१३) पत्थरों की दीवालों से कारागृह नहीं बना करता।

(१४) प्रायः सभी कक्षा में उपस्थित थे।

(१५) हर कोई पारितोषिक पाने योग्य नहीं होता।

अध्याय १

१—विधान के सिद्धान्त और वाक्यों का तात्पर्य

'वाक्य का क्या स्वरूप है?' इस विषय में तर्कशास्त्रियों के अलग-अलग विचार हैं। प्रत्येक वाक्य उद्देश्य और विधेय पदों में या तो कोई सम्बन्ध स्थापित करता है या उनमें विरोध दिखलाता है। जहाँ तक सम्बन्ध का ताल्लुक है वह कई प्रकार का होता है। यहाँ हमें यह देखना है कि उद्देश्य और विधेय के मध्य में क्या सम्बन्ध है? तथा साथ-साथ यह भी विचार करना है कि वाक्य पूर्ण रूप से किसका निर्देश करता है। क्या यथार्थ वस्तुओं का निर्देश करता है या केवल 'नाम' का निर्देश करता है या विचारों का निर्देश करता है?

२—विधान के सिद्धान्त

विधान के सिद्धान्त[1] का विचार करते समय सबसे प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि वाक्यगत उद्देश्य का क्या अर्थ है? और वाक्यगत विधेय का क्या अर्थ है? तथा वाक्य में आए हुए उद्देश्य और विधेय दोनों के बीच सम्बंध का क्या अर्थ है? इस विषय में तार्किकों के अनेक मत हैं। उनका पर्यालोचन यहाँ किया जाता है।

(१) विधानवाद (Predicative View) के अनुसार वाक्य का उद्देश्य उसके गुणार्थ में ग्रहण किया जाता है और विधेय उसके भावार्थ में ग्रहण किया जाता है। तथा वाक्य का

1 Theories of Predication.

अर्थ यह होता है कि जो भाव या गुण विधेय ने प्रगट किया है उसका उद्देश्य के बारे मे या तो विधान किया जाता है या निषेध किया जाता है। उदाहरणार्थ 'मनुष्य मरणधर्मा है' इस वाक्य का अर्थ यह है कि मनुष्य नाम से प्रतिबोधित होने वाले जितने भी व्यक्ति हैं उन सबमे मरणधर्म विद्यमान है। उसी प्रकार, 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' इसमे जो पूर्णत्व का गुण या भाव है वह मनुष्य नामक किसी व्यक्ति में नहीं पाया जायगा। इस वाद के प्रधान माननेवाले मार्टिनो (Martineau) और वेन (Venn) हैं। इनके अनुसार वाक्य वस्तु और उसके भाव को प्रकट करता है। साधारण तौर से यह विचार अधिक लोगों को मान्य है।

(२) **द्रव्यार्थवाद** (Denotative view) **के अनुसार दोनों उद्देश्य और विधेय अपने द्रव्यार्थ में ग्रहण किये जाते हैं** तथा वाक्य का अर्थ होता है कि जो सामान्य उद्देश्य के द्वारा बतलाया गया है वह विधेय के द्वारा बतलाए गये सामान्य मे अन्तर्भूत है या बहिर्भूत है। यदि वाक्य विध्यात्मक है तो एक पद दूसरे में अन्तर्भूत होगा और निषेधात्मक है तो एक पद दूसरे से बहिर्भूत होगा। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य मरणशील है' इस वाक्य में मरणशील सामान्य के अन्दर 'मनुष्य' सामान्य अन्तर्भूत हैं तथा 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' इस वाक्य मे 'पूर्णत्व' सामान्य से मनुष्य सामान्य सर्वथा बहिर्भूत है। आगे चल कर हम देखेंगे कि सभी आनुमानिक प्रक्रियाएँ इसके अनुसार ही निश्चित की गई हैं।

(३) **भावार्थवाद** (Connotative view) **के अनुसार दोनों उद्देश्य और विधेय अपने भावार्थ में ग्रहण किये जाते हैं** तथा वाक्य का अर्थ यह होता है कि उद्देश्य के द्वारा प्रकट किये हुए भाव का विधेय द्वारा प्रकट किये हुए भाव के साथ कुछ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, 'सब मनुष्य मरणधर्मा है' इस वाक्य में विधेयगत-

भाप मरण पर्यन्त, उद्देश्यगत भाव मनुष्यत्व के साथ-साथ पाया जाता है। उसी तरह 'मनुष्य पशु नहीं है' इस वाक्य में भी विधेय द्वारा सूचित पशुत्वभाव उद्देश्यगत मनुष्यत्व भाव से सर्वथा अलग रहता है। इस वाद के प्रधान पोषक मिल महोदय हैं।

(४) द्रव्यार्थ भावार्थवाद (Denotative-Connotative view) के अनुसार किसी वाक्य का उद्देश्य और विधेय दोनों या तो द्रव्यार्थ मे ग्रहण किये जाते हैं या भावार्थ में ग्रहण किये जाते हैं। जब द्रव्यार्थ का ग्रहण होता है तब वाक्य का अर्थ यह होता है कि विधेय के सामान्य से उद्देश्य का सामान्य या तो अन्तर्भूत है या बहिर्भूत है। यदि भावार्थ का ग्रहण होता है तो विधेयगत भावार्थ का सम्बन्ध उद्देश्यगत भावार्थ के साथ पाया जाता है अन्यथा विधेय का भाव उद्देश्य के भाव से पृथक रहता है। यह वास्तव में कोई नया सिद्धान्त या वाद नहीं है, यह उपर्युक्त दो वादों का समन्वय है। इस सिद्धान्त के प्रधान पोषक हैमिल्टन महोदय हैं। इसका दूसरा नाम समन्वयवाद (Comprehensive view) भी है।

यहाँ हमने चार वादों का बयान किया है। इनमें से द्रव्यार्थवाद अत्यधिक संतोषजनक है। निरपेक्ष[1] वाक्य में उद्देश्य हमेशा परिमाण के संकेत के साथ सम्बन्धित रहता है तथा उद्देश्य को द्रव्यार्थ में ग्रहण करना यह स्वाभाविक व्याख्या है। तथा द्रव्यार्थवाद चार प्रकार के वाक्यों में अच्छी तरह घट जाता है क्योंकि यदि विधेय, भाव को बतलाता है और उद्देश्य, पदार्थों को बतलाता है तो हमें विधेय का या तो उद्देश्य के साथ विधान करना पड़ेगा या निषेध करना पड़ेगा और इस प्रकार प्रत्येक अवस्था मे या तो निश्चित[2] उद्देश्य की संख्या का विधान करना पड़ेगा या अनिश्चित उद्देश्य की संख्या का विधान

---

1 Categorical Proposition. 2. Definite.

करना पड़ेगा। इसका अर्थ यह होगा कि हम किसी निश्चित ध्येय पर न पहुँच सकेंगे।

३—वाक्यों के तात्पर्य

उपर्युक्त चार प्रकार के सम्बन्धों के समझने के बाद यह प्रश्न भी खड़ा रहता है कि समग्र वाक्य किस वस्तु का प्रतिबोध कराता है। इसमें भी कई मत हैं। कुछ का विचार है वाक्य केवल यथार्थ वस्तुओं[1] का बोध कराता है, अन्य कहते है कि वाक्य केवल विचारों[2] का बोध कराता है तथा अन्य का मन्तव्य है कि वह केवल नाम[3] का बोध कराता है। अब हम इनका विचार करेंगे।

(१) **यथार्थवाद** (Realistic view)—यह वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा एक वाक्य केवल यथार्य वस्तुओं का बोध कराता है, न विचारों का और न नामों का। यह सिद्धान्त प्लेटो और अरस्तू महोदय का है। उनका कहना है कि वाक्य की इकाई ससारगत पदार्थों को बतलाती है जो यथार्थ है। अनुभव और प्रत्यक्ष इनके साक्षी हैं। इन पदार्थों की सत्ता त्रिकालाबाधित है।

(२) **विचारवाद** (Conceptualistic view)—यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार जगत् के पदार्थ सब मिथ्या हैं, केवल विचार ही सत्य हैं। इसके मानने वाले लॉक महोदय हैं। उनका कहना है कि दो विचारों के अन्दर जो सम्बन्ध होता है वह दो विचारों के मेल या विरोध को वाक्य द्वारा सूचित करता है।

(३) **नामवाद** (Nominalistic view)—यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार वाक्य केवल दो नामों के बीच स्थित सम्बन्ध को प्रकट करता है। इसके मानने वाले हॉब्स महोदय हैं। उनका

1 Real objects 2 Ideas. 3 Names.

कहना है कि "वाक्य का अर्थ वक्ता का यह विश्वास होता है कि विधेय उसी वस्तु का नाम है जिसका कि उद्देश्य नाम है"।

इनमें यथार्थवाद इसलिये ठीक नहीं, क्योंकि संसार में केवल पदार्थ कुछ नहीं कर सकते उनको विचार-कोटि में लाकर ही चिन्तन किया जा सकता है। विचारवाद इसलिये अधिक उपयोगी नहीं है कि यह द्रव्य जगत् का सर्वथा लोप करता है। विचार बगैर वस्तु के रह ही नहीं सकता। निराधार विचार कभी उत्पन्न नहीं होते। नामवाद इसलिये निरर्थक समझा जाता है क्योंकि यह सत्य को स्वविषयक ही बनाता है किन्तु सत्य विषयविषयक भी है। सत्य केवल शाब्दिक संगति ही नहीं है किन्तु धार्मिक संगति भी है।

इस प्रकार तीनों वादों की समालोचना करने के बाद यह जानना आवश्यक हो जाता है—आखिरकार इनमें से सत्यवाद कौन है? सत्य विचार यही प्रतीत होता है कि विचारवाद को और यथार्थवाद को मिला दिया जाय। यह धारणा मेकबे महोदय की है और ठीक भी है। उनका यह कहना उचित भी है कि एक वाक्य, उद्देश्य और विधेय के विचारों का आपस में सम्बन्ध बताकर अपनी एक इकाई को प्रकट करता है, किन्तु ये विचार निराधार नहीं रह सकते। उनके लिये पदार्थों की सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। वस्तुओं की यथार्थ सत्ता को स्वीकार किये बिना केवल विचारवाद गगनकुसुम की भाँति कभी ठहर नहीं सकता। इसलिये यह स्थिर सिद्धान्त है कि वाक्य 'विचारवाद' और 'यथार्थवाद' दोनों को लेकर चलता है।

अभ्यास प्रश्न

१ वाक्यों के तात्पर्य से आपका क्या अभिप्राय है? तार्किकों के इस विषय में क्या मत हैं? प्रत्येक का अलग-अलग उल्लेख करो।

२ "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं" इस वाक्य का प्रत्येक वाद के अनुसार तात्पर्य बतलाओ। इन वादों में उत्तम वाद कौन है?

३ भावार्थवाद का क्या अर्थ है? इसके अनुसार वाक्य के विधेय की क्या परिस्थिति होगी?

४ विधानवाद और द्रव्यार्थवाद में क्या अन्तर है? उदाहरण देकर स्पष्ट रूप से समझाओ।

५ यथार्थवाद, विचारवाद और नामवादों का उदाहरणपूर्वक वर्णन करो।

६. वाक्य के तात्पर्य के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

७ यथार्थवाद के दोष दिखलाकर सिद्ध करो कि अन्य वाद कहाँ तक ठीक हैं।

४—उपविरोध

उपविरोध (Sub-contrary) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो विशेष वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य होते हैं और वही विधेय होते हैं किन्तु जो गुण में भिन्नता रखते हैं, पाया जाता है। यह सम्बन्ध 'ई' तथा उससे अगत 'ओ' के मध्य पाया जाता है। जैसे 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय हैं' और कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं इन दो जोड़ी के वाक्यों में परिमाण का भेद नहीं है यदि भेद है तो वह गुण का। क्योंकि यह सम्बन्ध विशेष वाक्यों में पाया जाता है इसलिये इसे उपविरोध का सम्बन्ध कहा जाता है।

५—आत्यन्तिक विरोध

आत्यन्तिक विरोध (Contrediction) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य हों और विधेय हों किन्तु जो गुण और परिमाण दोनों में भेद रखते हों पाया जाता है। आत्यन्तिक विरोध को बतलाने वाले दो जोड़ी वाक्य हैं 'आ' और 'ओ' तथा 'ए' और 'ई'। वास्तव में देखा जाय तो यही विरोध का पूर्ण रूप है और सब अधूरे हैं क्योंकि इन जोड़ों में हम गुण और परिमाण का पूरा विरोध देखते हैं। इस प्रकार का सर्वथा विरोध ही विरोध कहलाया जा सकता है। जैसे सामान्य विधिवाक्य 'आ' का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'ओ' विशेष निषेध वाक्य है तथा सामान्य निषेध वाक्य 'ए' का आत्यन्तिक विरोध वाक्य 'ई' विशेष निषेध वाक्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरोध शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जब हम व्यापक अर्थ को ग्रहण करेंगे तब तो विरोध के चार भेद होंगे। यदि संकुचित अर्थ लिया जायगा तो केवल तीन ही भेद होंगे। समाविरोध को निकाल देना होगा।

यह विरोध का सम्बन्ध, दो वाक्यों मे जिनके वही उद्देश्य हों और वही विधेय हों, पाया जाता है। समावेश में केवल परिमाण का भेद होता है। विरोध में दो सामान्य वाक्य गुण मे भेद रखते हैं। उपविरोध में दो विशेष वाक्य केवल गुण में भेद रखते है। आत्यन्तिक विरोध में दोनों वाक्य गुण और परिमाण में भेद रखते हैं।

६—विरोधदर्शक वर्ग

तार्किक लोगों ने इस विरोध के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिये एक विरोधदर्शक वर्ग[1] बनाया है। इसके द्वारा हम इसको सुगमता से समझ सकते हैं और याद कर सकते हैं। वह इस प्रकार है —

इस मानचित्र में सामान्य वाक्य सिरे की तरफ रक्खे गये हैं विशेष वाक्य नीचे की तरफ रक्खे गये हैं। विधिवाक्य बाईं ओर रक्खे गये हैं तथा निषेध वाक्य दाईं ओर रक्खे गये हैं। वर्ग के ऊपर की रेखा विरोधसूचक है। नीचे की रेखा उपविरोध सूचक है।

(1) Square of opposition.

अध्याय १०

१—वाक्यों का विरोध[1]

उन दो वाक्यों को आपस में विरोधसूचक कहते हैं जिनके उद्देश्य और विधेय समान होते हुए भी या गुण की दृष्टि से या परिमाण की दृष्टि से या दोनों की दृष्टि से भिन्नता रखते हों। वाक्य चार प्रकार के हैं। उन चार प्रकार के वाक्यों में दो दो का लेकर चार प्रकार के सम्बन्ध सिद्ध होते हैं। वे ये हैं:—(१) समावेश (२) विरोध (३) उपविरोध (४) पारस्परिक विरोध।

२—समावेश

समावेश (Subalternation) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य हों और वही विधेय हों तथा जिनका वही गुण हो किन्तु परिमाण में भेद रखते हों, पाया जाता है। इस प्रकार यह वह सम्बन्ध है जो एक सामान्य वाक्य तथा उसी से संगत और उसी गुणवाले विशेष वाक्य के मध्य पाया जाता है अर्थात् यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' तथा 'ए' और 'ओ' में पाया जाता है। ऐसे विरोधसूचक जोड़े में सामान्य वाक्य समावेशक (Subalternant) कहलाता है और विशेष वाक्य समाविष्ट (Subalternate) कहलाता है। जैसे 'सब मनुष्य मरणशील हैं' और 'कुछ मनुष्य मरणशील हैं' तथा 'कोई मनुष्य अमर नहीं है' और 'कुछ मनुष्य अमर नहीं हैं'। ये वाक्य जोड़ों के रूप में

1 Opposition.

एक दूसरे गुण में समानता रखते हुए परिमाणसे विरोध रखते हैं इसलिए इनके सम्बन्ध को समावेश कहते हैं।

यहाँ एक शका उपस्थित होती है। क्या समावेश विरोधसूचक सम्बन्ध है? साधारण भाषा मे विरोध का यही अर्थ लिया जाता है कि दो वस्तुओं मे आत्यन्तिक विरोध हो अर्थात् दोनों सत्य न हों। अत. इस विचार मे समावेश को कदापि विरोधसूचक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता। समावेश मे विरोध के लिए कोई विशेष स्थान प्रतीत नहीं होता, अपितु यहाँ एक की सत्यता से दूसरे की सत्यता सिद्ध की जाती है। यहाँ गुण का भी भेद नहीं है, केवल यदि भेद है तो परिमाण का। तर्कशास्त्री विरोध शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ लेते हैं। समावेश में परिमाणकृत विरोध तो दृष्टिगोचर होता है इसलिये वे इसको विरोध की कोटि मे लाने के लिये तैयार हैं। समावेश विरोध-सूचक है या नहीं—इसका उत्तर विरोध शब्द के व्यापक अर्थ पर ही निर्भर है।

३—विरोध

विरोध (Contrary) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में, जिनके वही उद्देश्य हों और वही विधेय हों किन्तु जो गुण में भेद रखते हों, परिमाण में नहीं, पाया जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' तथा उससे सगत 'ए' के बीच मे पाया जाता है। जैसे, 'सब मनुष्य अपूर्ण है' और 'कोई मनुष्य अपूर्ण नहीं है'—इन दो वाक्यों मे विरोध का सम्बन्ध है। यह दो वाक्य परिमाण में तो भिन्न नहीं हैं किन्तु गुण से आपस में भिन्न हैं। इस-लिये इन दो की जोड़ी में आपस मे विरोध का सम्बन्ध माना गया है इन दोनों में से एक को **विरोधक** और दूसरे को **विरुद्ध** कहते हैं।

४—उपविरोध

उपविरोध (Sub-contrary) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य होते हैं और वही विधेय होते हैं किन्तु जो गुण में भिन्नता रखते हैं, पाया जाता है। यह सम्बन्ध 'ई' तथा उससे सम्बद्ध 'ओ' के मध्य पाया जाता है। जैसे 'कुछ मनुष्य न्यायप्रिय हैं' और कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं इन दो जोड़ी के वाक्यों में परिमाण का भेद नहीं है; यदि भेद है तो यह गुण का। क्योंकि यह सम्बन्ध विशेष वाक्यों में पाया जाता है इसलिये इसे उपविरोध का सम्बन्ध कहा जाता है।

५—आत्यन्तिक विरोध

आत्यन्तिक विरोध (Contradiction) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य हों और विधेय हों किन्तु जो गुण और परिमाण दोनों में भेद रखते हों पाया जाता है। आत्यन्तिक विरोध को बतलाने वाले दो जोड़ी वाक्य हैं 'आ' और 'ओ तथा ए' और ई'। वास्तव में देखा जाय तो यही विरोध का पूरा रूप है और सब अपूरे हैं क्योंकि इन जोड़ों में हम गुण और परिमाण का पूरा विरोध देखते हैं। इस प्रकार का सर्वथा विरोध ही विरोध कहलाया जा सकता है। जैसे सामान्य विधिवाक्य आ का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'ओ' विशेष निषेध वाक्य है तथा सामान्य निषेध वाक्य 'ए' का आत्यन्तिक विरोध वाक्य 'ई' विशेष विधि वाक्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरोध शब्द बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। जब हम व्यापक अर्थ को ग्रहण करेंगे तब तो विरोध के चार भेद होंगे। यदि संकुचित अर्थ लिया जायगा तो केवल तीन ही भेद होंगे। उपाश्रेय को निकाल देना होगा।

यह विरोध का सम्बन्ध, दो वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य हों और वही विधेय हों, पाया जाता है। समावेश में केवल परिमाण का भेद होता है। विरोध में दो सामान्य वाक्य गुण मे भेद रखते हैं। उपविरोध मे दो विशेष वाक्य केवल गुण में भेद रखते है। आत्यन्तिक विरोध में दोनों वाक्य गुण और परिमाण में भेद रखते हैं।

६—विरोधदर्शक वर्ग

तार्किक लोगों ने इस विरोध के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिये एक विरोधदर्शक वर्ग[1] बनाया है। इसके द्वारा हम इसको सुगमता से समझ सकते हैं और याद कर सकते हैं। वह इस प्रकार है —

इस मानचित्र मे सामान्य वाक्य सिरे की तरफ रक्खे गये हैं विशेष वाक्य नीचे की तरफ रक्खे गये हैं। विधिवाक्य बाईं ओर रक्खे गये हैं तथा निषेध वाक्य दाईं ओर रक्खे गये हैं। वर्ग के ऊपर की रेखा विरोधसूचक है। नीचे की रेखा उपविरोध सूचक है।

(1) Square of opposition.
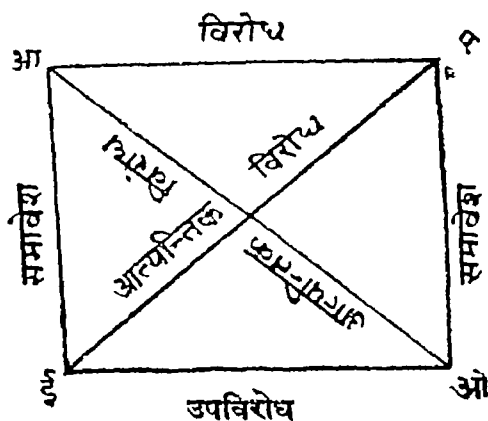
सामान्य की रेखा और दक्षिण पक्ष की रेखाएँ समावेश सूचक हैं। तथा मध्य की एक दूसरे को काटनेवाली रेखाएँ आत्यन्तिक विरोध को बतलानेवाली रेखाएँ हैं।

अरस्तू समावेश और उपविरोध के विरोधों को ठीक नहीं समझता था। उसका कहना था कि समावेश में विरोध है ही नहीं। सामान्य की सत्यता में विशेष की सत्यता अन्तर्भूत रहती है। उपविरोध का सिद्धान्त इसलिये ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'ई' और 'ओ' दोनों सही हो सकते हैं जैसे 'कुछ आदमी ईमानदार हैं' और कुछ आदमी ईमानदार नहीं हैं' ये दोनों सत्य हो सकते हैं। अरस्तू का कहना यही था कि दो विरोधी वाक्य कभी सत्य नहीं हो सकते। अतः उसने विरोध सूचक यह वर्ग दिया है—
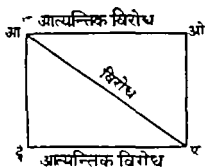
इस वर्ग में आत्यन्तिक विरोधी वाक्यों का प्रदर्शन ऊपर और नीचे की रेखाओं द्वारा किया गया है तथा विरोध कर्ण[1] के द्वारा दिखलाया गया है।

दोनों मानचित्रों द्वारा विरोध का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है।

1 Diagonal.

अभ्यास प्रश्न

१ वाक्यों के विरोध से आप क्या समझते हैं ? यदि निम्नलिखित वाक्य गलत हो तो अन्य के बारे में आप क्या सोच सकते हैं ?

कुछ सुखी मनुष्य असतुष्ट होते हैं।

२ 'सभी चमकनेवाली वस्तुएँ सुवर्ण नहीं होतीं'। इस वाक्य की सत्यता से—विरोधसूचक वर्ग द्वारा—अन्य वाक्यों के बारे में क्या अनुमान हो सकता है ?

३ क्या समावेश विरोध सम्बन्ध है ? अरस्तू के इस पर क्या विचार है—स्पष्ट लिखो।

४ विरोधसूचक वर्ग बनाओ और उसका व्याख्यान करो। अरस्तू के विरोधसूचक वर्ग में और इसमे क्या अन्तर है ?

५. भिन्न भिन्न विरोध के सिद्धान्तों का उदाहरणपूर्वक स्पष्ट विवेचन करो। व्यावहारिक जीवन में इनकी क्या उपयोगिता है ?

६ विरोध और उपविरोध मे क्या अन्तर है ? इनके नियम बतलाओ और उदाहरण दो।

७ समावेश और उपविरोध में क्या भेद है ? उदाहरण देकर स्पष्ट रूप से समझाओ।

८ निम्नलिखित वाक्यो का आपस में क्या सम्बन्ध है ?

(१) भले आदमी अक्लमद होते हैं।
बेवकूफ भले आदमी नहीं होते।
कुछ बेवकूफ भले होते है।
कोई भला आदमी बेवकूफ नहीं होता।

———

अध्याय ११

१—अनुमान

अनुमान (Inference) वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम एक या दो या अनेक वाक्यों के आधार पर उनके परामर्श से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इसमें जो आधार वाक्य होते हैं उन्हें प्रदत्त कहते हैं तथा जो निष्कर्ष या परिणाम निकाला जाता है उसे अप्रदत्त कहते हैं। प्रदत्त से अप्रदत्त पर पहुँचने की प्रक्रिया का नाम ही अनुमान है। अनुमान में सर्वदा एक से अधिक वाक्यों की आवश्यकता होती है और जब उस अनुमान को भाषा में प्रयोग किया जाता है तब उसे तर्क (Argument) कहते हैं। तर्क में हम एक या अधिक वाक्यों से जो प्रदत्त या ज्ञात होते हैं, दूसरे अप्रदत्त या अज्ञात का अनुमान लगाते हैं। जो दिये हुए वाक्य होते हैं उन्हें प्रतिज्ञा (Premise) कहते हैं और जो नहीं दिये हुए होते हैं उन्हें निष्कर्ष या परिणाम (Conclusion) कहते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि प्रदत्त से अप्रदत्त या ज्ञात से अज्ञात परिणाम अवश्य निकलता है।

२—अनुमान का भेद

अनुमान के दो भेद हैं—(१) विशेषानुमान (२) सामान्यानुमान। विशेषानुमान को अँगरेजी में डेडक्शन (Deduction) और सामान्यानुमान को इन्डक्शन (Induction) कहते हैं। विशेषानुमान की प्रक्रिया में अधिक सामान्य से अल्प-सामान्य

या विशेष का अनुमान किया जाता है। सामान्यानुमान में विशेषों से सामान्य का अनुमान करते हैं।

विशेषानुमान के भी दो भेद होते हैं (१) अनन्तरानुमान (Immediate Inference) सान्तरानुमान (Madiate inference)। **अनन्तरानुमान एक प्रकार का विशेषानुमान है जिसमें निष्कर्ष एक ही प्रतिज्ञा वाक्य से निकाला जाता है।** इससे स्पष्ट है कि अनन्तरानुमान में एक ही प्रतिज्ञा-वाक्य का अर्थ खोलकर रक्खा जाता है। यह विशेषानुमान का उपभेद है इसलिए इसमें निकाला हुआ निष्कर्ष प्रतिज्ञा-वाक्य से अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। सान्तरानुमान में दो या दो से अधिक प्रतिज्ञा-वाक्यों से निष्कर्ष निकाला जाता है। **जब प्रतिज्ञा वाक्य दो ही होते हैं और उनको मिलाकर जब निष्कर्ष निकाला जाता है तब उस प्रक्रिया को सिलाजिज्म (Syllogism) या अवयव-घटित न्याय कहते हैं।** कुछ तार्किक लोग, जिनमे मिल, बेन आदि प्रधान हैं, कहते हैं कि अनन्तरानुमान को अनुमान नहीं गिनना चाहिये। मिल महोदय का कहना है कि अनन्तरानुमान को हम गौण रूप से अनुमान कह सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार के अनुमानों मे हम किसी नये सत्य पर नहीं पहुँचते। जो कुछ प्रतिज्ञा वाक्यों में पहले से ही विद्यमान है उसको ही निष्कर्ष में खोलकर रक्खा जाता है। जो कुछ निष्कर्ष या परिणाम निकलता है वह या तो वही होता है या उसका अंश होता है। बेन (Bein) महोदय का कहना है कि इस प्रकार के अनुमान में वास्तविक अनुमान नहीं होता अर्थात् हम इनमे एक बात से दूसरी बात का परिवर्तन नहीं देखते हैं, किन्तु केवल कुछ शब्दों का हेर फेर होता है। उदाहरणार्थ, 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' इस वाक्य से अनन्तरानुमान द्वारा हम निष्कर्ष निकालते हैं 'कोई मनुष्य अमर नहीं है'। इस प्रकार की प्रक्रिया को अभिमुखी

अन्तर्भूत हैं, निकालते हैं, यद्यपि वे उद्देश्य में, विधेय में या दोनों में मूलवाक्य से भिन्नता रखते हैं।

पृथक्करण के चार भेद हैं—(१) परिवर्तन, (२) अभिमुखीकरण, (३) विरुद्ध-भाव और (४) विपर्यय।

(१) **परिवर्तन** (Conversion) **एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें किसी वाक्य के उद्देश्य और विधेय का समुचित स्थान परिवर्तन कर दिया जाता है।** जिस वाक्य का परिवर्तन किया जाता है उसे **परिवर्त्य** (Convertend) कहते है तथा जिसका उससे अनुमान किया जाता है उसे **परिवर्तित** (Converse) कहते हैं।

परिवर्तन के निम्नलिखित नियम हैं:—

(१) परिवर्त्य का उद्देश्य परिवर्तित का विधेय बन जाता है तथा परिवर्तित का विधेय परिवर्त्य का उद्देश्य हो जाता है।

(२) परिवर्त्य का गुण वही रहता है जो परिवर्तित का होता है। अर्थात् दोनों के गुण में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(३) परिवर्त्य में कसी पद के द्रव्यार्थ का बाँटना नहीं होना चाहिये जब तक कि वह परिवर्तित में बाँटा हुआ न देखा जाय।

'आ' का परिवर्तन—'आ' का परिवर्तन 'ई' में किया जाता है। उपर्युक्त नियमों के अनुसार परिवर्त्य का गुण वही रहना चाहिये। 'आ' विधिवाक्य है अतः इसका परिवर्तन विधिवाक्य में ही हो सकता है अर्थात् 'आ' का परिवर्तन या तो 'आ' मे या 'ई' मे हो सकता है। किन्तु 'आ' का परिवर्तन 'आ' में नहीं हो सकता। कारण, ऐसी अवस्था में परिवर्त्य का विधेय जो द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है परिवर्तित में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जायगा। इसलिये 'आ' का परिवर्तन 'ई' मे ही हो सकता है। जैसे,

परिवर्त्य : "सब मनुष्य मरणशील हैं—"सब 'उ' 'वि' हैं।
परिवर्तित : कुछ मरणशील मनुष्य है"—कुछ 'वि' 'उ' है।"

ए' का परिवर्तन—'ए' का परिवर्तन 'ए' में होता है। क्योंकि परिवर्तन में गुण नहीं बदला जाता। इसलिए 'ए' निषेध-वाक्य होने से उसका परिवर्तन 'ए' में ही होगा। यदि 'ए' का ए' में परिवर्तन किया जाय तो व्याप्यार्थ के रहने का भी प्रश्न नहीं रहता; क्योंकि 'ए' वाक्य में उद्देश्य और विधेय दोनों ही व्याप्यार्थ में ग्रहण किये जाते हैं। ये उसी प्रकार परिवर्तित में भी रहेंगे। इसलिये ए' का परिवर्तन 'ए' में ही हो सकता है।

परिवर्त्य "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है—"कोई 'उ' 'वि' नहीं है
परिवर्तित कोई पूर्ण जीव मनुष्य नहीं है"—कोई 'वि' 'उ' नहीं है"

'ई' का परिवर्तन—'ई' का परिवर्तन 'ई' में होता है। 'ई' वाक्य विधि-वाक्य है अतः इसका परिवर्तन विधि वाक्य में ही हो सकता है। तथा उद्देश्य और विधेय के व्याप्यार्थ में ग्रहण करने या न करने का प्रश्न ई वाक्य में उठता ही नहीं। अतः ई का परिवर्तन 'ई' में ही हो सकता है। जैसे,

परिवर्त्य कुछ मनुष्य न्याय प्रिय हैं— 'कुछ 'उ 'वि' हैं।
परिवर्तित : कुछ न्यायप्रिय मनुष्य है —कुछ वि' उ' हैं।

ओ का परिवर्तन—ओ वाक्य का परिवर्तन नहीं हो सकता। 'ओ' वाक्य निषेध-वाक्य है। इसका परिवर्तित अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये। इस अवस्था में विधेय व्याप्यार्थ में ग्रहण किया जायगा और यह परिवर्त्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिये ओ का परिवर्तन नहीं हो सकता।

परिवर्त्य 'कुछ मनुष्य अल्पवयस्क नहीं है— कुछ 'उ वि' नहीं है
परिवर्तित : कोई निष्कर्ष नहीं —कोई निष्कर्ष नहीं

संक्षेप मे परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार 'आ' का परिवर्तन 'ई' में, 'ए' का 'ए' मे, 'ई' का 'ई' मे होता है तथा 'ओ' का परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन के दो रूप हैं—(१) साधारण परिवर्तन और (२) परिमित परिवर्तन। **साधारण परिवर्तन** (Simple conversion) मे परिवर्तित का परिमाण वही रहता है जो परिवर्त्य का होता है। अर्थात् परिवर्त्य के अनुसार ही परिवर्तित का परिमाण रहता है, चाहे वह सामान्य वाक्य हो, चाहे वह विशेष वाक्य हो। इस प्रकार 'ए' और 'ई' वाक्यों का साधारण परिवर्तन होता है।

परिमित परिवर्तन (Conversion per accidens or Conversion by Limitation) मे परिवर्तित का परिमाण परिवर्त्य से भिन्न होता है। यदि परिवर्त्य सामान्य हो तो परिवर्तित विशेष होता है। इस प्रकार 'आ' वाक्य का परिमित परिवर्तन होता है क्योंकि इसमें जब 'आ' को 'ई' में परिवर्तित करते हैं तब इसमे परिवर्त्य के उद्देश्य का परिमाण परिवर्तित के विधेय के रूप मे परिमित हो जाता है।

क्या 'आ' वाक्य का साधारण परिवर्तन हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि हो भी सकता है और नहीं भी। 'नहीं' का तो उदाहरण हम देख चुके है। हो किस प्रकार सकता है, इसकी सम्भावना दिखलाई जाती है। यह हम जानते हैं कि साधारण परिवर्तन मे वाक्य का परिमाण नहीं बदला जाता। इसलिये 'आ' वाक्य का साधारण परिवर्तन तब हो सकता है जब हम 'आ' से 'आ' का ही निष्कर्ष निकालें। साधारण अवस्था में यह सम्भव नहीं है क्योंकि परिवर्त्य का विधेय द्रव्यार्थ मे नहीं लिया जाता किन्तु 'आ' मे परिवर्तन करने पर परिवर्तित में वह द्रव्यार्थ मे लिया जायगा। कुछ ऐसे भी असाधारण उदाहरण है जिनमें यह सम्भव है। ऐसे वे वाक्य हैं जिनमे उद्देश्य और विधेय दोनों का द्रव्यार्थ बराबर होता है और वहाँ यह हो सकता है, यानी जहाँ उद्देश्य पद और विधेय पद दोनों

निश्चित एकवचनात्मक हों वहाँ यह सम्भव हो जाता है। तथा लक्षणों में और सामानार्थक वाक्यों में भी यह हो सकता है। जैसे,

(१) परिवर्त्य : 'एवरेस्ट विश्व में सबसे ऊँचा पहाड़ है।
  परिवर्तित : सबसे ऊँचा पहाड़ विश्व में एवरेस्ट है।"
(२) परिवर्त्य : 'सब मनुष्य समझदार जीव हैं।
  परिवर्तित : सब समझदार जीव मनुष्य हैं।'
(३) परिवर्त्य : सब मनुष्य मानव हैं।
  परिवर्तित : सब मानव मनुष्य है।"

उपर्युक्त उदाहरणों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट है कि इनमें उद्देश्य और विधेय दोनों समविस्तार वाले हैं। यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि हैमिल्टन महोदय इस प्रकार के वाक्यों को (U) वाक्य कहते हैं और उनका कहना विधेय के विस्तार के आधार पर निर्भर है। इसलिये यदि उनकी भाषा मे कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आ का तो साधारण परिवर्तन नहीं हो सकता। हाँ (U) का अवश्य हो सकता है। (U) वाक्यों में उद्देश्य और विधेय समानविस्तार वाले होते हैं।

कुछ तार्किक लोग (ओ) वाक्य का निषेधमुख से परिवर्तन करते हैं। यह हम देख चुके हैं कि यदि (ओ) वाक्य का परिवर्तन किया जाय तो परिवर्तन का तीसरा नियम भंग होता है। अतः 'ओ' का परिवर्तन करने के लिये पहले इस 'ई' में बदल लेना चाहिये और फिर परिवर्तन करना चाहिये। यह तब हो सकता है जब विधेयगत निषेध को हम विधेय का अंग मान लें। जैसे

ओ : कुछ मनुष्य सत्य प्रिय नहीं हैं—"कुछ 'उ वि' नहीं हैं।
  ई : कुछ मनुष्य असत्य-प्रिय हैं—कुछ उ 'अवि' हैं।
  ई कुछ असत्य-प्रिय जीव मनुष्य हैं"—कुछ 'अवि' उ' हैं।"

यह परिवर्तन का रूप, परिवर्तन कदापि नहीं कहा जा सकता है क्योंकि पहले तो निष्कर्ष या गुण प्रतिज्ञा वाक्य से सर्वथा भिन्न है, दूसरे निष्कर्ष का उद्देश्य प्रतिज्ञा वाक्य का विधेय नहीं है किन्तु उसका आत्यन्तिक विरोधी पद है । इसलिये निषेध-मुख से परिवर्तन करना अयुक्त है ।

जब उद्देश्य और विधेय सापेक्ष पद हों तो **परिवर्तित-सम्बन्ध** (Converse Relation) के द्वारा अनुमान निकाला जा सकता है । जैसे,

परिवर्त्य "सुभद्रा अर्जुन की स्त्री है ।

परिवर्तित अर्जुन की स्त्री सुभद्रा है ।"

इस उदाहरण में पति पत्नी का सम्बन्ध है वह सापेक्ष पद है । इसलिये इनका स्थान परिवर्तन करके यह अनुमान निकाला गया है ।

(२) **अभिमुखीकरण** (Obversion) **एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें दिये हुए वाक्य का गुण बदल दिया जाता है किन्तु इसका अर्थ नहीं बदलने पाता ।** दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस प्रक्रिया द्वारा हम एक विधिवाक्य का समानार्थक निषेधात्मक निष्कर्ष निकालते हैं या एक निषेध वाक्य का समानार्थक विध्यात्मक निष्कर्ष निकालते है। जिस वाक्य का अभिमुखीकरण किया जाय उसे अभिमुखीकरणीय (Obvertend) कहते हैं तथा जो निष्कर्ष निकाला जाय उसे अभिमुखीकृत (Obverse) कहते हैं।

(३) अभिमुखीकरण के निम्नलिखित नियम हैं :—

(१) अभिमुखीकृत का उद्देश्य वही होता है जो अभिमुखीकरणीय का होता है ।

(२) अभिमुखीकृत का विधेय, दिये हुए विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है ।

(३) अभिमुखीकृत का गुण अभिमुखीकरणीय से विरुद्ध होता है अर्थात् यदि अभिमुखीकरणीय विधिवाक्य हो तो अभिमुखीकृत निषेध-वाक्य हो जाता है और निषेध-वाक्य हो तो विधि-वाक्य हो जाता है।

(४) अभिमुखीकृत का परिमाण वही रहता है जो अभिमुखीकरणीय का होता है। अर्थात् यदि प्रतिज्ञा-वाक्य सामान्य हो तो निष्कर्ष-वाक्य भी सामान्य होता है यदि वह विशेष हो तो निष्कर्ष-वाक्य भी विशेष होता है।

'आ' का अभिमुखीकरण। 'आ' का अभिमुखीकरण 'ए' में होता है। जैसे,

अभिमुखीकरणीय 'सब मनुष्य मरणशील हैं"
—"सब 'उ' 'वि' हैं"

अभिमुखीकृत : कोई मनुष्य अमरणशील नहीं है"
—"कोई 'उ' 'अ+वि' नहीं है"।

इसमें यह बिलकुल साफ है कि अभिमुखीकरणीय विध्यात्मक है और अभिमुखीकृत निषेधात्मक है। निष्कर्ष में दिये हुए विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद है और उद्देश्य वही है। उद्देश्य का परिमाण नहीं बदला गया है।

'ए' का अभिमुखीकरण। 'ए' का अभिमुखीकरणीय 'आ' में होता है। जैसे,

अभिमुखीकरणीय : ' कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है
—"कोई 'उ' 'वि' नहीं है

अभिमुखीकृत : सब मनुष्य अपूर्ण हैं—सब मनुष्य अ-वि हैं"

यहाँ भी अभिमुखीकरणीय निषेधात्मक है किन्तु अभिमुखीकृत विध्यात्मक है। दिये हुए वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद

निष्कर्ष में विधेय बनता है। उद्देश्य दोनों मे वही रहता है और न उनका परिणाम बदलता है।

'ई' का अभिमुखीकरण। 'ई' का अभिमुखीकरण 'ओ' में किया जाता है। जैसे,

अभिमुखीकरणीय : "कुछ मनुष्य न्यायप्रिय हैं="कुछ 'उ' 'वि' हैं।
. अभिमुखीकृत : कुछ मनुष्य अन्यायप्रिय नहीं हैं"
=कुछ 'उ' 'अवि' नहीं हैं"।

'ओ' का अभिमुखीकरण। 'ओ' का अभिमुखीकरण 'ई' मे होता है। जैसे,

अभिमुखीकरणीय . "कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं
="कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं
.. अभिमुखीकृत : कुछ अबुद्धिमान हैं"
कुछ 'उ' 'अवि' है"

सन्क्षेप में यह कहा जा-सकता है कि 'आ' का अभिमुखीकरण 'ए' में होता है, 'ए' का 'आ' मे होता है, 'ई' का 'ओ' में होता है और 'ओ' का 'ई' में होता है।

तार्किक बेन (Bain) का कहना है कि रूपविषयक अभिमुखीकरण के साथ हम विषय-विषयक अभिमुखीकरण भी कर सकते हैं। इस प्रकार के अभिमुखीकरण वाक्य के विषय की परीक्षा के आधार पर किये जा सकते हैं। जैसे,

(१) "भलाई अच्छी लगती है।
. बुराई बुरी लगती है।"

(२) "हिंसा हानिकारक है।
. अहिंसा लाभदायक है।"

(३) "योग्य नेता देशसेवक है।
अयोग्य नेता देशघातक है।"

'ए' का विरुद्धभाव 'ई' होता है। जैसे,
विरुद्ध माध्य "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।"—'कोई 'उ' वि' नहीं है'
विरुद्ध मावित "कुछ अपूर्ण जीव मनुष्य हैं।"—कुछ 'अ-वि' 'उ'है"

'कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
सब 'उ' 'अवि हैं। (अभिमुखीकृत)
कुछ 'अवि' 'उ' हैं।" (परिवर्तित)

इस उदाहरण में दिया हुआ वाक्य सामान्य है किन्तु विरुद्ध मावित विशेष है। क्योंकि यदि हम सामान्य निष्कर्ष निकालना चाहें तो हमें 'अ-वि' उद्देश्य को प्रमार्थ में लेना पड़ेगा जो अभिमुखीकृत में प्रमार्थ में नहीं लिया गया है।

'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता। जैसे,
विरुद्ध माध्य : 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय नहीं हैं"—"कुछ 'उ' 'वि' हैं'
विरुद्ध मावित : "कोइ निष्कर्ष नहीं।"—"कोई निष्कर्ष नहीं"

'कुछ 'उ' 'वि हैं।
कुछ उ' 'अवि नहीं हैं। (अभिमुखीकृत)
नहीं हो सकता।" (परिवर्तित)

यदि 'ई' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो हमें 'ओ' निष्फल मिलता है। तथा 'ओ' का परिवर्तन हो नहीं सकता। अतः 'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता।

'ओ' का विरुद्ध भाव 'ई' में होता है। जैसे,
विरुद्ध माध्य : "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं"

— 'कुछ 'उ' वि' नहीं हैं"

विरुद्ध मावित : 'कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"—"कुछ 'अवि' 'उ' हैं"

"कुछ उ वि' नहीं हैं
कुछ 'उ' 'अवि' हैं (अभिमुखीकृत)
कुछ अवि' 'उ हैं" (परिवर्तित)

जब 'ओ' वाक्य को अभिमुखीकृत किया जाय तो हमें 'ई' मिलता है और 'ई' को परिवर्तित किया जाय तो 'ई' मिलता है। अत 'ओ' का परिवर्तन 'ई' में होता है।

सक्षेप में विरुद्धभाव की प्रक्रिया द्वारा 'आ' का 'ए' में विरुद्धभाव होता है; 'ए' का 'ई' मे होता है, 'ओ' का 'ई' में होता है किन्तु 'ई' का विरुद्धभाव नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रक्रिया के प्रदर्शन से यह स्पष्ट है कि विरुद्धभाव एक मिश्रित प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में जब हम विरुद्धभावित निष्कर्ष निकालते है तो पहले हमें अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है और पश्चात् परिवर्तन करना पड़ता है। हमने यहाँ सीधे विरुद्धभाव के उदाहरण दिये हैं किन्तु कुछ तार्किकों की यह आपत्ति है कि सब उदाहरणों में यह सीधा विरुद्धभाव सम्भव नहीं। देखिये, पहले हम सीधे विरुद्धभाव का प्रयोग करते हैं। जैसे,

'आ' "सभी मनुष्य मरणशील हैं="सब 'उ' 'वि' है।
कोई अमरणशील मनुष्य नहीं है" कोई 'अवि' 'उ' नहीं है।"
'ओ' "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं="कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।
कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"=कुछ 'अ'-वि' 'उ' हैं।"

इन दोनों उदाहरणों में सभी नियमों का पालन करके निष्कर्ष निकाला गया है। दिये हुए विधेय का उद्देश्य आत्यन्तिक विरोधी पद है। निष्कर्ष का विधेय, दिये हुए वाक्य का उद्देश्य है। गुण का परिवर्तन कर दिया गया है। तथा निष्कर्ष में कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है जब तक कि वह मूल-वाक्य मे द्रव्यार्थ मे ग्रहण न किया गया हो। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि 'आ' के विरुद्धभावित मे हमे अ+वि मिलता है जो निष्कर्ष का उद्देश्य है और द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है। क्योंकि यह पद

(४) "ज्ञान सुखकारक है।
अज्ञान दुःखकारक है।"

(५) सत्पुरुष का दर्शन आनन्ददायक है।
असत्पुरुष का दर्शन दुःखदायक है।

इन उदाहरणों के ऊपर विचार करने से प्रतीत होगा कि रूप विपक्ष अभिमुखीकरण से ये सर्वथा भिन्न हैं। इनमें उसके नियमों का बिलकुल पालन नहीं किया जाता। अभिमुखीकरण में अभिमुखीकृत का उद्देश्य वही रहता है किन्तु यहाँ वे विरोधी पद हैं। अभिमुखीकरण के निष्कर्षवाक्य में प्रतिज्ञावाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है किन्तु यहाँ केवल विरोधी पद है। तथा अभिमुखीकरण में दोनों वाक्यों में एक-सा ही गुण होता है किन्तु यहाँ निष्कर्ष वाक्य का गुण दिये हुये वाक्य से विरुद्ध होता है। ये अनुमान विषम-विपक्ष अनुमान हैं और इनका आधार ज्ञान और अनुभव है। अतः इनका विरोधानुमान में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है।

(३) विरुद्धभाव (Contraposition) एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें एक दिये हुए वाक्य से हम दूसरे वाक्य का अनुमान करते हैं तथा इसका उद्देश्य प्रदत्त विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है। विरुद्धभाव में जिस वाक्य से हम निष्कर्ष निकालते हैं उसे विरुद्ध-साध्य कहते हैं तथा जो निष्कर्ष निकाला जाता है उसे विरुद्ध-भावित (Contrapositive) कहते हैं।

विरुद्धभाव के अधोलिखित नियम हैं :—

(१) निष्कर्ष का उद्देश्य दिये हुए वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) निष्कर्ष का विधेय दिये हुए वाक्य का उद्देश्य होता है।

(३) गुण बदल दिया जाता है। अर्थात् यदि दिया हुआ वाक्य विधिवाक्य हो तो निष्कर्ष निषेध वाक्य होगा और यदि दिया हुआ वाक्य निषेध-वाक्य हो तो निष्कर्ष विधि-वाक्य होगा।

(४) यदि कोई पद दिये हुए वाक्य मे द्रव्यार्थ में न लिया गया हो तो निष्कर्ष-वाक्य में वह द्रव्यार्थ में नहीं लिया जा सकता। जब इस प्रकार का अयुक्त द्रव्यार्थीकरण नहीं लिया गया है तब निष्कर्ष वाक्य का परिणाम वही रहता है जो दिये हुए वाक्य का है और जब इस प्रकार के अयुक्त द्रव्यार्थीकरण की सम्भावना है तब निष्कर्ष विशेष होता है चाहे दिया हुआ वाक्य समान्य ही क्यों न हो।

यथार्थ में 'विरुद्धभाव' अनन्तरानुमान की मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रथम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पडती है और पश्चात् परिवर्तन करना पडता है। इसलिये,

"प्रथम अभिमुखीकरण करो पश्चात् परिवर्तन करो।"

'आ' का विरुद्धभाव 'ए' में होता है। जैसे,

विरुद्ध भाव्य. "सब मनुष्य मरणशील हैं।" सब 'उ' 'वि' हैं"

विरुद्ध भावित · "कोई अमरण-शील प्राणी मनुष्य नहीं हैं।"

"कोई 'अवि' 'उ' नहीं हैं"

"सब 'उ' 'वि' है।

कोई 'उ' 'अ-वि' नहीं है। (अभिमुखीकृत)

.. कोई 'अ-वि' 'उ' नहीं है।" (परिवर्तित)

'अ' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो 'ए' मिलता है और 'ए' को परिवर्तित करने पर 'ए' प्राप्त होता है। अतः 'आ' का विरुद्ध भावित 'ए' होगा।

की' समग्र पूर्वावस्थाओं को, केवल एक को छोड़कर अलग कर दिया जाय फिर भी यह रहता है तो इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि निकाली हुई पूर्वावस्थाएँ कारण नहीं हैं किन्तु एक ही अवस्था कारण है।

(२) जब हम किसी कार्य की पूर्वावस्था को बिना कार्य के खोये हुए छोड़ नहीं सकते तो ऐसी पूर्वावस्था या तो कारण होगी या कारण का भाग या हिस्सा होगी।

यह नियम भी कारणता के सिद्धान्त में अन्तर्भूत है। यदि कुछ अवस्थाओं को छोड़ दिया जाय और उनके छोड़ने से हमारा परिणाम ठीक नहीं रहता तो हमें जानना चाहिये कि उनके अन्दर अवश्य कारणता का अन्वय है। यदि हम एक रस्सी को काट दें जिसको हम समझते हैं कि यह किसी पदार्थ के सहारे का कारण है और हम देखते हैं कि फिर भी पदार्थ गिर जाता है तो कहना पड़ेगा कि उस पदार्थ के सहारे का कारण रस्सी थी। यह नियम व्यतिरेक विधि का मूल कारण है।

(३) यदि एक पदार्थ की पूर्वावस्था और उत्तरावस्था दोनों परिमाण अन्य-सहगामिता में साथ ही उठती है और दोनों का साथ ही पतन होता है तो उसको आपस में कारण-कार्य-सम्बन्ध से अनुबंधित समझना चाहिये।

यह नियम भी कारणता के सिद्धान्त में छिपा हुआ है यदि इसे परिमाण की अपेक्षा से समझा जाय। शक्ति की स्थिरता[1] के नियम के अनुसार कार्य केवल कारण का पुनर्निर्माणित स्वरूप है; अतः यदि कोई परिमाण इत्व विभिन्नता कारण में पाई जाती है तो उसी प्रकार का विभिन्न कार्य में भी होना चाहिये। यह नियम सहगामी-विचरण-विधि का सच्चा आधार है।

मेन मनीवल का कहना कि ये तीन मुख्य विधियाँ हैं। किन्तु क्योंकि कारणों की खोज में अत्यन्त उन्नति हुई है इसलिये एक और भी सिद्धान्त बनाया जा सकता है। यदि हम सब ज्ञात कारणों को कार्य के ऊपर प्रभाव डालते देते हैं तो हम बतला सकते हैं कि कारण के अवशेष से कार्य का

(1) Conservation of Energy

क्या अवशिष्ट रहता है। इस नियम का जोसेफ महोदय ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

"जो अन्य पदार्थ का कारण हो सकता है वह प्रस्तुत पदार्थ का कारण नहीं माना जा सकता है।

यह नियम भी कारणता के सिद्धान्त से निष्पन्न है और यह अवशेष विधि का प्रतिष्ठापक माना गया है।

(३) अन्वय-विधि—

अन्वय-विधि का स्वरूप मिल महोदय ने इस प्रकार लिखा है:—

"यदि किसी घटना या पदार्थ के दो या अधिक उदाहरण परीक्षण विधि में आये हुए केवल एक अवस्था को सामान्यरूप में रखते हैं तो वह अवस्था जिसमें सब उदाहरण अनुकूल होकर रहते हैं, या तो दिये हुये पदार्थ या घटना का कारण होगी या कार्य होगी"

मिल महोदय स्वयं लिखते हैं कि कारणता के सम्बन्ध की खोज और सिद्धि निम्नलिखित सिद्धान्त पर निर्भर है—"पदार्थ या घटना को हानि न पहुँचाते हुए जो कोई अवस्थाएँ अलग की जा सकती हैं उनका कारणता की दृष्टि से उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।" यदि कुछ अवस्थाएँ छोड़ी जा सकती हैं और फिर भी दिया हुआ पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है तो हमें मानना पड़ेगा कि उन दोनों में कारणता का सम्बन्ध कोई नहीं है। इस विधि के अनुसार, इस सिद्धान्त के आधार पर, यह स्पष्ट है कि यदि कुछ अवस्थाएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं जब कि दिया हुआ पदार्थ या घटना विद्यमान है तो उनके बीच में अवश्य कारणता का सम्बन्ध होगा।

कारवेथ रीड ने मिल के उपर्युक्त कथन में कुछ संशोधन किया है यदि अनुसंधान में आये हुए किसी पदार्थ या घटना के दो या अधिक उदाहरण केवल एक दूसरा अवस्था को, चाहे वह पूर्ववर्ती हो या उत्तरवर्ती हो, सामान्यरूप में रखते हैं वह अवस्था या तो कारण है या आवश्यक

अवस्था है या पदार्थ का परिणाम है या कारणता के सम्बन्ध से बँधो हुई है।'

अब यहाँ उपर्युक्त अन्वयविधि की स्पष्ट व्याख्या की जाती है। सर्व प्रथम हम एक पदार्थ या घटना को परीक्षार्थ ग्रहण करते हैं और इसके कारण या कार्य का निश्चय करना चाहते हैं। यदि दिया हुआ पदार्थ या घटना कार्य है तो इसके कारण का निश्चय करना है। और यदि वह कार्य है तो उसके कारण का निश्चय करना है। अन्वय-विधि का प्रयोग करने के लिये हम दो या अधिक पदार्थ के उदाहरण परीक्षार्थ ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण द्वारा हम अनेक उदाहरणों को इकट्ठा करते हैं जिनमें घटना या पदार्थ को पैदा होना है। दिया हुआ पदार्थ या घटना सब उदाहरणों में समान रहती है किन्तु अन्य बातों की अपेक्षा से वे भिन्न हैं। यदि दिया हुआ पदार्थ या घटना कार्य है तो हम उसका कारण खोजना चाहते हैं। इसके लिये प्रत्यक्षीकरण द्वारा हम पदार्थों की पूर्ववर्ती अवस्थाओं को इकट्ठा करते हैं जिनमें वह पदार्थ या घटना उत्पन्न होती है। जब हम ऐसा कर लेते हैं तब देखते हैं कि इन पूर्ववर्ती अवस्थाओं में केवल एक अवस्था सर्व-साधारण है किन्तु अन्य हालतों में वे भेद रखती हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अपरिवर्तनीय साधारण पूर्ववर्ती अवस्था दिये हुये पदार्थ या घटना का कारण है। यदि दिया हुआ पदार्थ या घटना कारण हो और यदि हम इसका कार्य जानना चाहते हैं तो हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा उदाहरणों के परिणामों को इकट्ठा कर लेते हैं जिनमें पदार्थ या घटना उत्पन्न होती है। जब हम यह देखते हैं कि बातों में केवल एक अवस्था समान है किन्तु अन्य बातों में वे भिन्न हैं तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि अपरिवर्तनीय और साधारण परिणाम, दिये हुए पदार्थ या घटना का कार्य है। भिन्न भिन्न अवस्थाएं, जो कभी विद्यमान रहती हैं और कभी नहीं रहती और फिर भी दिया हुआ पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है, तो उसका इसके साथ कोई कारणता का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्वय-विधि निम्नलिखित दो बातों को बोधती है :—

(१) "किसी पदार्थ की केवल अपरिवर्तिनी पूर्ववर्ती अवस्था ही उसका कारण हो सकती है (२) और किसी पदार्थ का केवल अपरिवर्तनीय परिणाम ही उसका कार्य हो सकता है।"

इसका बीजात्मक उदाहरण निम्नलिखित होगा :—

क ख ग . . . . क' ख' ग'

क घ ङ . . . . क' घ' ङ'।

क च छ . . . . क' च' छ'

'क' कारण है 'क'' का अथवा 'क'' कार्य है 'क' का। इनमें बिना चिह्न वाले क वगैरह वर्ण, पूर्ववर्ती अवस्थाओं के द्योतक हैं और चिह्न वाले क वगैरह उत्तरवर्ती अवस्थाओ के द्योतक है।

मान लो दिया हुआ पदार्थ एक कार्य है और हम उसके कारण का पता लगाना चाहते हैं तो हमें कई उदाहरणों को इकठा करना पड़ेगा जिनमे 'क'' पैदा होता है, जैसे क' ख ग, क' घ ङ, क' च छ। 'क' कारण इनके पूर्ववर्ती अवस्थाओं में अवश्य मिलना चाहिये, अत प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हम तीन उदाहरणों की पूववर्ती अवस्थाओं को इकठ्ठा करते हैं और देखते हैं कि वे क्रमानुसार क ख ग, क घ ङ और क च छ हैं। इन पूर्ववर्ती अवस्थाओं में केवल एक सर्वसाधारण है जैसे 'क', बाकी सब भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ जैसे ख, ग, घ, ङ, च, छ, कारण नहीं कही जा सकती क्योंकि वे 'क' का कुछ भी नुकसान न करते हुए अलग हो सकती हैं। इसलिये अपरिवर्तनीय और सर्व साधारण 'क' ही कारण कहा जा सकता है। मानलो कि दिया हुआ पदार्थ या घटना कारण 'क' है; हम इसके कार्य का पता लगाना चाहते हैं। हम कई उदाहरण इकठे करते हैं जिनमें कारण 'क' पैदा होता है, जैसे क ख ग, क घ ङ, क च छ। कार्य अवश्य ही उत्तरवर्ती अवस्थाओं में होना चाहिये। अत प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हम उदाहरणों की उत्तरवर्ती अवस्थाओं को एकत्रित करते हैं और देखते हैं कि वे क्रमानुसार क' ख ग, क' घ ङ, क' च छ हैं। इन उत्तरवर्ती अवस्थाओं में 'क'' सर्वसाधारण है किन्तु अन्य बातों में वे आपस में भिन्न हैं। अत. अपरिवर्तनीय और सर्वसाधारण 'क'' कार्य है।

अब हम इस विधि के यथार्थ उदाहरणों को लेते हैं :—

'कार्य से कारण'

(क) मान लो हम किसी बीमारी का निदान (कारण) जानना चाहते हैं, जैसे जूड़ी का बुखार। हम ऐसे अनेक उदाहरण एकत्रित करते हैं जहाँ यह पैदा होता है। प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हमें यह पता लगता है कि इनमें से प्रत्येक उदाहरण में एनोफील (मलेरिया के मच्छर) नामक जन्तुओं के काटने से ऐसा हुआ है, जब कि दूसरी हालतें सर्वथा भिन्न हैं जैसे जिन व्यक्तियों पर मलेरिया बुखार का हमला हुआ है उनकी हालतें दूसरे प्रकार की हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार का भोजन करते हैं तथा भिन्न भिन्न स्थानों में रहते हैं इत्यादि। इसलिये साधारण पूर्ववर्ती अवस्था अर्थात् एनोफील द्वारा काटा जाना, मलेरिया बुखार का कारण है।

(ख) मिल महोदय का उदाहरण—मान लो हम रवे बनाने के कार्य का कारण जानना चाहते हैं। इसके लिये हम ऐसे उदाहरणों की तुलना करते हैं जिनमें भौतिक वस्तुएँ रवे के रूप को धारण करती हैं जिनमें और कोई समानता का लक्षण नहीं पाया जाता। हमारा प्रत्यक्षीकरण बतलाता है कि इन उदाहरणों में केवल एक पूर्ववर्ती अवस्था सर्वसाधारण है अर्थात् किसी पदार्थ की द्रवावस्था से घन या ठोस अवस्था का होना। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि द्रवावस्था से किसी पदार्थ की घन या ठोस अवस्था का होना रवे बनाने के कार्य का कारण है।

कारण से कार्य।

(क) मान लो हम वायु के परिवर्तन से उत्पन्न कार्य के स्वरूप को जानना चाहते हैं। इसके लिये हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा उन मनुष्यों के, जो छुट्टियों में स्वास्थ्य के लिये पहाड़ों पर जाते हैं उदाहरण इकट्ठे करते हैं। जब वे वहाँ से लौटते हैं तब उनके स्वास्थ्य में विशेष परिवर्तन दिखाई देता है यद्यपि वे अनेक प्रकार की शिकायतें भी करते रहते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि स्वास्थ्य में जो परिवर्तन हुआ है वह वायु-परिवर्तन का परिणाम या कार्य है।

(ख) मिल का उदाहरण:—मान लो हम, किसी चार गुण वाले

द्रव्य का तेल के साथ मिलाने पर क्या परिणाम होता है — यह जानना चाहते हैं। इसके लिये हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा कई उदाहरण ऐसे लेते हैं जिनमें ऐसी वस्तुओं का संयोग हुआ है। हमें मालूम होता है कि इस प्रकार के सब उदाहरणों में साबुन बन जाता है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साबुन बनने का कार्य क्षार द्रव्य और तेल के संयोग से उत्पन्न होता है।

इस विधि का नाम मिल महोदय ने अन्वय-विधि (The Method of agreement) कहा है क्योंकि यह विधि भिन्न भिन्न उदाहरणों की तुलना करके यह निश्चय कराती है कि वे किस बात में समान हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिद्धि यहाँ पर उदाहरणों की समानता में ही केवल नहीं मिलती, किन्तु एक अवस्था के अन्वय में मिलती है जब हम अन्य अवस्थाओं की इसके साथ तुलना करने पर उनमें भेद पाते हैं। यह समानता का अकेलापन ही है जिससे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसी कारण कुछ तार्किक लोग जैसे, मैलोन, कॉफी, इस विधि को **एकाकी अन्वय की विधि** (The Method of single agreement) कहते हैं।

अन्वय विधि विशेष रूप से प्रत्यक्षीकरण की विधि है। प्रयोग से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्वय-विधि केवल प्रत्यक्षीकरण से ही सम्बन्धित है और इसका प्रयोग के उदाहरणों से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रयोग, प्रत्यक्षीकरण को सर्वथा अलग नहीं कर देता, क्योंकि जहाँ जहाँ प्रयोग सम्भव होता है, वहाँ प्रत्यक्षीकरण भी अवश्य सम्भव होता है। यद्यपि इसका विपरीत नियम सत्य नहीं है। अत किसी हद तक अन्वय-विधि, प्रयोग के उदाहरणों में भी निश्चय-पूर्वक प्रयोग की जा सकती है। अन्वय-विधि विशेष रूप से प्रत्यक्षीकरण की विधि है इसका अभिप्राय यह है कि इसका प्रयोग उन उदाहरणों में किया जाता है जहाँ परीक्षागत पदार्थों या घटनाओं पर हमारा पूरा नियन्त्रण होता है— उसका क्षेत्र इतना सीमित है कि वहाँ प्रयोग सम्भव नहीं है। यह वह विधि है जिसको हम तब ग्रहण करते हैं जब हम देखते हैं कि वहाँ प्रयोग सम्भव

नहीं है। अन्वय-विधि की कोई खास और निश्चित प्रकार के उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। कोई भी उदाहरण जिसमें परीक्षागत पदार्थ या घटना उत्पन्न होती है, इस विधि के लिये परीक्षार्थ लिया जा सकता है। अत प्रत्यक्षीकरण इसके उदाहरण दे सकता है। व्यतिरेक विधि को विशेष रूप से प्रयोग-विधि के नाम से कहा जाता है क्योंकि इस विधि के लिये यह आवश्यक है कि हम विशेष प्रकार के उदाहरणों को प्राप्त करें। वास्तव में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यह प्रयोग ही है, प्रत्यक्षीकरण नहीं जो इस प्रकार के उदाहरणों को दे सकता है।

क्योंकि अन्वय-विधि विशेष रूप से प्रत्यक्षीकरण की विधि है अतः अन्वय-विधि के, दूसरी विधियों की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ हैं। प्रत्यक्षीकरण का विस्तार प्रयोग की अपेक्षा अधिक है। अनुसंधान के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनको हम किसी प्रकार से प्रत्यक्षीकरण के नियन्त्रण में नहीं ला सकते और न उनको प्रत्यक्षीकरण का विषय ही बनाया जा सकता है। इसलिये अन्वय-विधि को अनेक प्रकार के अनुसन्धान क्षेत्रों में काम में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षीकरण द्वारा हम केवल दिये हुए कारण के कार्य का ही केवल पता नहीं लगा सकते; अपितु दिये हुए कार्य के कारण का भी पता लगा सकते हैं। इसलिये अन्वय-विधि का प्रयोग हम दोनों दिशाओं में कर सकते हैं अर्थात् इसके द्वारा कारणता सम्बन्ध की खोज भी हो सकती है और सिद्धि भी हो सकती है। इन अपेक्षाओं से अन्वय-विधि अन्य विधियों से अवश्य ही श्रेष्ठ है।

(४) अन्वय-विधि के दोष तथा उनको दूर करने के सम्भव उपाय। अन्वय-विधि के निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) स्वभावगत अपूर्णता—अन्वय-विधि को हम कारण बहुत्व के सिद्धान्त के द्वारा निरर्थक सिद्ध कर सकते हैं। मिल महोदय ने इसको अन्वय-विधि की स्वाभाविक निर्बलता बतलाया है क्योंकि यह वस्तुओं की जड़ को पकड़ती है और इस विधि के द्वारा प्राप्त किये हुए परिणामों को यह सर्वथा अनिश्चित बतलाता है।

कारण बहुत्व का सिद्धान्त यह बतलाता है कि वही कार्य भिन्न-भिन्न

समयों पर भिन्न-भिन्न कारण-जन्य होता है। यदि ऐसा है तो यह हो सकता है कि जिस कार्य के कारण का हम निश्चय करना चाहते हैं, उसके भिन्न-भिन्न उदाहरणों को देखने पर यह मालूम हो कि उसके भिन्न-भिन्न कारण हैं और अपरिवर्तनीय तथा साधारण अवस्था का, कार्य के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार कल्पना करो कि तीन प्रकार के विष पानी के साथ मिलाकर तीन प्रकार के जानवरों के दिये गये हैं और वे तीनों मर जाते हैं। यहाँ हम इस प्रकार तर्क नहीं कर सकते कि पानी मिलाने की सर्वसाधारण अवस्था उन सबकी मृत्यु का कारण है। बल्कि तीन प्रकार के विष तीन भिन्न-भिन्न प्रकार की मृत्यु के तीन भिन्न-भिन्न कारण हैं। इसी प्रकार यदि तीन प्रकार की रेचक (दस्तावर) औषधियाँ गुलाबजल के साथ तीन प्रकार के व्यक्तियों को दी जाँय तो तीनों को दस्त हो जाते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि गुलाबजल का मिलाना, जो कि साधारण अवस्था है, दस्तों का कारण है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कारण-बहुत्व का सिद्धान्त अन्वय विधि की सफलता का बाधक है। यह सत्य है कि यह सिद्धान्त, वास्तव में, अधिक ठीक नहीं है, किन्तु इस प्रकार के उदाहरणों में यह कुछ प्रायोगिक दिक्कतों को पैदा करता है जब हम केवल प्रत्यक्षीकरण के ऊपर ही अवलम्बित रहते हैं।

कारण बहुत्व के द्वारा जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं उनको हम दो प्रकार से दूर कर सकते हैं (१) उदाहरणों को अधिक संख्या में लेने से और (२) सम्मिलित—विधि के प्रयोग से।

(१) उदाहरणों की अधिक संख्याः—अन्वयविधि की एक कठिनाई जो कारण बहुत्व से उत्पन्न होती है उसको हम अधिक संख्या में उदाहरणों को ग्रहण कर दूर कर सकते हैं। यदि हम अधिक संख्या में उदाहरणों को लें और देखें कि एक अवस्था सब उदाहरणों में विद्यमान है तो हमारा निष्कर्ष, कि यह पदार्थ के साथ कारणता से सम्बन्धित है—अधिक सम्भव हो जाता है। यह कठिनता से सत्य हो सकता है कि इन सब उदाहरणों में जो साधारण अवस्था है वह आकस्मिक रूप से विद्यमान हो। अतः अन्वयविधि के अन्दर जितनी अधिक संख्या में उदाहरण लिये जाँयगे

उतनी ही अधिक निष्कर्षों के सत्य होने की सम्भावना हो सकती है। लेकिन निष्कर्ष पूर्ण रूप से कभी निश्चयात्मक सत्य नहीं माने जा सकते। इस लिए से उदाहरणों का अधिक संख्या में एकत्रित करना अन्वयविधि में कारण बहुत्व के सिद्धान्त से आनेवाली कठिनाइयों को दूर करने में काफी सहायता पहुँचाता है किन्तु यह पूर्णरूप से दोष को दूर नहीं कर सकता।

सम्मिलित विधि का प्रयोग :—

सम्मिलित विधि (Joint method) अन्वय-विधि से विशेषता रखती है क्योंकि यह निषेधात्मक और विध्यात्मक दोनों प्रकार के उदाहरणों का उपयोग करती है। विध्यात्मक उदाहरण यह बतलाते हैं कि दिया हुआ पदार्थ विद्यमान है और एक दूसरी अवस्था भी विद्यमान है। निषेधात्मक उदाहरण यह बतलाते हैं कि दिया हुआ उदाहरण विद्यमान नहीं है तथा अन्य अवस्थायें भी विद्यमान नहीं है। कारण बहुत्व की कठिनाई को दूर करने के लिये सम्मिलित विधि में निषेधात्मक उदाहरणों को अत्यधिक रूप से निकाल दिया जाता है जिससे कि जो कुछ विध्यात्मक उदाहरणों के समूह में एक रूप से विद्यमान है, उसको छोड़कर अन्य सब अवस्थाओं को ग्रहण किया जा सके। यदि ये अवस्थायें विद्यमान हैं और फिर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है तो उनको हम कारण नहीं कह सकते। अत: इस सम्मिलित विधि को प्रयोग करके हम कारण बहुत्व से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों को सरलतापूर्वक दूर कर सकते हैं।

(२) प्रायोगिक अपूर्णता: — अन्वय विधि की एक और बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे लिये यह निश्चय करना असम्भव है कि हम सब पूर्ववर्ती अवस्थाओं को जानते हैं। इस बात की हमेशा सम्भावना है कि कोई अवस्था छिपी हुई हो जो हमारी निगाह से बच गई है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हम असावधानीवश भी गलती करते हैं। इस दोष को अन्वयविधि की प्रायोगिक अपूर्णता कहा जाता है।

क्योंकि अन्वय-विधि प्राय: करके प्रत्यक्षीकरण की ही विधि कही जाती है अत: हम यह निश्चय पूर्वक कभी नहीं कह सकते कि सब आवश्यक अवस्थाओं का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण किया जा चुका है। हम सोच सकते

हैं कि हमने यह देखा है कि अमुक प्रकार की अवस्था ही एक स्थिर अवस्था है किन्तु सम्भव है कोई दूसरी अवस्था भी मौजूद हो और उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया हो। तथापि यह वह अवस्था है जो परीक्षागत पदार्थों के साथ कारणता के सम्बन्ध से अनुबद्ध रहती है। इस विधि के लिये ऐसे उदाहरणों की आवश्यकता है जो केवल एक अवस्था में समानता रखते हों। यह वह माग है जो अभ्यासावस्था में मुश्किल से पूरी की जा सकती है। क्योंकि हम अपने उदाहरणों को सामान्य प्रत्यक्षीकरण या अवलोकन से ही ग्रहण करते हैं।

यह प्रायोगिक अपूर्णता, जिसमें हम समग्र उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण करने में असमर्थ होते हैं केवल कुछ हद तक उदाहरणों की सख्या बढाने से दूर हो सकती है। यदि हम विचारार्थ अधिक सख्या में उदाहरण ग्रहण करें तो हमको सब आवश्यक अवस्थाओं का निरीक्षण करने का अवसर मिल सकता है किन्तु यह स्वीकार करना चाहिये कि ऐसा होनेपर भी हम उदाहरणों के बारे में पूर्णरूप से निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अत यह कठिनाई पूर्णरूप से दूर नहीं की जा सकती।

(५) अन्वयविधि से हम कारणता और सहवर्तित्व इन दोनों के भेद को नहीं जान सकते।

कारणता में क्रम अन्तर्भूत है इसलिये इसको सहवर्तित्व[1] के साथ गड़बड़ में नहीं डालना चाहिये। जब दो पदाथ या घटनायें साथ-साथ उत्पन्न होती हैं तब यह आवश्यक नहीं है कि वे आपस में कारणकार्यभाव से भी सम्बन्धित हों। हो सकता है कि वे दोनों उसी कारण के सहवर्ती कार्य हों जैसे, दिन और रात, ताप और प्रकाश, विद्युत् और कड़क। अत यह स्पष्ट है कि अन्वय विधि के द्वारा कारणता और सहवर्तित्व के अन्तर को जानना अत्यन्त कठिन है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्वय-विधि कारणता सबन्ध की केवल सूचना दे सकती है, यह उसको सिद्ध नहीं कर सकती। यथार्थ में इसको वैज्ञानिक—अनुसधान प्रक्रिया में एक क्रम मानना चाहिये

(1) Co-existence.

कॉफी ने ठीक कहा है "इसका मुख्य उपयोग इस बात में है कि यह समर्थन के लिये मान्-कल्पना के रूप में कारणता के सम्बन्ध की सूचना देती है।" इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि अन्वय-विधि अनुसंधान या खोज की विधि है, सिद्धि से इसका कोई प्रयोजन नहीं।

(६) अन्वय-विधि और साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान

। यह पहले बतलाया जा चुका है कि साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान एक अनुमान की विधि है जिसमें व्यत्यन्तिक विरोध से रहित अनुभव के आधार पर हम सामान्य वाक्य का निर्माण करते हैं। अनुभवद्वारा हमें ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें दो पदार्थ या घटनायें एक साथ अनुभव में आती हैं और अन्य कोई विरुद्ध उदाहरण होता हुआ प्रतीत नहीं होता। अतः इस व्यत्यभिक विरोध रहित अनुभव से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वे सर्वदा एक साथ रहते हैं। जहाँ तक हमारे अनुभव का सम्बन्ध है—सब कौए काले ही देखे जाते हैं। दूसरे रंग का कोई अन्य कौआ देखने में नहीं आया है। अतः इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सब कौए काले होते हैं। यह निष्कर्ष *साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान* से निकाला गया है।

अन्वय-विधि दो पदार्थों या घटनाओं के बीच में कारणता के संबन्ध को इस आधार पर सिद्ध करती है कि अनुभव द्वारा हमें अधिक अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो एक खास अवस्था की विद्यमानता में समान होते हैं जब कभी भी परीक्षागत पदार्थ या घटना उपस्थित होती है जैसे, हम जूड़ी के बुखार के कुछ उदाहरण देखते हैं और मालूम करते हैं कि इस प्रकार के प्रत्येक उदाहरण की पूर्वावस्था मच्छरों का काटना है तो हम एक दम यह *निष्कर्ष निकालते हैं कि इन दोनों में* कारणता का सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों के अन्दर प्रत्यक्षीकरण द्वारा हम विध्यात्मक कुछ उदाहरण एकत्रित करते हैं जो दो पदार्थों या घटनाओं की विद्यमानता में समानता रखते हैं। दोनों के अन्दर निष्कर्ष की सिद्धि इस अवस्था पर निर्भर है कि इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं—और

ऐसे उदाहरणों की संख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक उसके निष्कर्ष की सम्भावना होगी। इससे कोई यह विचार कर सकता है कि साधारण गणना-जन्य-सामान्यानुमान अन्वय-विधि को छोड़ कर और कुछ नहीं है। लेकिन ऐसा विचार भ्रम-पूर्ण है और दोनों के मध्य, वास्तव में, विशेष अन्तर है। अन्वय विधि प्रयोग-साध्य विधि है जो अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ निरर्थक बातों या पदार्थों को सर्वथा अलग कर देती है जिससे कि कारणता का सम्बन्ध स्थापित किया जा सके किन्तु साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में इस प्रकार का कोई पृथक्-करण नहीं किया जाता। अन्वय-विधि में हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा न केवल उदाहरणों को एकत्रित करते हैं अपितु कुछ उदाहरणों को छाँट लेते हैं और शेष को अलग कर देते हैं। साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान में ऐसे उदाहरण नहीं छांटे जाते। इसकी सत्यता केवल इसी बात पर निर्भर है कि इसमें कुछ उदाहरणों की गणना अवश्य की जाती है जो हमारे अनुभव में आते हैं। यह उदाहरणों के स्वरूप की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देता। अन्वय विधि के अन्दर हम उदाहरणों की संख्या पर अधिक निर्भर नहीं रहते किन्तु उनके स्वरूप पर निर्भर रहते हैं। हम उदाहरणों की विभिन्नता तथा संख्या दोनों पर अधिक ध्यान देते हैं। इसी हेतु से फाउलर महोदय कहते हैं "अन्वय विधि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये अच्छी तरह छांटे हुए कुछ उदाहरण ही पर्याप्त हैं। किन्तु उतनी ही संख्या, जब हम उन आधारों को अलग करते हैं जिन पर उनको छाँटा गया है, साधारणगणना-जन्य-सामान्यानुमान को सिद्ध करने के लिये, सर्वथा अनुपयुक्त और अपर्याप्त होगी।

(७) अन्वय और व्यतिरेक की सम्मिलित-विधि—

अन्वयव्यतिरेक की सम्मिलित विधि के विषय में मिल महोदय ने निम्नलिखित सूत्र बतलाया है —

"यदि दो या अधिक उदाहरण, जिनमें पदार्थ या घटना उत्पन्न होती है केवल एक अवस्था में समानता रखते हैं तथा दो या अधिक उदाहरण, जिनमें यह नहीं उत्पन्न होती है, एक

अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में किसी प्रकार की समानता नहीं रखते हैं, तो यह अवस्था जिसमें ही केवल दो प्रकार की अवस्थाएं विभिन्नताएं रखती हैं—यह या तो उस पदार्थ या घटना का कार्य है या कारण है या कारण का आवश्यक अंश या भाग है।"

यह सम्मिलित-अन्वय-व्यतिरेक की विधि, वास्तव में, अन्वय-विधि का द्विगुणित प्रयोग है। इस प्रकार हम बहुत से उदाहरणों को देखते हैं जिनमें परीक्षागत पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है और मालूम करते हैं कि ये उदाहरण केवल एक ही अवस्था की विद्यमानता में समानता रखते हैं। यह विध्यात्मक उदाहरणों का समूह कहा जाता है। यथार्थ में यह विध्यात्मक रूप में अन्वय विधि है। इसके अतिरिक्त हम कुछ उदाहरणों को और भी देखते हैं जिनके अन्दर परीक्षागत पदार्थ या घटना अविद्यमान रहती है और हम मालूम करते हैं कि एक अवस्था जो विध्यात्मक उदाहरणों के समूह में एक रूप से विद्यमान् रहती है, केवल एक अवस्था है जो एक रूप से वहाँ अविद्यमान है। यह निषेधात्मक उदाहरणों का समूह है; इसको हम अन्वय-विधि का निषेधात्मकरूप भी कह सकते हैं। क्योंकि इस मामले में उदाहरण परीक्षागत-पदार्थ या घटना की एक अविद्यमानता में उसी प्रकार समान रहते हैं जैसे कि दूसरी अवस्था में।

मिल महोदय ने इस विधि को, सिद्धि के लिये कोई स्वतन्त्र या भिन्न विधि नहीं स्वीकार किया किन्तु यह बतलाया है कि यह केवल अन्वय-विधि का ही सुधार या विस्तार है। इस विधि के द्वारा हम कारणता-सम्बन्ध की स्थापना करते हैं जिसकी सूचना हमें अन्वय-विधि के द्वारा मिलती है।

इसके सांकेतिक उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

विधि में अन्वय		निषेध में अन्वय	
विध्यात्मक उदाहरणों का समूह		निषेधात्मक उदाहरणों का समूह	
क ख ग	क' ख' ग'	ख ग घ	ख' ग' घ'
क ग घ	क' ग' घ'	घ ङ च	घ' ङ' च'
क घ ङ	क' घ' ङ'	ङ च छ	ङ' च' छ'

अत फ' का कारण क है

यहाँ हमारे सामने उदाहरणों के २ समूह हैं (१) विध्यात्मक और (२) निषेधात्मक। विध्यात्मक उदाहरणों के समूह में क समान रूप से सर्व पूर्ववर्ती अवस्थाओं में विद्यमान है और उसी प्रकार समान रूप से फ' उत्तरवर्ती अवस्थाओं में भी विद्यमान है। निषेधात्मक उदाहरणों के समूह में क समान रूप से पूर्ववर्ती अवस्थाओं में अविद्यमान है और उसी प्रकार से फ' उत्तरवर्ती अवस्थाओं में भी समान रूप से अविद्यमान है। अन्वयविधि के अनुसार विध्यात्मक उदाहरणों का समूह यह बतलाता है कि क, फ' का कारण है। यह अनुमान निषेधात्मक उदाहरणों के समूह से भी सिद्ध किया जाता है जिसमे क समान रूप से पूर्ववर्ती अवस्थाओं में अविद्यमान है तथा उसी प्रकार से फ' उत्तरवर्ती अवस्थाओं में भी अविद्यमान है।

यहाँ यह बात समझनी चाहिये कि निषेधात्मक समूह में उदाहरण, जिनमें परीक्षा गत-पदार्थ या घटना पैदा नहीं हुई है इस प्रकार के होने चाहिये कि अगर वे प्रश्न गत अवस्था को छोड़कर किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुए हों तो वे अन्य कारण अपना स्वरूप प्रकट कर देंगे। निषेधात्मक समूह बतलाता है कि ख, ग, घ, ट, च, छ, फ के कारण नहीं हो सकते क्योंकि वे विद्यमान हैं और कार्य अविद्यमान है।

इसके यथार्थ उदाहरण निम्नलिखित हैं —

(क) एक आदमी कई उदाहरण ग्रहण करता है और उनमें एक विशिष्ट प्रकार का भोजन करता है और बदहज़मी पैदा कर लेता है। इस विध्यात्मक उदाहहरणों के समूह से, अन्वयविधि के अनुसार, वह अनुमान करता है कि उस प्रकार के आहार के ग्रहण करने से उसे बदहज़मी हो गई है। अनन्तर वह एक निषेधात्मक उदाहरणों का समूह लेता है और देखता है कि जब वह उस प्रकार की वस्तु ग्रहण नहीं करता है, तब उसको बदहज़मी की कोई तकलीफ नहीं होती। इस प्रकार उसका पहले का निष्कर्ष सत्य सिद्ध हो जाता है।

(ख) यह देखा जाता है कि जब एक खास सेनापति युद्ध का सञ्चालन कर रहा है तब सेना जीतती चली जाती है तथा जब वह स्वयं अनुपस्थित

अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में किसी प्रकार की समानता नहीं रखते हैं, तो वह अवस्था जिसमें ही केवल दो प्रकार की अवस्थाएं विभिन्नताएं रखती हैं—वह या तो उस पदार्थ या घटना का कार्य है या कारण है या कारण का आवश्यक अंश या भाग है।"

यह सम्मिलित-अन्वय-व्यतिरेक की विधि, वास्तव में, अन्वय-विधि का द्विगुणित प्रयोग है। इस प्रकार हम बहुत से उदाहरणों को देखते हैं जिनमें परीक्षागत पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है और मालूम करते हैं कि ये उदाहरण केवल एक ही अवस्था की विद्यमानता में समानता रखते हैं। यह विध्यात्मक उदाहरणों का समूह कहा जाता है। यथार्थ में यह विध्यात्मक रूप में अन्वय विधि है। इसके अतिरिक्त हम कुछ उदाहरणों को और भी देखते हैं जिनके अन्दर परीक्षागत पदार्थ या घटना अविद्यमान रहती है और हम मालूम करते हैं कि एक अवस्था जो विध्यात्मक उदाहरणों के समूह में एक रूप से विद्यमान रहती है, केवल एक अवस्था है जो एक रूप से यहाँ अविद्यमान है। यह निषेधात्मक उदाहरणों का समूह है इसको हम अन्वय-विधि का निषेधात्मकरूप भी कह सकते हैं। क्योंकि इस मामले में उदाहरण परीक्षागत पदार्थ या घटना की एक अविद्यमानता में उसी प्रकार समान रहते हैं जैसे कि दूसरी अवस्था में।

मिल महोदय ने इस विधि को, सिद्धि के लिये कोई स्वतन्त्र या भिन्न विधि नहीं स्वीकार किया; किन्तु यह बतलाया है कि यह केवल अन्वय-विधि का ही सुधार या विस्तार है। इस विधि के द्वारा हम कारणता-सम्बन्ध की स्थापना करते हैं जिसकी सूचना हमें अन्वय-विधि के द्वारा मिलती है।

इसका बीजात्मक उदाहरण निम्नलिखित है :—

विधि में अन्वय		निषेध में अन्वय	
विध्यात्मक उदाहरणों का समूह		निषेधात्मक उदाहरणों का समूह	
क ख ग	क' ख' ग'	ख ग घ	ख' ग' घ'
क ग घ	क' ग' घ'	घ ङ च	घ' ङ' च'
क घ ङ	क' घ' ङ'	ङ च छ	ङ' च' छ'

के बाहर हों। इसकी हानियाँ ये है कि दोनों ही प्रकार के उदाहरण कारणता के सबध को सिद्ध नहीं कर सकते। यद्यपि सम्मिलित विधि के निष्कर्ष, जिसमें निषेधात्मक उदाहरणों पर अधिक बल दिया जाता है, अन्वयविधि के निष्कर्षों की अपेक्षा अधिक सम्भव होते हैं। अन्वयविधि की मुख्य कमज़ोरी यह है कि यह कारण बहुत्व के सिद्धान्त द्वारा खडित हो जाती है तथा इसमें ऐसी लुप्त और अज्ञात अवस्थाएँ भी होती है जो हमारे प्रत्यक्षीकरण से बच जाती है जिसमें हमें सहवर्तित्व (Coexistence) को कारणता से अलग करना कठिन हो जाता है। सम्मिलितविधि में एक यह भी अपूर्णता है कि इसमें बहुत सी लुप्त और अदृष्ट बातें होती हैं जिनके कारण हम सहवर्तित्व से कारणता को अलग नहीं कर सकते। लेकिन सम्मिलितविधि, कारणबहुत्व से पैदा होने वाले दोष से सर्वथा छूटी हुई है। यदि वास्तव में विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि सम्मिलित विधि का आविष्कार, कारण बहुत्व से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये ही किया गया था यहाँ हम अन्वयविधि का बीजात्मक उदाहरण लेते हैं :—

क ख ग	क′ ख′ ग′
क ग घ	क′ ग′ घ′
क घ ङ	क′ घ′ ङ′

∴ क, क′ का कारण है।

यह कारण बहुत्व के सिद्धान्त से दूषित हो जाता है क्योंकि पहले उदाहरण में यह सम्भव है कि 'ख' कारण 'क' का हो, दूसरे उदाहरण में 'घ' 'क' का कारण हो और तीसरे उदाहरण में 'ङ' 'क' का कारण हो और 'क' का पूर्ववर्ती अवस्थाओं में एक समान विद्यमान होना केवल आकस्मिक अवस्था हो।

अब हम एक निषेधात्मक उदाहरणों के समूह को लेते हैं —

ख ग घ	ख′ ग′ घ′
घ ङ च	घ′ ङ′ च′
ङ च छ	ङ′ च′ छ′

पड़ता है तब सेना हारती जाती है। यहाँ हम यही अनुमान कर सकते हैं कि सेना की असफलता का मुख्य हेतु सेनापति का अनुपस्थित है।

(ग) मिल महोदय का उदाहरण। हम यह देखते हैं कि वस्तुओं पर ओस पड़ गई है जो शीघ्रता से ताप को निकाल रही है। हम यह भी देखते हैं कि उन पदार्थों पर ओस नहीं जम रही है, जो ताप के शीघ्रता से निकलने की अविद्यमानता में समानता रखते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शीघ्रता से ताप का निकलना ओस जमने का कारण है।

इस संयुक्तविधि को मिल महोदय ने व्यतिरेक की अप्रत्यक्ष विधि का भी नाम दिया है क्योंकि यहाँ निषेधात्मक उदाहरण प्रयोग से प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु अप्रत्यक्ष क्रम से प्राप्त हुए हैं। यह दिखलाते हुये कि यदि प्रयोग किया जाय तो निष्कर्ष क्या निकलेगा इसको अन्वय-व्यतिरेक की सम्मिलित विधि भी कहा गया है। यह अन्वय विधिरूप इसलिये है क्योंकि इसमें विध्यात्मक उदाहरणों के समूह का प्रयोग किया गया है। विध्यात्मक उदाहरण प्रश्नगत अवस्था की विद्यमानता में समानता रखते हैं। यह व्यतिरेक रूप इसलिये है क्योंकि यह विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के उदाहरणों के समूहों को काम में लाती है। विध्यात्मक और निषेधात्मक उदाहरण इस बात में भेद रखते हैं कि प्रश्नगत अवस्था एक रूप से विध्यात्मक उदाहरणों में विद्यमान है और निषेधात्मक उदाहरणों में एकरूप से अविद्यमान है। कुछ तार्किक लोग इसको अन्वय की द्विगुणित विधि कहना पसन्द करते हैं क्योंकि इसमें द्विगुणित अन्वय है—अन्वय, विधि में और अन्वय निषेध में। अतः इसको द्विगुणित अन्वय विधि कहना अधिक अच्छा है और इसको हमें किसी भी कारण से व्यतिरेक विधि के साथ गड़बड़ में नहीं डालना चाहिये।

अन्वयविधि की तरह संयुक्त या सम्मिलितविधि भी वास्तव में निरीक्षण करने की विधि है—प्रयोग की नहीं। अतः इसमें, अन्वयविधि के लाभ और अलाभ दोनों पाए जाते हैं। इसके लाभ तो ये हैं कि दोनों विधियों का क्षेत्र उन से विस्तृत है और इसका ऐसे उदाहरणों में भी प्रयोग किया जा सकता है जिनमें परीक्षात्मक पदार्थ या घटना हमारे नियन्त्रण

के बाहर हों। इसकी हानियाँ ये है कि दोनों ही प्रकार के उदाहरण कारणता के सबध को सिद्ध नहीं कर सकते। यद्यपि सम्मिलित विधि के निष्कर्ष, जिसमें निषेधात्मक उदाहरणों पर अधिक बल दिया जाता है, अन्वयविधि के निष्कर्षों की अपेक्षा अधिक सम्भव होते हैं। अन्वयविधि की मुख्य कमज़ोरी यह है कि यह कारण बहुत्व के सिद्धान्त द्वारा खण्डित हो जाती है तथा इसमें ऐसी लुप्त और अज्ञात अवस्थाएँ भी होती है जो हमारे प्रत्यक्षीकरण से बच जाती है जिसमें हमें सहवर्तित्व (Coexistence) को कारणता से अलग करना कठिन हो जाता है। सम्मिलितविधि में एक यह भी अपूर्णता है कि इसमें बहुत सी लुप्त और अदृष्ट बातें होती हैं जिनके कारण हम सहवर्तित्व से कारणता को अलग नहीं कर सकते। लेकिन सम्मिलितविधि, कारणबहुत्व से पैदा होने वाले दोष से सर्वथा छूटी हुई है। यदि वास्तव में विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि सम्मिलित विधि का आविष्कार, कारण बहुत्व से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये ही किया गया था यहाँ हम अन्वयविधि का बीजात्मक उदाहरण लेते हैं :—

क ख ग	क' ख' ग'
क ग घ	क' ग' घ'
क घ ङ	क' घ' ङ'

∴ क, क' का कारण है।

यह कारण बहुत्व के सिद्धान्त से दूषित हो जाता है क्योंकि पहले उदाहरण में यह सम्भव है कि 'ख' कारण 'क' का हो, दूसरे उदाहरण में 'घ' 'क' का कारण हो और तीसरे उदाहरण में 'ङ' 'क' का कारण हो और 'क' का पूर्ववर्ती अवस्थाओं में एक समान विद्यमान होना केवल आकस्मिक अवस्था हो।

अब हम एक निषेधात्मक उदाहरणों के समूह को लेते हैं :—

ख ग घ	ख' ग' घ'
घ ङ च	घ' ङ' च'
ङ च छ	ङ' च' छ'

प्रथम निषेधात्मक उदाहरण यह बतलाता है कि प ग प पूर्ववर्ती अवस्थाओं में विद्यमान हैं और फिर भी 'क' उत्तरवर्ती अवस्थाओं में विद्यमान नहीं है। यह बतलाता है कि वे 'क' के कारण नहीं हो सकते। इसी प्रकार 'ङ' भी 'क' का कारण नहीं हो सकता जैसा कि दूसरे निषेधात्मक उदाहरण में पाया जाता है इत्यादि। इस प्रकार यदि निषेधात्मक उदाहरण पूर्वक्रम से रिक्त हो जायें और उनमें सब अवस्थायें पायी जावें केवल उनको छोड़कर जो विध्यात्मक समूह में एकरूप से पायी जाती हैं तो कारण अनुक्त नहीं हो सकता। यदि यह शर्त पूरी नहीं होती तो कारण अनुक्त की सम्भावना अलग नहीं की जा सकती।

(८) व्यतिरेक विधि

मिल का कहना है कि व्यतिरेक विधि, (The method of difference) का जब कभी प्रयोग किया जाय, यह अन्वयविधि की कमियों को पूर्ण करती है। वे इसका स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं :—

"एक उदाहरण जिसमें अनुसंधानगत पदार्थ या घटना पैदा होती है और अन्य उदाहरण जिसमें यह पदार्थ या घटना नहीं उत्पन्न होती है, ये दोनों उदाहरण, केवल एक अवस्था को छोड़कर सब में समानता रखते हैं और यह केवल पहले उदाहरण में उत्पन्न होती है, तब यह अवस्था जिसमें ही केवल दोनों उदाहरण भेद रखते हैं वह या तो पदार्थ का कार्य है या कारण है या कारण का आवश्यक अंग है।"

व्यतिरेकविधि इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि जिस किसी अवस्था को, बिना अनुसंधानगत पदार्थ या घटना के त्याग करने के अलग नहीं कर सकते, वह अवस्था अवश्य ही पदार्थ या घटना से कारणता के सम्बन्ध में अनुबिद्ध है। यदि एक अवस्था निकाल दी जाय और उसमें अनुसंधानगत पदार्थ या घटना गायब हो जाती है तो अन्य पदार्थों के उसी प्रकार रहते हुये, दोनों के अन्दर अवश्य ही कारणता का सम्बन्ध होना चाहिये।

व्यतिरेकविधि में हम दो उदाहरण लेते हैं और केवल दो ही उदाहरण लेते हैं। प्रत्येक उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं का समूह होता

है और उसके अनुसार उत्तरवर्ती अवस्थाओं का भी समूह होता है। दोनों उदाहरण केवल एक अवस्था (चाहे वह पूर्ववर्ती अवस्था हो या उत्तरवर्ती अवस्था हो) में भेद रखते हैं जो एक में विद्यमान रहती है और दूसरी में विद्यमान नहीं रहती। अन्य सब बातों में दोनों उदाहरण बिलकुल समान होते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जिस अवस्था में दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं वह उस अवस्था का कारण है, जिसमें ही केवल दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं।

यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि व्यतिरेक विधिके दो रूप हो सकते हैं। हम पूर्ववर्ती अवस्थाओं में कुछ और मिला सकते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि उत्तरवर्ती अवस्थाओं में कुछ नवीनता आजाती है। या हम पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से कुछ निकाल लेते हैं तो हम देखेंगे कि उत्तरवर्ती अवस्थाओं में से भी कुछ निकल जाता है। इसी हेतु से मेलोन साहब व्यतिरेक विधि का इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

"जब किसी पदार्थ या घटना के अन्दर उसकी पूर्ववर्ती अवस्था मे कुछ मिला देने से उत्तरवर्ती अवस्था में कुछ मिला हुआ प्रतीत होता है और उस में से कुछ घटा देने से कुछ घटा हुआ प्रतीत होता है तब, अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर भी, वह कुछ अवश्य ही पदार्थ या घटना के साथ कारणता के सम्बन्ध से सम्बन्धित है।"

इसको उन्होंने व्यतिरेक विधि कहा है क्योंकि दोनों उदाहरणों की तुलना करने पर, जिनको हम ग्रहण करते हैं, हम देखेंगे कि वे केवल एक अवस्था में ही भेद रखते हैं। यह केवल भेद की ही इकाई है जो सिद्धि का मुख्य कारण है और इसलिये ही कॉफी और मेलोन इस विधि को एकाकी व्यतिरेक विधि (The method of single difference) कहते हैं। इस प्रकार अन्वय विधि में बहुत से उदाहरण केवल एक अवस्था में एक समान होते हैं (दूसरी अवस्था में भेद रहते हैं) किन्तु व्यतिरेक विधि में दो उदाहरण केवल एक अवस्था में भेद रखते हैं (दूसरी अवस्थाओं में वे एक समान होते हैं।)

हम निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण देते हैं —

(१) क ख ग   क' ख' ग'   (२) ख घ   ख' घ'
    ख ग   ख' ग'   क ख घ   क' ख' ग

प्रथम उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से 'क' अलग कर दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क' निष्कर्ष में से गायब हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'क' पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जोड़ दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क' उसमें से गायब नहीं हुआ है। इस प्रकार 'क' ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। उसी प्रकार 'क' ही केवल एक अवस्था है जिसमें दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। दूसरी अवस्थाएँ समान हैं अतः हम निश्चय निकालते हैं कि 'क' 'क'' का कारण है।

इसके यथार्थ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(क) यदि हम एक हवा से भरे हुए घड़े में घंटी बजाते हैं तो घंटी की आवाज़ सुनाई देती है। यदि वही घंटी उस घड़े के अन्दर बजाई जाय जिसकी हवा निकाल दी गई है तो उसका शब्द सुनाई नहीं देता। अन्य अवस्थाएँ उसी प्रकार रहती हैं; इसलिये हवा का होना शब्द की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।

(ख) जब किसी मनुष्य के हृदय में गोली मारी गई तब हम इस विधि के द्वारा यह जानते हैं कि उसकी मृत्यु गोली के लगने से हुई है क्योंकि गोली के लगने से पहले वह अच्छा स्वस्थ जीवित दिखा रहा था केवल गोली लगने की ओर को छोड़कर अन्य सब अवस्थाएँ समान थीं। अतः गोली का लगना उसकी मृत्यु का मुख्य कारण है।

पैसे और पंख का प्रयोग—जब किसी वायुपम्प के ग्राहक (Receiver) में हमने एक साथ पैसा और पंख छोड़ा। चूँकि वायु उसमें वर्तमान है इसलिये पंख पैसे की अपेक्षा देर में पहुँचता है। बाद में हम पम्प में से वायु निकाल देते हैं और पैसा और पंख एक साथ ही छोड़ते हैं तो हम देखते हैं कि दोनों चीजें एक साथ ही तल पर

पहुँचती हैं। यहाँ भेद सूचक केवल एक ही अवस्था-हवा का होना है; अन्य अवस्थाएँ उसी प्रकार है। अतः इसका निष्कर्ष यह है कि हवा की रुकावट ही एक कारण है जिसके रहने से पख अधिक देर से गिरा और पैसा जल्दी गिर गया। हमारी दैनिक अनुमान विधि में व्यतिरेक विधि अत्यन्त सहायक होती है। मान लो एक मनुष्य भूखा है, उसको भोजन मिल गया, उसकी क्षुधा शान्त हो गई। हम एक दियासलाई को बक्स से रगड़ते हैं और देखते हैं कि एक दम प्रकाश होकर आग उत्पन्न हो जाती है। सूर्योदय होता है और एकदम प्रकाश होता है और गरमी शुरू हो जाती है। सूर्यास्त होता है और अन्धकार छा जाता है। यदि कभी व्यतिरेक विधि का असावधानी से प्रयोग किया जाय तो 'इसके बाद ऐसा, अतः ऐसा हुआ' (Post hoc ergo propter hoc) अर्थात् काकतालीय दोष उत्पन्न हो जायगा। आकाश में पुच्छलतारे के उदित होने से किसी देश के राजा की मृत्यु हो सकती है किन्तु इससे हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि पुच्छल तारे का प्रकट होना राजा की मृत्यु का अवश्य कारण होगा। उसी प्रकार यदि एक मनुष्य किसी गाँव में से चला गया है और वहाँ चोरी होना बद हो गया है, इससे हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि अमुक व्यक्ति का गाँव से चला जाना चोरी के बद होने का कारण है मनुष्य का वहा रहना चोरी का कारण था। व्यावहारिक जीवन में ऐसे उदाहरणों को प्राप्त करने के लिये हमें प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर रहना पड़ता है किन्तु इस प्रकार की अवस्थाओं में हम व्यतिरेक-विधि से निश्चित निष्कर्षों को प्राप्त नहीं कर सकते। इस विधि की मुख्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें प्रयोग द्वारा उदाहरणों की पूर्ति करनी होगी। इसमें कोई सशय नहीं कि व्यतिरेक-विधि प्रयोग विधि है क्योंकि इस विधि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें प्रयोग द्वारा ही उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं। इस विधि की प्रधान आवश्यकता यह है कि दो उदाहरण, ठीक एक प्रकार के होने चाहिये सिवाय इसके कि एक उदाहरण में अनुसंधानगत पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है और दूसरे उदाहरण में वह अविद्यमान रहती है। इस प्रकार प्राप्त किये हुए उदाहरण कठोर और निश्चित होते हैं। केवल एक

हम निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण देते हैं :—

(१) क ख ग   क′ ख′ ग′   (२)   ख ग   ख′ ग′
    ख ग   ख′ ग′   क ख ग   क′ ख′ ग′

प्रथम उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से 'क' अलग कर दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क′' निष्कर्ष में से गायब हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'क' पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जोड़ दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क′' उसमें से गायब नहीं हुआ है। इस प्रकार 'क' ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। उसी प्रकार 'क′' ही केवल एक अवस्था है जिसमें दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। दूसरी अवस्थायें सर्वथा समान हैं अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' 'क′' का कारण है।

इसके यथार्थ उदाहरण अधोलिखित हैं :—

(क) यदि हम एक हवा से भरे हुए घड़े में घंटी बजाते हैं तो घंटी की आवाज सुनाई देती है। यदि वही घंटी उस घड़े के अन्दर बजाई जाय जिसकी हवा निकाल दी गई है तो उसका शब्द सुनाई नहीं देता। अन्य अवस्थायें वैसी प्रकार रहती हैं; इसलिये हवा का होना शब्द की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।

(ख) जब किसी मनुष्य के हृदय में गोली मारी गई तब हम इस विधि के द्वारा यह जानते हैं कि उसकी मृत्यु गोली के लगने से हुई है क्योंकि गोली के लगने से पहले वह अच्छा स्वस्थ जीवन बिता रहा था केवल गोली लगने की चोट को छोड़कर अन्य सब अवस्थायें समान थीं। अतः गोली का लगना उसकी मृत्यु का मुख्य कारण है।

पैसे और पंख का प्रयोग—जब किसी वायुपम्प के ग्राहक (Receiver) में हमने एक साथ पैसा और पंख छोड़ा। चूँकि वायु उसमें उपस्थित है इसलिये पंख पैसे की अपेक्षा देर में पहुँचाता है। बाद में हम पम्प में से वायु निकाल लेते हैं और पैसा और पंख एक साथ ही छोड़ते हैं तो हम देखते हैं कि दोनों चीजें एक साथ ही तल पर

है। नमक केवल एक अवस्था है, लेकिन अन्य भी अवस्थाएँ हैं जिनका भी हमें विचार करना चाहिये जिससे कि हम कारण के पूर्ण रूप का निश्चय कर सकें। इसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई किसी वस्तु में लगाते हैं तो उसमें आग लग जाती है। उसमें आग लगने पर मुख्य कारण केवल जलती हुई दिया सलाई ही नहीं है। मिल इस बात को स्वीकार करता है जब वह कहता है कि 'एक अवस्था जिसमें ही केवल दो उदाहरण भेद रखते हैं, कारण का एक आवश्यक भाग हो सकता है।

(६) व्यतिरेकान्वय की सम्मिलितविधि

मेलोन और कॉफी ने एक नयी विधि का प्रयोग किया है और उन्होंने इसका नाम व्यतिरेकान्वय-सम्मिलितविधि (Joint method of Difference and Agreement) रखा है। मेलोन ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है :–

'दो हुई हालतों के अन्दर जब एक पदार्थ या घटना दूसरों का, एकाकी भेद की विधि द्वारा कारण बतलाई जाती है और जब हम किसी उदाहरण को जानने और बनाने में असफल हो जाते हैं जहाँ एक पदार्थ या घटना पैदा हो जाती है और दूसरी नहीं होती, तब इस प्रकार की सम्भावना हो जाती है कि प्रथम, दूसरी की उपाधि-रहित अपरिवर्तनीय पूर्वावस्था है, अर्थात् दूसरी, बिना पहली के, पैदा ही नहीं हो सकती, तथा यह सम्भावना, निषेधात्मक उदाहरणों की संख्या और भिन्नता के कारण, जो कार्य और संशयित कारण दोनों की अविद्यमानता में समानता रखते हैं, बढ़ती ही जाती है।

यह विधि, एकाकी-व्यतिरेकविधि की पूर्व कल्पना करती है तथा इसको पूरा भी करती है। जब हम इसमें सफल होते हैं कि:—

(१) यदि क है तो क' है और।

(२) यदि क नहीं है तो क' नहीं है।

तो निश्चय पूर्वक हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि 'क' और 'क'' में कारणता का सम्बन्ध है। एकाकी-व्यतिरेक की विधि यह सिद्ध करती है

है क्योंकि अवस्थाएँ जो एक साथ से विद्यमान रहती हैं वे सम्भव है, केवल आकस्मिक अवस्थायें ही हों। इसके अतिरिक्त यथार्थ कारण भिन्न भिन्न उदाहरणों में भिन्न हो सकता है। जहाँ तक व्यतिरेकविधि का सम्बन्ध है यह कारणबहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि प्रयोग द्वारा ज्ञात अवस्थाओं में कुछ नवीन वस्तु जोड़ दी जाय और उससे कुछ उत्पन्न भी हो जाय तो अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर, पहली अवस्था उत्तर अवस्था का अवश्य ही कारण गिनी जायगी। जहाँ तक इस उदाहरण का सम्बन्ध है उत्तर अवस्था का और कोई कारण नहीं हो सकता। लेकिन इससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि उत्तरवर्ती अवस्था का दूसरे उदाहरणों में अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। अतः व्यतिरेकविधि केवल यही सिद्ध कर सकती है कि एक खास पूर्ववर्ती अवस्था दिये हुए उदाहरण में कारण है लेकिन यह, यह सिद्ध नहीं कर सकती कि केवल यही कारण है या दूसरे उदाहरणों में अन्य कारण हो ही नहीं सकते। यह, यह तो सिद्ध करती है कि 'क' कारण है लेकिन यह, यह नहीं सिद्ध करती कि यही केवल कारण है इससे यही प्रतीत होता है कि व्यतिरेकविधि भी कारणबहुत्व के सिद्धान्त से पैदा होने वाले दोषों को पूर्ण रूप से दूर नहीं कर सकती।

(ग) व्यतिरेकविधि द्वारा हम कारण को अवस्था से भिन्न नहीं कर सकते।

व्यतिरेकविधि अन्य प्रकार से भी दोष पूर्ण है। माना कि ल ग स' ग' को पैदा करता है 'क्या 'ध'को मिलाने से हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि यह 'क' का कारण है? यह हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। यह हो सकता है 'क' का कारण ल और 'ग' के साथ मिलकर बन गया हो। अब हम नहीं कह सकते कि एक नयी वस्तु के मिलाने से अवश्य ही कोई नया परिवर्तन पैदा होगा। हो सकता है कि वह केवल एक अवस्था ही हो। उदाहरणार्थ, यदि एक तरकारी जायकेदार न हो—उसमें जरा नमक डालने से वह जायकेदार बन जाय। लेकिन इससे यह निश्चय नहीं निकलता कि इसके जायके का कारण केवल नमक

है। नमक केवल एक अवस्था है, लेकिन अन्य भी अवस्थाएँ हैं जिनका भी हमें विचार करना चाहिये जिससे कि हम कारण के पूर्ण रूप का निश्चय कर सकें। इसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई किसी वस्तु में लगाते हैं तो उसमें आग लग जाती है। उसमें आग लगने पर मुख्य कारण केवल जलती हुई दिया सलाई ही नहीं है। मिल इस बात को स्वीकार करता है जब वह कहता है कि 'एक अवस्था जिसमें ही केवल दो उदाहरण भेद रखते हैं, कारण का एक आवश्यक भाग हो सकता है।

(६) व्यतिरेकान्वय की सम्मिलितविधि

मेलोन और कॉफी ने एक नयी विधि का प्रयोग किया है और उन्होंने इसका नाम व्यतिरेकान्वय-सम्मिलितविधि (Joint method of Difference and Agreement) रखा है। मेलोन ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है :–

'दो हुई हालतों के अन्दर जब एक पदार्थ या घटना दूसरी का, एकाकी भेद की विधि द्वारा कारण बतलाई जाती है और जब हम किसी उदाहरण को जानने और बनाने में असफल हो जाते है जहाँ एक पदार्थ या घटना पैदा हो जाती है और दूसरी नही होती, तब इस प्रकार की सम्भावना हो जाती है कि प्रथम, दूसरी की उपाधि-रहित अपरिवर्तनीय पूर्वावस्था है, अर्थात् दूसरी, बिना पहली के, पैदा ही नहीं हो सकती, तथा यह सम्भावना, निषेधात्मक उदाहरणों की संख्या और भिन्नता के कारण, जो कार्य और सशयित कारण दोनों की अविद्यमानता में समानता रखते हैं, बढ़ती ही जाती है।

यह विधि, एकाकी-व्यतिरेकविधि की पूर्व कल्पना करती है तथा इसको पूरा भी करती है। जब हम इसमें सफल होते हैं कि.—

(१) यदि क है तो क' है और।

(२) यदि क नहीं है तो क' नहीं है।

तो निश्चय पूर्वक हम यह सिद्ध कर सकते है कि 'क' और 'क'' में कारणता का सम्बन्ध है। एकाकी-व्यतिरेक की विधि यह सिद्ध करती है

कि पहले मामले में 'क' 'ख' का कारण है। इसलिए सिद्ध करने के लिये कि 'क' का 'ख' ही सम्भव कारण है यह आवश्यक है कि हम विस्-तृत निषेधात्मक उदाहरणों में अनुसंधान किया जाय। निम्न-लिखित निषेधात्मक उदाहरण वे हैं जो अनुसंधान के उसी विभाग से संबंध रखते हैं। उदाहरण के लिये, यदि अनुसंधान क्षेत्र[1] रसायन शास्त्र है तो हमें निषेधात्मक और विध्यात्मक उदाहरणों की खोज रसायन-शास्त्र के विषय में ही करनी चाहिये। इस तरह यदि 'क' अविद्यमान है तो 'ख' भी अविद्यमान है—यह सिद्ध करके हमें चाहिये कि इस नियम के क्षेत्र को सत्य सिद्ध कर दें। यह सम्मिलित व्यतिरेकान्वयविधि, एकाकी व्यतिरेक विधि की स्वतन्त्र रूप से निषेधात्मक उदाहरणों की खोज करके पूर्ति करती है। व्यतिरेक या भेद का सम्बन्ध कारणता-सम्बन्ध से है जिसको विध्यात्मक उदाहरण में प्रयोग द्वारा निश्चित किया जाता है तथा अन्वय का सम्बन्ध, परीक्षा किये हुए सब निषेधात्मक उदाहरणों में, अनुपस्थित कारण के साथ साथ कार्य की अविद्यमानता से जाना जाता है।

जैसे त्रिगुणित अन्वयविधि एकाकी अन्वय-विधि की पूर्ति करती है उसी प्रकार यह सम्मिलित व्यतिरेकान्वय विधि भी एकाकी व्यतिरेक विधि की पूर्ति करती है। त्रिगुणितविधि और सम्मिलित विधि के बीच में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विधि में विध्यात्मक और निषेधात्मक उदाहरण प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त किये जाते हैं तथा द्वितीय विधि में वे प्रयोग द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। सम्मिलित व्यतिरे-कान्वय विधि में निषेधात्मक उदाहरणों को बनाना पड़ता है अर्थात् उनको प्रयोग के द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया जाता है कि कार्य, उनमें से किसी में उत्पन्न नहीं हो सकता।

(१) सहगामि-विचरण-विधि—

इस विधि का उपयोग उन उदाहरणों में किया जाता है जिनमें कारण का पृथक् करना सम्भव नहीं है। जैसे, कारणों के नित्य नियम में

(1) Field of Investigation.

अथवा ध्रुव प्राकृतिक कर्ताओं में यह सम्भव नहीं है कि हम उनमें से कारणों को प्रथक् कर सकें। ताप, आकर्षण-शक्ति, रगड़ आदि को हम एक शरीर से अलग नहीं कर सकते किन्तु परिणाम मे हम उनको घटा, बढ़ा सकते हैं और इस प्रकार घटाने और बढ़ाने से उत्पन्न होने वाले कार्यों को हम देख सकते हैं। यह विधि इस विश्वास पर अवलम्बित है कि कारण की शक्ति कार्य की शक्ति के बराबर होती है। अर्थात् एक में घटाव या बढ़ाव से उसी के अनुसार दूसरे में घटाव या बढ़ाव होता है। इस विधि के द्वारा हम कारण और कार्य के मध्य परिमाण-सम्बन्ध कायम कर सकते है। मिल महोदय इस विधि का वर्णन इस प्रकार करते हैं.—

"जब कोई पदार्थ या घटना किसी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त होती है और दूसरा पदार्थ या घटना किसी खास रूप में परिवर्तित होती है, तब वह या तो कारण है या उस पदार्थ या घटना का कार्य है या किसी कारणता सम्बन्ध से उसके साथ अनुविद्ध है।"

यह विधि इस सिद्धान्त की प्रतिपादिका है कि कारण और कार्य शक्ति की अपेक्षा से परिमाण में एक होते हैं और जब एक में घटाव या बढ़ाव होता है तब उसी के अनुरूप अन्य में भी घटाव या बढ़ाव होता है। इस प्रकार जब दो पदार्थ या घटनाएँ हमेशा सदृश परिवर्तन दिखलाती हैं तब हमको कहना पड़ता है कि वे आपस में कार्यकारणभाव से सम्बन्धित हैं। इन दो घटनाओं या पदार्थों मे एक पूर्ववर्ती अवस्था है और दूसरी उत्तर-वर्ती अवस्था है। यदि वे दोनों परिवर्तित होती हैं तब पूर्ववर्ती अवस्था उत्तर वर्ती अवस्था का कारण होती हैं। सहगामि-विचरण-विधि को साक्षात्-परिवतन भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती-अवस्था उसी दिशा मे परिवर्तित होती हैं, अर्थात् वे एक साथ उठती हैं और एक साथ गिरती है। अथवा वे विपरीत-सम्बन्ध में परिवर्तित होती हैं जिसमें पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती अवस्था विरुद्ध दिशाओं में परिवर्तित होती हैं अर्थात् एक में वृद्धि होने से अन्य में हानि होती है, और एक में हानि होने से अन्य में वृद्धि होती है।

इसका बीजात्मक उदाहरण निम्नलिखित है —

$क_1$ ख ग	क′ ख′ ग′
$क_1$ ख घ	क′ ख′ ग′
$क_1$ ख ग	क′ ख′ ग′

क कारण "क" का है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दो पदार्थ या घटनाएँ एक साथ परिवर्तन या विचरण कर रही हैं। जब पूर्ववर्ती अवस्था में 'क' परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है तब उत्तरवर्ती अवस्था में भी 'क' परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' 'क" का कारण है या दोनों आपस में कारणता संबंध से सम्बन्धित हैं। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि सहभावी अवस्थाएँ ख, ग नहीं हैं। अतः यह उदाहरण यह बतलाता है कि सहगामि-विचरण-विधि व्यतिरेक विधि का एक खास रूप है। उदाहरण, 'क' के सहगामि-परिवर्तन को पूर्ववर्ती अवस्थाओं में छोड़कर और 'क' के सहगामि-परिवर्तन को उत्तरवर्ती अवस्थाओं में छोड़कर अन्य अवस्थाओं में परिवर्तित नहीं होते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट और निश्चित है कि जब उदाहरण केवल प्रयोग द्वारा प्राप्त होते हैं तब अन्य अवस्थाएँ इसी प्रकार की होती हैं।

कारवेथ रीड ने सहगामि-विचारण-विधि का एक और रूप बतलाया है जिसमें साथ रहनेवाली अवस्थाएँ वही नहीं होतीं; किन्तु भिन्न होती हैं। निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण द्वारा हम इस रूप को स्पष्ट करते हैं —

$क_1$ ख ग	$क_1$ ख′ ग′
$क_1$ घ ङ ····	$क_1$ ख′ ग′
$क_1$ च छ	$क_1$ ख′ ग′

क कारण क′ का है।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि साथ रहनेवाली अवस्थाएँ एक उदाहरण से दूसरे उदाहरण तक बदलती जा रही हैं। केवल एक अवस्था है जिसमें यह दिखलाया गया है कि 'क' में भी वृद्धि रूप परिवर्तन होने से 'क′' में भी वृद्धि रूप परिवर्तन हो रहा है। इस प्रकार की समानता से

हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' कारण 'क'' का है। यह ठीक है कि इस उदाहरण में सहगामि-विचरण-विधि अन्वयविधि का विशेष रूप है और जो अपूर्णताएँ अन्वयविधि में विद्यमान हैं वे इसमें भी विद्यमान हैं। इस प्रकार सहगामि-विचरण-विधि या तो व्यतिरेक-विधि का या अन्वय-विधि का विशेष रूप है, जब हम देखते हैं कि साथ रहनेवाली अवस्थाएँ वहीं हैं या भिन्न हैं। पहली हालत में तो यह प्रयोग-विधि है और दूसरी अवस्था में यह प्रत्यक्षीकरण की विधि है।

इस विधि के निम्नलिखित यथार्थ उदाहरण हैं :—

(क) हम एक थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र) को लेते हैं। उसमें हम देखते हैं कि गर्मी के बढ़ने से पारा भी बढ़ जाता है। इससे हम अन्दाज़ा लगाते हैं कि पारे के बढ़ने का कारण ताप है।

(ख) पेसकाल (Pascal) ने यह सिद्ध किया कि सहगामि-विचरण-विधि से हम जानते हैं कि किसी बेरोमीटर में पारे की ऊँचाई वायु-मण्डल के भार पर निर्भर रहती है। वह एक पहाड़ पर चढ़ गया और ज्योंही वह अधिक ऊँचा चढ़ता चला गया वायुमण्डल का भार भी कम होता गया। ज्योंही उसने देखा कि वायुमण्डल का भार कम होता चला जा रहा है पारे की ऊँचाई भी बेरोमीटर में उसी अनुपात से कम होती चली जा रही है। इसलिये उसने यह निष्कर्ष निकाला कि वायुमण्डल का भार ही पारे के बढ़ाव का कारण था।

(ग) ऑलबर्ट महान ने इस विधि के द्वारा चन्द्रमा और ज्वारभाटे के मध्य कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने देखा कि चन्द्रमा की आकृति के परिवर्तन ज्वारभाटा के परिवर्तन के साथ-साथ होते हैं और निष्कर्ष निकाला कि इन दोनों में कारणता का सम्बन्ध है।

(घ) यह देखा जाता है कि गेहूँ के उत्पादन में कमी होने के कारण गेहूँ की कीमत बढ़ जाती है और जब गेहूँ का उत्पादन अधिक होता है तो गेहूँ की कीमत घट जाती है। इस प्रकार के मूल्यों के आँकड़े, लेने पर हम यह अनुमान लगा लेते हैं कि इन दोनों में आपस में कारणता का सम्बन्ध है। क्योंकि ज्योंही आमद बढ़ती है त्योंही माँग घटती जाती

है और विपरीत रूप में भी ऐसा ही होता है। इस सम्बन्ध को, जो प्रमन्द और माँग में पाया जाता है व्यस्तानुपात (Inverse ratio) कहते हैं।

(११) सहगामि-विचरण-विधि की विशेषताएँ।

सहगामि-विचरण-विधि की मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ पूर्ण पृथक्-करण सम्भव नहीं है वहाँ भी इसका उपयोग किया जा सकता है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनको पूर्ण रूप से अलग नहीं किया जा सकता। ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनको मिल के शब्दों में नित्य कारण (Permanent cause) कहा जा सकता है, जैसे ताप आकर्षण-शक्ति, वायु मण्डल का दबाव, प्रकाश, विद्युत् का असर, चुम्बक का असर, इत्यादि। हम किसी पदार्थ में से ताप को सर्वथा अलग नहीं कर सकते—कारण का स्वरूप ही ऐसा है कि इस प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता जिसमें आकर्षण-शक्ति या वायुमण्डल का दबाव सर्वथा अविद्यमान हो। यद्यपि इन नित्य कारणों को सर्वथा अलग करना असम्भव है तथापि वे मात्राओं में परिवर्तित होते रहते हैं और इसलिए हम उनको आंशिक रूप से अलग कर सकते हैं। हम पदार्थों से सर्वथा तो पृथक् नहीं कर सकते किन्तु वे अधिक या कम परिमाण में प्रतीत होते हैं। सहगामि-विचरण-विधि इन नित्य कारणों के उदाहरणों में कारणता सम्बन्ध को निश्चित करने के लिये विशेष रूप से प्रयोग की जाती है। इन नित्यकारणों को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु आंशिक रूप से अलग किया जा सकता है क्योंकि ये परिवर्तित मात्राओं में प्रकट होते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ हम ऐसे उदाहरण लेते हैं जिनमें अनुसन्धान-गत पदार्थ मात्राओं में परिवर्तित प्रतीत होते हैं और जब हम देखते हैं कि अन्य पदार्थों में भी समान रूप से परिवर्तन दिखाई देता है तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इनमें आपस में कारणता का सम्बन्ध है। व्यतिरेक विधि का तो केवल वहाँ प्रयोग होता है जहाँ पूर्ण रूप से पृथक्-करण सम्भव हो अर्थात् अनुसंधानगत पदार्थ एक उदाहरण में विद्यमान हो और दूसरे उदाहरणों में सर्वथा अविद्यमान हो। अतः सहगामि-विचरण-विधि का केवल

उन्हीं उदाहरणों में प्रयोग किया जाता है जहाँ व्यतिरेक विधि का प्रयोग नहीं हो सकता।

उक्त विधि का सुचित्रित रूप निम्नलिखित है —

हम एक ग्राफ लेते हैं जिसमें एक पदार्थ या घटना को हम तिर्यक् रेखा (Horizontal line) से दिखलाते हैं जो कई स्थानों पर कटी हुई है तथा अन्य घटनाओं का स्पष्टीकरण उर्ध्व रेखाओं से बतलाया गया है जो भिन्न भिन्न लम्बाई रखती है। ये उर्ध्व रेखाएँ तिर्यक् रेखा पर भिन्न-भिन्न बिन्दुओं से खींची गई हैं और उनको क्रम से बढ़ते हुए दिखलाया गया है। जैसे,

ताप की मात्राएँ

इस चित्र में तिर्यक् रेखा ताप की मात्राओं को बतलाती है तथा कई बिन्दु, जिन पर इसको विभाजित किया जाता है, ताप की मात्रा में वृद्धि को जाहिर करते हैं। तथा उर्ध्व रेखाएँ (Perpendicular lines) पारे के आयतन को स्पष्ट करती हैं। ज्यों ही ताप की मात्रा बढ़ती है त्यों ही बेरोमीटर में पारे का आयतन भी बढ़ता जाता है।

(१२) सहगामि-विचरण-विधि की सीमाएँ

सहगामि-विचरण विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं :—

(१) सहगामि-विचरण-विधि का, प्रत्यक्षीकरण द्वारा देखे हुए पदार्थों के परे प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस विधि के अनुसार हम इस प्रकार तर्क करते हैं कि जब दो पदार्थ या घटनाएँ एक साथ परिवर्तन

है और विपरीत रूप में भी ऐसा ही होता है। इस सम्बन्ध को, जो आमद और माँग में पाया जाता है व्यस्तानुपात (Inverse ratio) कहते हैं।

(११) सहगामि-विचरण-विधि की विशेषताएँ।

सहगामि-विचरण विधि की मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ पूरा प्रथक्-करण सम्भव नहीं है वहाँ भी इसका उपयोग किया जा सकता है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनको पूर्ण रूप से अलग नहीं किया जा सकता। ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनको मिल के शब्दों में नित्य कारण (Permanent cause) कहा जा सकता है जैसे, ताप आकर्षण-शक्ति, वायु मंडल का दबाव, प्रकाश, विद्युत् का असर, चुम्बक का असर, इत्यादि। हम किसी पदार्थ में से ताप को सर्वथा अलग नहीं कर सकते—कारण का स्वरूप ही ऐसा है कि इस प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता जिसमें आकर्षण-शक्ति या वायुमंडल का दबाव सर्वथा अविद्यमान हो। यद्यपि इन नित्य कारणों को सर्वथा अलग करना असंभव है तथापि वे मात्राओं में परिवर्तित होते रहते हैं और इसलिए हम उनको आंशिक रूप से अलग कर सकते हैं। हम पदार्थों से सर्वथा तो छुटकारा नहीं पा सकते किन्तु वे अधिक या कम परिमाण में प्रतीत होते हैं। सहगामि-विचरण-विधि इन नित्य कारणों के उदाहरणों में, कारणता सम्बन्ध को निश्चित करने के लिए, विशेष रूप से प्रयोग की जाती है। इन नित्यकारणों को सर्वथा प्रथक् नहीं किया जा सकता किन्तु आंशिक रूप से अलग किया जा सकता है क्योंकि ये परिवर्तित मात्राओं में प्रकट होते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ हम ऐसे उदाहरण लेते हैं जिनमें अनुसन्धान-गत पदार्थ मात्राओं में परिवर्तित प्रतीत होते हैं और जब हम देखते हैं कि अन्य पदार्थों में भी समान रूप से परिवर्तन दिखाई देता है तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इनमें आपस में कारणता का सम्बन्ध है। व्यतिरेक विधि का तो केवल वहाँ प्रयोग होता है जहाँ पूर्ण रूप से प्रथक्-करण सम्भव हो अर्थात् अनुसन्धानगत पदार्थ एक उदाहरण में विद्यमान हो और दूसरे उदाहरणों में सर्वथा अविद्यमान हो। अतः सहगामि-विचरण-विधि का केवल

विशेषानुमानीयविधि का प्रयोग कर सकते हैं जिसका स्वरूप इस प्रकार का है।
"किसी दिये हुए पदार्थ या घटना में से उस भाग को निकाल दो जो पहले सामान्यानुमान के आधार पर कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाओं का निष्कर्ष या परिणाम समझा गया है, तो पदार्थों या घटनाओं का अवशेष भाग, अवश्य ही अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाओं का कार्य होगा"

इसका हम बीजात्मक उदाहरण देते हैं.—

क ख ग   क' ख' ग'

ख ग   ख' ग' (क्योंकि हमें मालूम है कि ख, ख' का कारण है और ग, ग' का कारण है)

∴ 'क' कारण 'क'' का है।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि मिश्र घटना क' ख' ग', क ख ग से उत्पन्न हुई है। हम पहले सामान्यानुमानों से यह भली भाँति जानते हैं कि ख, ख' का कारण है और ग, ग' का कारण है। हिसाब करके हम यह निश्चित करते हैं कि ख ग, ख' ग' का कारण है। दिये हुए पदार्थ या घटना का अवशेष भाग 'क' है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अवशिष्ट 'क'' अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्था 'क' का कार्य है।

इसके यथार्थ उदाहरण निम्नलिखित है :—

(क) हम एक बोझे से लदी हुई गाड़ी को लेकर तौलते हैं। हम गाड़ी के वज़न को पहले ही से जानते हैं। गाड़ी के भार को समग्र भार से निकाल कर अर्थात् गाड़ी और बोझ दोनों के भार से गाड़ी के भार को अलग कर हम निष्कर्ष निकालते हैं कि वज़न के भेद का कारण बोझ का भार है।

(ख) जेवेन्स महोदय ने यह उदाहरण दिया है। रासायनिक विश्लेषण प्रक्रिया में जब पदार्थ मिश्रित रहते हैं तब आनुपातिक भार को निश्चित करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जल के बनाने को निश्चित करने के लिये हम एक तावे के द्रव्य (Oxide of

की प्राप्त होती हैं तब हम उन्हें कारणता के सम्बन्ध से सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु इससे हम यह कभी अनुमान नहीं करते कि यह परिवर्तन हमारे प्रत्यक्षीकरण की सीमा से बाहर भी चला जायगा। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि ताप के प्रभाव के कारण कुछ उदाहरणों में पानी फैलता है और शीत के प्रभाव के कारण घटता है। ज्यों ही ताप गहरा होता जाता है, पानी भी आयतन में बढ़ता जाता है और ज्यों ही ताप कम होता जाता है, पानी भी सिकुड़ता जाता है। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि ये परिवर्तन सब मात्राओं में ठीक ही बैठते हैं। बल्कि प्रयोग के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि पानी सिकुड़ने की अपेक्षा बढ़ता जाता है जब यह एक खास तापमान अर्थात् ३९.४ F, से नीचे गिर जाता है। इस लिये सहगामि-विपरण-विधि, एक खास प्रत्यक्षीकरण द्वारा सक्षम सीमा से परे कारणता का ज्ञान नहीं दे सकती।

(९) सहगामि-विपरण-विधि उन उदाहरणों में भी कामकारी सिद्ध नहीं होती जिनमें गुणों का परिवर्तन होता है। इस विधि का उपयोग वहीं किया जाता है जहाँ परिमाणात्मक परिवर्तन देखे जाते हैं अर्थात् जब दो पदार्थ या घटनाएँ मात्राओं में परिवर्तित होती हैं। यदि इनमें गुण का परिवर्तन देखने में आता है तो इसका अर्थ यह है इसमें एक नई अवस्था का प्रवेश कर दिया गया है और यह विधि उसको सिद्ध नहीं कर सकती।

(१३) अवशेष-विधि

पाँचवीं विधि अवशेष-विधि (Method of Residues) कही जाती है। जब एक भिन्न अनुक्रम की उत्तरवर्ती अवस्थाओं में किसी के साथ कारणता का सम्बन्ध निश्चित हो चुका है तब हम इस विधि का प्रयोग करके सिद्ध कर सकते हैं कि अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाएँ अवशिष्ट उत्तरवर्ती अवस्थाओं के कारण हैं। यदि पहले का, निकाला हुआ निष्कर्ष विश्वसनीय है तो यह विधि अच्छी सिद्धि प्राप्त करा सकती है। कुछ मामलों में जहाँ हम न तो व्यतिरेक विधि का प्रयोग कर सकते हैं और न वहाँ सहगामि-विपरण-विधि का प्रयोग कर सकते हैं वहाँ हम इस

मान लो एक मिश्र पदार्थ या घटना है जिसके एक भाग की व्याख्या हो चुकी है किन्तु इसके अन्य भाग की व्याख्या अभी तक नहीं हुई है। हमें इस अव्याख्यात भाग या अवशिष्ट भाग का कारण नहीं मालूम है। इसको जानने के लिये हम अधिक अन्वेषण करते है और कारण को जानने में सफल होते हैं। इस प्रकार यह विधि मेलोन के शब्दों मे अव्याख्यात पदार्थ या घटनाओं के लिये मार्गदर्शक स्थम्भ (Finger-post) का कार्य करती है। इस सिद्धान्त के इस प्रकार प्रयोग करने से अवशेष-विधि, सिद्धि की अपेक्षा खोज की विधि ठहरती है। यह प्राक् कल्पनाओं का श्रोत है, उनकी परीक्षा और समर्थन का कारण नहीं है। निम्नलिखित यथार्थ उदाहरण अवशेष विधि पर अधिक प्रकाश डालते है.—

आर्गन का आविष्कार—लार्ड रैले (Rayleigh) और प्रो सर डवल्यू रेमजे (W. Ramsay) ने इस विधि से एक गैस की खोज की जिसका नाम आर्गन है। उन्होंने यह देखा कि नाइट्रोजन जिसको वायु से पैदा किया जाता है वह अन्य कारणों से उत्पन्न हुए नाइट्रोजन की अपेक्षा अधिक भारी होता है। इस अन्तर के कारण को खोजने के लिये उन्होंने पता लगाया कि वायु से उत्पन्न होनेवाले नाइट्रोजन में कोई अन्य गैस मिला हुआ है जिसके कारण भार में अन्तर होता है। उस गैस का उनको सर्वथा ज्ञान नहीं था। अत. इस बात की खोज की गई कि यह नवीन गैस आर्गन है जिसके कारण भार में अन्तर हुआ था।

नेपच्यून ग्रह की खोज :— महाशय आदम्स (Adams) और लेवेरिअर (Le Verrier) ने नेपच्यून ग्रह की इसी विधि से खोज की थी। यह देखा गया कि यूरेनस ग्रह अपनी गति में कुछ विचित्रताएँ दिखला रहा है—अर्थात् वह अपनी कक्षा से कुछ हटा हुआ प्रतीत हुआ, जो गणित की विधि से नहीं होना चाहिये था। सूर्य तथा अन्य ग्रहों के प्रभाव को अच्छी तरह परिगणित कर लेने पर यह पता लगा कि यूरेनस परिगणित कक्षा पर गमन नहीं कर रहा है। इससे उसकी गति के अन्तर की खोज की गई और पता लगाया गया कि इसका निश्चित कक्षा से बाहर गमन करना किसी अन्य ग्रह की चाल के कारण

copper) के भार को लेते हैं और एक गरम नली में, इसके ऊपर से हॉइड्रोजन निकाल देते हैं और एक गन्धक के तेज़ाब से भरी हुई नली में बने हुए पानी को जमाकर देखते हैं। यदि हम जमी हुई नली में से शुरू के भार को आखिर भार में से निकाल दें तो हम जान सकते हैं कि कितना पानी पैदा किया गया है। इसके अन्दर ऑक्सिजन के परिमाण का तांबे के द्रव्य के भार को मूल भार में से निकाल कर पता लगाया गया है। यदि हम ऑक्सिजन के भार को पानी के भार में से अलग कर दें तो हमें हॉइड्रोजन जिसको हमने ऑक्सिजन के साथ मिला दिया है, भार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तथा जब प्रयोग अच्छी तरह किया जाता है तब हम देखते हैं कि शत प्रतिशत जल बनाने के लिये ८८.८१ भाग, ऑक्सीजन को ११.१९ भाग हॉइड्रोजन के साथ मिलना आवश्यक होता है।

यह विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि जो एक वस्तु का कारण है वह दूसरी वस्तु का कारण नहीं हो सकता।

जब हम किसी पदार्थों के मिश्र समूह से व्यवहार कर रहे हैं और हम उनमें से कुछ के कारण जानते हैं तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि अवशेष या अवशिष्ट पदार्थ का कारण अवश्य ही अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाओं में मिलना चाहिये। कारवेथ रीड महोदय बतलाते हैं कि इस सिद्धान्त में यदि पदार्थ या घटना को कार्य माना गया है तो अवशिष्ट कारणों के लिये उसी प्रकार का सिद्धान्त बनाना चाहिये कभी-कभी इस विधि को कुछ भिन्न रूप में उपस्थित किया जाता है। बजाय इसके कि अवशिष्ट उत्तर वर्ती अवस्थाओं को पूर्ववर्ती अवस्थाओं का परिणाम बतलाया जाय हम पदार्थ में अप्रत्याशित तत्व के विद्यमान होने से इसके अज्ञात कारण को खोजते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये मैक्मीन महोदय ने निम्न लिखित नियम बतलाया है :—

"जब किसी मिश्र पदार्थ या घटना के एक भाग की व्याख्या निश्चित कारणों द्वारा नहीं हुई है, तब उस अवशिष्ट भाग के लिये कोई अन्य कारण अवश्य खोजना चाहिये।"

उदाहरणों के समूह भेद रखते हैं। दोनों विधियों में अन्तर यह है कि व्यतिरेक विधि में, वह उदाहरण जिसमें अवस्था नहीं उत्पन्न होती है उसे अनुभव देता है, तथा अवशेष विधि में उदाहरण, पूर्व समान्यानुमान से उपलब्ध विशेषानुमान से लिया जाता है। व्यतिरेक विधि, इसमें कोई सशय नहीं, सर्वोत्कृष्ट सामान्यानुमानीय विधि है। तथा अवशेष-विधि में विशेषानुमान का कुछ तत्व दिखाई देता है।

(१५) उपर्युक्त पाँच विधिओं का परस्पर सम्बन्ध

कारणता-सम्बन्ध के परिणाम के लिये मिल महोदय ने ५ विधियाँ स्थापित कीं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) अन्वय-विधि।
(२) व्यतिरेक-विधि ।
(३) सम्मिलित-अन्वय-विधि।
(४) सहगामि-विचरण विधि।
(५) अवशेष-विधि ।

इन पाँचों विधियों मे से अन्वय और व्यतिरेक इन दो विधियों को मिल ने मौलिक विधियाँ माना है तथा अन्य विधियाँ इन्हीं दो विधियों के विशेष रूप हैं।

जैसे, सम्मिलित-विधि कोई स्वतन्त्र-विधि नहीं है किन्तु अन्वय-विधि का ही एक विशेष रूप है। यह हम देख चुके हैं कि अन्वय विधि कारण बहुत्व के सिद्धान्त से खण्डित होती है और इस दिक्कत को दूर करने के लिये हम सम्मिलित-विधि का प्रयोग करते हैं। यह सम्मिलित-विधि अन्वय-विधि का द्विगुणित प्रयोग है क्योंकि इसके अन्दर हम उदाहरणों के दो समूह लेते हैं—एक में हम विद्यमानता में समानता दिखलाते हैं तथा दूसरे में अविद्यमानता में समानता दिखलाते हैं। इसी कारण से सम्मिलित विधि को ठीक प्रकार से द्विगुणित अन्वय-विधि कहा गया है। इस सम्मिलित-विधि को हमें व्यतिरेक-विधि के साथ गड़बड़ में नहीं डालना चाहिये।

जहाँ तक सहगामि-विचरण-विधि का सम्बन्ध है हम उसको अवस्थाओं के अनुसार अन्वय विधि का एक खास विशिष्ट रूप मान सकते हैं या

है जो इस पर अपना प्रभाव फेंक रहा है और जिसको हम तब तक नहीं जानते थे। इस अपरिचित ग्रह का नाम नेपच्यून था जिसकी इस विधि से खोज हुई।

(१४) अवशेष-विधि की विशेषताएँ

इस विधि की विशेषता यह है कि इसका प्रयोग हम तभी कर सकते जब हमारा कारणता-विषयक ज्ञान कुछ अधिक हो जाय। अर्थात् जब हमने सामान्यानुमानीय प्रक्रिया में कुछ विशेष उन्नति कर ली हो और कारणता के कुछ उदाहरणों को सिद्ध कर लिया हो। तथा जब हमने किसी पदार्थ या घटना के कारणों को बहुत अंशों में जान लिया हो और उनके ज्ञान में कुछ कमी या अधिकता या व्यतिक्रम अनुभव में आता हो तब भी हम इस विधि को प्रयोग में ला सकते हैं।

अवशेष-विधि में हमें कुछ विशेषानुमान का तत्त्व छुपा हुआ प्रतीत होता है। इसके अन्दर प्रत्यक्षीकरण जो कुछ कर सकता है वह यह है कि कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाओं के पश्चात् उत्तरवर्ती अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात् गणना या विशेषानुमान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। हम परिज्ञात कारणों के कार्यों की गणना कर डालते हैं और पूर्ण कार्य में से इस परिगणित कार्य को निकाल देते हैं। इस प्रकार अवशिष्ट उत्तरवर्ती अवस्था अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्था का कार्य प्रतीत होती है। इस विधि में साक्षात् अनुभव इतना कार्य-कारी नहीं होता जितनी गणना या विशेषानुमान कार्यकारी होता है। यही हेतु है कि तार्किक लोग अवशेष-विधि को विशेषरूप से विशेषानुमान की ही विधि मानते हैं।

कुछ तार्किकों का कहना है कि अवशेष-विधि को व्यतिरेक-विधि का ही एक विशेष रूप मानना चाहिये। क्योंकि, यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि दोनों के अन्दर सिद्धान्त वही ग्रहण किया गया है; अर्थात् यदि वे उदाहरण लिये जाँय जो केवल एक अवस्था में भेद रखते हैं जो एक उदाहरण में विद्यमान हैं और दूसरे उदाहरण में अविद्यमान हैं तब, वह अवस्था जिसमें केवल दो उदाहरणों के समूह भेद रखते हैं दूसरी अवस्था का कारण हैं जिसमें ही केवल दो

एक वस्तु के ही दो रूप हैं। यदि दो वस्तुएँ एक बात में समान हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे अन्य बातों में भेद रखती है। अन्वय और व्यतिरेक दोनों साथ साथ रहते हैं और दोनों एक समान मौलिक हैं। एक को दूसरे में अन्तर्भूत करना सर्वथा निरर्थक है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि दोनों ही मौलिक हैं तथा अन्य तीन विधियाँ इनके ही विशिष्ट रूप हैं।

(१६) प्रत्यक्षीकरण की विधियाँ तथा प्रयोग की विधियाँ

क्या हमारे लिये यह सम्भव है कि हम इन विधियों का इस प्रकार विभाजन करें कि अमुक विधियाँ प्रत्यक्षीकरण की है और अमुक विधियाँ प्रयोग की हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन विधियों को हम इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की विधियो और प्रयोग की विधियों में विभाजित नहीं कर सकते। क्योंकि इस प्रकार का विभाग इस बात का द्योतक होगा कि वास्तव में प्रत्यक्षीकरण और प्रयोग में मौलिक भेद है—लेकिन यह दिखलाया जा चुका है कि दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। प्रयोग केवल प्रत्यक्षीकरण का ही विशिष्ठ रूप है।

अन्वयविधि आवश्यक रूप से प्रत्यक्षीकरण की ही विधि है क्योंकि जिस प्रकार के उदाहरणों की इसमें आवश्यकता होती है वे प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही प्राप्त किये जाते हैं। यदि प्रत्यक्षीकरण इस विधि के उदाहरणों को दे सकता है तो प्रयोग को तो इस प्रकार के उदाहरण देने में कोई दिक्कत पैदा हो ही नहीं सकती। जब हम यह कहते हैं कि यह मुख्य रूप से प्रत्यक्षीकरण की विधि है तब हमारा मतलब यह नहीं है कि यह प्रयोग से अपने विषय को प्राप्त नहीं कर सकती किन्तु हमारा अभिप्राय यह है कि यदि हम प्रयोग को काम में ला सकते हैं तो हमें विधियों की भी सहायता लेनी चाहिये (जैसे कि व्यतिरेक विधि,) जिससे हम अत्यधिक बलवान निष्कर्ष निकाल सकें।

व्यतिरेक-विधि वास्तव में प्रायोगिक विधि है। इस विधि को हम

व्यतिरेक-विधि का एक खास विशिष्ट रूप मान सकते हैं। यदि अन्य सब दशाएँ वही हों तो हमें इसको व्यतिरेक-विधि का विशेष रूप मानना पड़ेगा और यदि अन्य अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हों तो हमें इसको अन्वय विधि का विशेष रूप मानना पड़ेगा।

मिल महोदय के अनुसार प्रयोग-विधि, वास्तव में, व्यतिरेक-विधि का एक विशिष्ट रूप है। सिद्धान्त दोनों में एक ही है केवल भेद निषेधात्मक उदाहरण के प्राप्त करने के तरीके में है। व्यतिरेक-विधि में निषेधात्मक उदाहरण जिनमें परीक्षागत पदार्थ या घटना नहीं उत्पन्न हुई है प्रयोग से प्राप्त किये जाते हैं तथा अपयोग विधि में निषेधात्मक उदाहरण एक सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त विशेषानुमान द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि इन दोनों में मिल महोदय के अनुसार व्यतिरेक-विधि अधिक मौलिक है क्योंकि अन्वयविधि तो कारणता सम्बन्ध की केवल सूचना देती है तथा व्यतिरेक-विधि केवल कारणता सम्बन्ध को सिद्ध करती है।

कारवेथ रीड का विचार यह है कि अन्वयविधि को व्यतिरेक-विधि में सम्मिलित किया जाता है क्योंकि अन्वय विधि की प्रामाणिकता, एक उदाहरण के बाद दूसरे उदाहरण में अन्य सब अवस्थाओं के त्याग पर निर्भर है जो त्याग, व्यतिरेक का मुख्य चिन्ह है। अन्वय विधि में उदाहरण केवल एक बात में समान दिखाई देते हैं तथा अन्य बातों में उनमें भेद दिखलाई देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि हम अन्वयविधि को व्यतिरेक-विधि में परिवर्तित कर सकते हैं क्योंकि व्यतिरेक-विधि उन विधियों में सर्वाधिक मौलिक है।

कुछ तार्किकों के विचारानुसार किसी अर्थ में व्यतिरेक-विधि को भी अन्वयविधि में अन्तर्भूत किया जा सकता है। व्यतिरेक-विधि के लिए केवल यही आवश्यकता है कि दो उदाहरण एक बात में भेद रखते हों और अन्य बातों में समानता रखते हों। अतः व्यतिरेक-विधि के पहले अन्वयविधि का होना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

यथार्थ में देखा जाय तो यही मालूम पड़ता है कि अन्वय और व्यतिरेक

को सर्वोत्कृष्ट विधि है। सम्मिलित-विधि को हम अनुसधान की विधि की अपेक्षा सिद्धि की विधि ही कह सकते हैं। इसका प्रयोग, हम विशेष रूप से कारण बहुत्व से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये जिससे अन्वय विधि निरर्थक सिद्ध होती है, करते हैं। अत. इसके द्वारा हम निपेधात्मक उदाहरणों के समूह को लेकर अन्यव-विधि के द्वारा अनुमानित कारण की परीक्षा कर सकते हैं।

सहगामि-विचारण-विधि अनुसंधान के लिये अत्यन्त उपयोगी है। जब दो पदार्थ एक साथ परिवर्तन को प्राप्त होते हैं तब यह एक हमारे मस्तिष्क के लिये सूचना देती है कि उन दोनों में परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। जब यह व्यक्तिरेक विधि का ही विशेष रूप मानी जाती है तब यह सूचना सत्य सिद्ध होती है और जब यह अन्वय-विधि का विशेष रूप मानी जाती है तब निष्कर्ष केवल सम्भाव्य प्रतीत होते हैं।

अवशेष-विधि, व्यतिरेक-विधि का ही विशेष रूप है किन्तु यह केवल सिद्धि की ही विधि नहीं है अपितु अनुसधान की भी विधि है। इस विधि के प्रयोग से वैज्ञानिक क्षेत्र में कितने ही महत्वशाली आविष्कार किये गये हैं। जब हम देखते हैं कि पदार्थ में कुछ भाग अव्याख्यात रहता है जिसको हम दूसरी प्रकार जान सकते हैं तब हम इसके अव्याख्यात भाग के कारण की खोज करने की कोशिश करते हैं। इसलिये अवशेष-विधि अव्याख्यात भाग के लिये सूचक स्तम्भ (Finger-post) का कार्य करती है।

(१८) विधियों की समालोचना

मिल महोयय का कहना है कि प्रायोगिक विधियों का सामान्यानुमान के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। उनके अनुसार खोज के लिये इससे अच्छी विधियाँ हो ही नहीं सकतीं। यथार्थ में सामान्यानुमान की प्रतिष्ठा इन्हीं के द्वारा हो सकती है। उनका यह भी कहना है कि सामान्यानुमान हमें नियम और विधान देता है। यदि नियम और विधान क अनुसार हमारे तर्क ठीक बैठते हैं तो उनसे निकाले हुए निष्कर्ष निश्चयात्मक होंगे। इस निश्चयात्मकता को दिखलाने और सिद्ध करने के लिये ही प्रायोगिक विधियाँ काम मे लाई जाती हैं।

साधारण प्रत्यक्षीकरण के प्रयोग में ला सकते हैं—जैसे, हम अपने दैनिक अनुमानों में इसको लगाते हैं। जब हम अपने विषय को साधारण प्रत्यक्षीकरण से ग्रहण करते हैं तब हमारे निष्कर्ष निश्चयात्मक नहीं होते। यह प्रयोग ही है जो निश्चयात्मक और सही उदाहरण दे सकता है और जो व्यतिरेक-विधि की आवश्यकता को पूर्ण रूप से पूरी कर सकता है।

सम्मिलित-विधि अन्वय-विधि का द्विगुणित रूप होने के कारण कोई स्वतन्त्र विधि न होती हुई, अन्वयविधि के ही समान विधि है।

सहगामि-विचरण-विधि को या तो हम अन्वय-विधि का विशेष परिवर्तन मान सकते हैं या व्यतिरेक-विधि का परिवर्तन मान सकते हैं। जब यह अन्वय विधि का रूप माना जाता है तब यह प्रत्यक्षीकरण का ही विशेष रूप है किन्तु जब यह व्यतिरेक-विधि का रूप माना जाता है तब यह वास्तव में व्यतिरेक-विधि का ही विशेष रूप है।

अवशेष-विधि व्यतिरेक-विधि का खास रूप है और इसलिये इसको व्यतिरेक का रूप मानना अधिक उपयुक्त है। इस विधि का प्रयोग प्रत्यक्षीकरण में भी किया जाता है; किन्तु उस अवस्था में निकाले हुए इसके निष्कर्ष तभी निश्चयात्मक गिने जा सकते हैं जब हम प्रयोग को काम में लावें।

(१७) अनुसंधान की विधियाँ और सिद्धि की विधियाँ

मिल महोदय का कहना है कि जितनी प्रायोगिक विधियाँ हैं वे सब सिद्धि की विधियाँ हैं अनुसंधान की नहीं। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि मिल अपने विचारों में सामंजस्य नहीं रखता अर्थात् इस विषय में उसके विचार अनुक्रम नहीं हैं। जहाँ तक अन्वय-विधि का सम्बन्ध है उनका कहना है कि यह कारणता के सम्बन्ध की सूचना देती है; यह इसको सिद्ध नहीं कर सकती। अन्वय-विधि कारण की सूचना देती है तथा व्यतिरेक-विधि यह निश्चित करती है कि अनुमानित कारण सत्य कारण है; अतः इस दृष्टिबिन्दु के अनुसार यह कहा जा सकता है कि अन्वय-विधि अनुसंधान की विधि है इसके बजाय कि इसे सिद्धि की विधि कहा जाय। जहाँ तक व्यतिरेक विधि का सम्बन्ध है मिल का कहना है कि यह सिद्धि

मिल महोदय इस आपत्ति को इस प्रकार सुलझाते हैं और वे स्वीकार करते हैं कि सामान्यानुमानीय वाक्य कठिनता से प्राप्त होते हैं और उनको सामान्य रूपों में रखना और भी कठिन है। किन्तु इस प्रकार के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को सरल करने के पहिले 'यह जानना आवश्यक हो जाता है कि हम उन रूपों को जानें जिनमें हमें उन पदार्थों या घटनाओं को प्रकट करना है। जैसे विशेषानुमान में सिलाजिज्म एक अनुमान का रूप है जिसके अन्दर समग्र विशेषानुमानीय तर्क को दिखलाना है, वैसे ही सामान्यानुमान में भी हम विधियों को उपस्थित करते हैं जिनके अन्दर तमाम सामान्यानुमानीय तर्क प्रकट करना चाहिये जिससे हम उनकी प्रमाणिकता सिद्ध कर सकें।

(२) कारण-बहुत्व का सिद्धान्त और कार्य-सम्मिश्रण का सिद्धान्त विधियों को प्रमाणिता के लिये अत्यन्त घातक है।

सामान्यानुमानीय विधियाँ केवल दो बातों की कल्पना करती हैं :—

(१) एक कार्य का केवल एक कारण होता है अर्थात् कार्य की कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं (२) भिन्न-भिन्न कार्य अलग अलग रक्खे जाते हैं और हम उनमें भेद कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों कल्पनाओं के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

कारण बहुत्व का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि भिन्न भिन्न अवसरों पर वही कार्य भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है। इससे अन्वय-विधि निरर्थक सिद्ध हो जाती है। यह हो सकता है कि अनेक उदाहरणों के इकट्ठे करने से और सम्मिलित-विधि के प्रयोग करने से अन्वय-विधि की असफलता के अवसरों को कुछ रोका जा सके किन्तु गलती की सम्भावना को सर्वथा नहीं हटाया जा सकता। व्यतिरेक-विधि भी केवल यही सिद्ध कर सकती है कि दिये हुए उदाहरण में एक खास अवस्था कारण कही जा सकती है क्योंकि दूसरी विधियाँ या तो अन्यव-विधि के या व्यतिरेक-विधि के रूप हैं, इसलिये उनको भी कारण-बहुत्व का सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध कर सकता है।

कार्य-सम्मिश्रण के सिद्धान्त के अनुसार हमारे लिये यह सम्भव न हो

मिल महोदय का यह राय अन्य तार्किकों को मान्य नहीं है और वे निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाते हैं:—

(१) प्रथम विधियों के आधार पर हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को हम साधारण सूत्रों में अनूदित कर सकते हैं।

(२) द्वितीय, कारणबहुत्व का सिद्धान्त और कार्यसम्मिश्रण का सिद्धान्त, विधियों की प्रामाणिकता के लिये अत्यन्त घातक है।

(३) तृतीय, विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं वे निगमनानुमानीय हैं।

अब हम इन आपत्तियों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

(१) विधियों के आधार पर हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को हम साधारण सूत्रों में अनूदित कर सकते हैं।

विधियों के आधार पर हम यह सोचने लग जाते हैं कि प्रकृति के पदार्थ और घटनाएँ इतनी सरल हैं कि हम उनको अत्यन्त सरल सूत्रों में अनूदित कर रख सकते हैं। विधियों के अन्दर हमारे सामने कुछ निश्चित पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं और उन्हीं के अनुसार उत्तरवर्ती अवस्थाएँ भी होती हैं—हम इन्हीं के आधार पर कार्य-कारण-भाव सिद्ध करने लगते हैं। यथार्थ में प्राकृतिक पदार्थों और घटनाओं का स्वरूप इतना पेचीदा होता है कि उनमें से कुछ अवस्थाओं को क ख ग के पूर्व रूप में मानकर उन्हीं के अनुरूप क' ख' ग' को उत्तर रूप में प्रकट करना धोखे से खाली नहीं होता है। अवस्थाओं को शुद्ध रूप में और विभिन्न रूप में प्रकट करने से हम एकदम यह जान जाते हैं कि अमुक अवस्थाएँ पूर्ववर्ती हैं और अमुक उत्तरवर्ती। किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता। इसी हेतु से ह्वेल (Whewell) साहब यह आपत्ति उठाते हैं कि विधियों के अन्दर हम किसी वस्तु को मानकर बैठ जाते हैं जिसकी खोज करना अत्यन्त दुर्लभ है—अर्थात् पेचीदे पदार्थों और घटनाओं को साधारण समझ बैठते हैं। यह विधियों की प्रथम कमजोरी है।

मिल महोदय इस आपत्ति को इस प्रकार सुलझाते हैं और वे स्वीकार करते हैं कि सामान्यानुमानीय वाक्य कठिनता से प्राप्त होते हैं और उनको सामान्य रूपों में रखना और भी कठिन है। किन्तु इस प्रकार के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को सरल करने के पहिले 'यह जानना आवश्यक हो जाता है कि हम उन रूपों को जानें जिनमें हमें उन पदार्थों या घटनाओं को प्रकट करना है। जैसे विशेषानुमान में सिलाजिज्म एक अनुमान का रूप है जिसके अन्दर समग्र विशेषानुमानीय तर्क को दिखलाना है, वैसे ही सामान्यानुमान में भी हम विधियों को उपस्थित करते हैं जिनके अन्दर तमाम सामान्यानुमानीय तर्क प्रकट करना चाहिये जिससे हम उनकी प्रमाणिकता सिद्ध कर सकें।

(२) कारण-बहुत्व का सिद्धान्त और कार्य-सम्मिश्रण का सिद्धान्त विधिओं की प्रमाणिता के लिये अत्यन्त घातक हैं।

सामान्यानुमानीय विधियाँ केवल दो बातों की कल्पना करती हैं:—

(१) एक कार्य का केवल एक कारण होता है अर्थात् कार्य की कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं (२) भिन्न-भिन्न कार्य अलग अलग रक्खे जाते हैं और हम उनमें भेद कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों कल्पनाओं के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

कारण बहुत्व का सिद्धान्त हमे यह बतलाता है कि भिन्न भिन्न अवसरों पर वही कार्य भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है। इससे अन्वय-विधि निरर्थक सिद्ध हो जाती है। यह हो सकता है कि अनेक उदाहरणों के इकट्ठे करने से और सम्मिलित-विधि के प्रयोग करने से अन्वय-विधि की असफलता के अवसरों को कुछ रोका जा सके किन्तु ग़लती की सम्भावना को सर्वथा नहीं हटाया जा सकता। व्यतिरेक विधि भी केवल यही सिद्ध कर सकती है कि दिये हुए उदाहरण में एक खास अवस्था कारण कही जा सकती है क्योंकि दूसरी विधियाँ या तो अन्यव-विधि के या व्यतिरेक-विधि के रूप हैं, इसलिये उनको भी कारण-बहुत्व का सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध कर सकता है।

कार्य-संमिश्रण के सिद्धान्त के अनुसार हमारे लिये यह सम्भव न हो

कि भिन्न-भिन्न कारणों को अलग-अलग कर सकें और एक पदार्थ में कितना सम्मिलित कारणों का फल हो उदाहरणार्थ, अच्छी फसल एक उदाहरण है जो अनेक कारणों का सम्मिलित कार्य है अर्थात् उसमें जमीन का भी हिस्सा है अच्छी वर्षा भी उसमें काम कर रही है, किसान के परिश्रम का भी योग है, इत्यादि। प्रायोगिक विधियाँ यह चाहती हैं कि भिन्न-भिन्न कार्य, क ख ग 'क' ख' ग' के रूप में अलग-अलग प्रतीत होने चाहिये। यदि भिन्न-भिन्न कार्य एक साथ मिला दिये जाते हैं तो यह निर्णय करना असम्भव हो जायगा कि सम्मिलित कार्य में से कौन सा भाग किस कारण से उत्पन्न हुआ है। अतः इस प्रकार के मामलों में ये विधियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं।

सम्मिलित कार्यों के मामलों में सहगामि-विचरण-विधि और अवशेष-विधि कुछ सहायता कर सकती हैं। यदि दो पदार्थ या घटनायें एक साथ परिवर्तन को प्राप्त होती हैं तो यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वे दोनों कारणता के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं या नहीं और हमारी यह आरम्भ सफल परिणामों का आरम्भ बिन्दु बन सकती है। इसी प्रकार अवशेष विधि भी हमारी बड़ी सहायता कर सकती है क्योंकि जब हम कुछ अन्य प्रभाव अवशेष पाते हैं तो हम उस अवशेष के लिये कारणान्तर की कल्पना करते हैं और उस दिशा में पुनः खोज करना आरम्भ कर देते हैं।

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि ये प्रायोगिक विधियाँ कारण बहुत्व या कार्य-सम्मिश्रण से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकतीं। यदि हम इन कठिनाइयों को पार करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग करें जो कि सामान्यानुमान और विशेषानुमान का सुन्दर मिश्रण है।

(३) उक्त विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं; वे विशेषानुमानीय हैं।

सबसे बड़ी आपत्ति जो प्रायोगिक-विधियों के विरुद्ध उठाई जा सकती है वह यह है कि प्रायोगिक-विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं किन्तु विशेषानुमानीय हैं अर्थात् इनसे हम विशेष से सामान्य की ओर

गमन नहीं करते अपितु सामान्य से विशेष की ओर गमन करते हैं। वेन (Bain) कहते हैं इन विधियों को हम अनुग्रह से सामान्यनुमानीय कह सकते हैं, अधिक उपयुक्त तो यही होगा कि इनको विशेषानुमानीय विधियाँ कहा जाय क्योंकि हम इन्हें विशेष रूप से सामान्यानुमानीय अनुसधानों में प्रयुक्त पाते हैं। इस आलोचना की सत्यता तब अधिक स्पष्ट होगी जब हम इन विधियों में होनेवाली तर्क-प्रणाली को भली भाँति समझ लें।

अन्वय-विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है.—**"कार्य के भाव को न बिगाड़ते हुए हम जो कुछ अलग कर सकते हैं वह कारण का भाग नहीं बनाया जा सकता"**। यह सिद्धान्त कारणता के सिद्धान्त से निकाला गया है। इस सिद्धान्त को हम मुख्य वाक्य मानकर निम्नलिखित सिलाजिज्म बनाते हैं :—

"जो कुछ अलग किया जा सकता है वह कारण नहीं हो सकता।
ख ग, घ ङ अलग किये जा सकते हैं।
∴ ख, ग, घ ङ आदि कोई कारण नही हो सकते।"

किन्तु कारणता का सिद्धान्त बतलाता है कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है, इसलिये अन्वय-विधि यह बतलाती है कि अपरिवर्तितनीय पूर्वावस्था 'क' अपरिवर्तनीय उत्तर अवस्था 'क'' का कारण है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्वय-विधि कारणता के सिद्धान्त से निकाला हुआ सिद्धान्त है अर्थात् विशेषानुमान है और प्रथक्करण का सिद्धान्त भी कारणता के सिद्धन्त से निकाला हुआ सिद्धान्त है। अत. दोनों विशेषानुमान रूप हैं।

इसी प्रकार व्यतिरेक-विधि भी विशेषानुमान का रूप है। व्यतिरेक विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है—**"बिना कार्य के बिगाड़े हुए हम जिस किसी अवस्था को अलग नहीं कर सकते वह उसका कारण है"**। इसको हम मुख्य वाक्य बनाकर निम्नलिखित सिलाजिज़्म बनाते हैं —

जो कुछ अलग नही किया जा सकता है वह कारण है।
'क अलग नहीं किया जा सकता।
∴ 'क' कारण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यतिरेक-विधि उपर्युक्त सिद्धान्त का *निष्कर्ष है जो पुनः कारणता के नियम से निकाला गया है।* ठीक इसी प्रकार यह भी *दिखलाया* जा सकता है कि सहगामि-विचरण-विधि इस सिद्धान्त से निकली हुई है "यदि एक पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती अवस्था सहगामि-अवस्था में एक साथ घटती हैं और बढ़ती हैं तो इनमें अवश्य ही कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध होगा।

यहाँ एक सम्मिलित-विधि का सम्बन्ध है यह अन्वय-विधि का विशेष रूप है। इसलिए अन्वय-विधि के समान यह भी *विशेषानुमानीय ही* विधि है।

अवशेष-विधि के बारे में तो मिल का स्वयं कहना है कि इसमें *विशेषानुमान* का कुछ तत्त्व अवश्य है क्योंकि *निषेधात्मक उदाहरण* को परीक्षागत पदार्थ या घटना की अविद्यमानता को प्रकट करते हैं, उनको हम न तो प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त कर सकते हैं और न प्रयोग से प्राप्त कर सकते हैं *किन्तु पूर्वज्ञान से उत्पन्न निष्कर्ष या विशेषानुमान से प्राप्त करते हैं।* यह स्पष्ट है क्योंकि यह व्यतिरेक-विधि का विशेष रूप है इसलिये इसके अन्दर वही व्याप्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं जो व्यतिरेक विधि में पाई जाती हैं।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सामान्यानुमानीय विधियाँ सामान्यानुमानरूप कदापि नहीं हैं किन्तु केवल विशेषानुमान रूप हैं। ये सब कारणता के *सिद्धान्त से निकली हुई विधियाँ हैं।* जैसा कि कारवेथ रीड ने कहा है "हम सामान्यानुमानीय तर्क को केवल रूप-स्वभाव[1] का रूप मान सकते हैं क्योंकि यह (१) कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध में पाया जाता है (२) इस सिद्धान्त से कुछ अनन्तरानुमानों को निकाला जाता है जिनका विस्तार नियमों में किया जा सकता है तथा (३) यह सिद्धान्तिरूप के रूप में नियमों के प्रयोगों को प्रकट करता है जिनको संयुक्त वाक्य के रूप में रखकर कारणता के विषय के स्वरूप में रक्खा जा सकता है जिससे

(1) Formal Character

यह दिखाया जा सके कि कुछ उदाहरण नियमों का पूर्णरूप से परिपालन करते हैं।"

अभ्यास प्रश्न

(१) तर्कशास्त्र में प्रायोगिक-विधियों की आवश्यकता क्यों बतलाई गई है? सबके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(२) प्रायोगिक-विधियों के दो मूल सिद्धान्त कौन से हैं जिनके आधार पर उनको परिवर्धित किया गया है? अच्छी तरह विवेचन करो।

(३) वे कौन से दो प्रकार हैं जिनमें अवशेष-विधि का प्रयोग किया जा सकता है? उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट बनाओ।

(४) प्रायोगिक-विधियों से आपका क्या अभिप्राय है? इनको प्रायोगिक विधियाँ क्यों कहा गया है?

(५) प्रथक्करण के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त क्या हैं? इनका प्रायोगिक-विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है?

(६) अन्वयविधि का उदाहरण पूर्वक लक्षण लिखो। इस विधि में कौन-कौन कमियाँ हैं? वे किस प्रकार दूर की जा सकती हैं?

(७) कारण-बहुत्व और कार्य-समिश्रण के सिद्धान्त किस प्रकार अन्वय विधि में बाधा उपस्थित करते हैं? इसका हल दो।

(८) व्यतिरेक-विधि पर पूर्ण प्रकाश डालकर यह सिद्ध करो कि यह अन्वय-विधि से अधिक उपयोगी है।

(९) अन्वय-विधि का यथार्थ उदाहरण दो तथा यह बतलाओ कि सम्मिलितान्वय-व्यतिरेक विधि का कब प्रयोग आवश्यक है?

(१०) "अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि ये दोनों प्रत्यक्षीकरण और प्रयोग की विधियाँ हैं" इस वक्तव्य का क्या अभिप्राय है?

(११) "अन्वयविधि खोज की विधि है और व्यतिरेक-विधि सबूत की विधि है" इस कथन पर प्रकाश डालो।

(१२) अन्वय-विधि के द्विगुणित प्रयोग का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इस विधि का विशेष उपयोग क्या है?

(१३) व्यतिरेक विधि का लक्षण लिखकर यथार्थ और बीजात्मक उदाहरण

दो तथा यह सिद्ध करो कि व्यावहारिक जीवन में इस विधि का अत्यन्त उपयोग है।

(१४) सहगामि विचरण-विधि का मिल के अनुसार लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसको स्वतन्त्र विधि क्यों माना गया है? इसकी सार्थकता प्रकट करो।

(१५) सहगामि-विचरण-विधि का विशेष उपयोग कब किया जाता है? इसके प्रयोग की सीमाएँ बतलाओ।

(१६) सहगामि विचरण-विधि का लक्षण लिखकर इसका व्यतिरेक-विधि से सम्बन्ध स्थापित करो।

(१७) अवशेष-विधि का लक्षण लिखकर यथार्थ और बीजात्मक दोनों प्रकार के उदाहरण दो। यह विधि विशेषानुमान रूप क्यों मानी गई है?

(१८) सिद्ध करो कि सब सामान्यानुमानीय विधियाँ स्वभाव से विशेषानुमानीय हैं?

(१९) निषेधात्मक उदाहरण किसे कहते हैं? इनका किस विधि में विशेष उपयोग होता है? उदाहरण देकर समझाओ।

(२) सामान्यानुमानीय विधियों की आलोचना-पूर्वक व्याख्या करो। अन्य लोगों ने इनकी महत्ता को क्यों नहीं स्वीकार किया?

(२१) क्या अवशेष-विधि को सामान्यानुमानीय माना जा सकता है? यदि हाँ तो क्यों?

(२२) 'गर्मी से वस्तु पिघलती है' यह निष्कर्ष किस विधि से निकाला गया है? उदाहरण-पूर्वक विधि का उल्लेख करो।

(२३) पाँचों विधियों का आपस में सम्बन्ध स्थापित कर यह सिद्ध करो कि ये सब सामान्यानुमान में अत्यधिक उपयोगी विधियाँ हैं।

(२४) प्रकृति के नियमों के आविष्कार में प्रायोगिक विधियों ने कहाँ तक सहायता की है — इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ७

(१) प्रायोगिक विधियों की कठिनाइयाँ और उनको दूर करने के उपाय

यह हम पहले बतला चुके हैं कि प्रायोगिक विधियों की मुख्य कठिनाइयाँ दो हैं (१) **कारण बहुत्व और** (२) **कार्य-संमिश्रण**। आगे चलकर हम यह बतलावेंगे कि हम किस प्रकार इन कठिनायों को **सम्भावना के सिद्धान्त** (Theory of probability) **अथवा अवसर-गणना** (Calculation of chances) के द्वारा दूर कर सकते हैं। इस अध्याय में तो हम केवल यही विचार करेंगे कि कार्य-समिश्रण के द्वारा उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

(२) कार्य-संमिश्रण और प्रायोगिक विधियाँ

पहले यह बतलाया गया है कि कार्य-समिश्रण के दो रूप होते हैं (१) **समानजातीय कार्य-समिश्रण और** (२) **भिन्नजातीय कार्य-समिश्रण**। समानजातीय कार्य-समिश्रण में प्रत्येक कारण का अलग-अलग कार्य पैदा होता चला जाता है और ये अलग-अलग कार्य एक समुदाय में एकत्रित होते जाते हैं जिसको हम मिश्र-कार्य (Complex effect) कहते हैं। भिन्न जातीय कार्य-समिश्रण में प्रत्येक कारण का अलग-अलग कार्य समाप्त होता चला जाता है और सर्वथा एक नवीन मिश्र-कार्य उत्पन्न होता है। कभी-कभी भिन्न जातीय कार्य-समिश्रण एक नवीन रूप को धारण करता है जिसे हम परिवर्तनों के नाम से पुकारते हैं, इनमें कारण और कार्य का परस्पर परिवर्तन किया जाता है। उदाहरणार्थ हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पानी पैदा करते हैं और पुन पानी हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पैदा कर देता है। इस प्रकार के भिन्नजातीय कार्य-समिश्रण के

इस प्रयोग से अच्छी तरह समझ सकते हैं और इसीलिये इस प्रकार के कार्यों में प्रायोगिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। किन्तु अन्य प्रकार के मिश्र-कार्यों में विशेष रूप से जो/समानजातीय कार्य-संमिश्रण से उत्पन्न होते हैं प्रायोगिक विधियाँ काम में नहीं लाई जा सकतीं। समानजातीय कार्य संमिश्रण में अनेक कारण होते हैं और कार्य उत्पन्न करने में प्रत्येक कारण का कुछ न कुछ हिस्सा होता है। अतः इस प्रकार कार्य के संमिश्रण में जितने अधिक कारण होंगे और प्रत्येक का जितना कम भाग होगा प्रायोगिक विधियों का प्रयोग उतना ही कठिन होगा। मिल महोदय का मतलब है कि मिश्रकार्य के अनुसन्धान में प्रत्यक्षीकरण की विधि और प्रयोग की विधि दोनों समानरूप से काम में लाई जा सकती हैं।

हम तपेदिक के रोग से मुक्त होने का उदाहरण लेते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—क्या कॉड मछली के यकृत्[1] का तैल का खाना इस रोग के दूर होने का कारण है? साधारण प्रत्यक्षी-करण का प्रयोग इसमें कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि कई भिन्न कारणों को मिलकर काम उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यहाँ कई कारण मिलकर कार्य कर रहे हैं इसलिये प्रत्येक कारण का भाग कार्य में अत्यन्त अल्प है और इसीलिये भाग किसी कारण विशेष का उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति या परिवर्तन में अनुसरण नहीं कर रहा है। इसी हेतु से अन्वयविधि व्यतिरेकविधि और सहगामि विचारणाविधि का जब प्रत्यक्षीकरण की विधि के रूप में प्रयोग किया जाता है तब वे विशेष कार्यकारी सिद्ध नहीं होतीं। इसी प्रकार प्रायोगिक विधि भी उपयोग में नहीं लाई जा सकती क्योंकि प्रयोग को काम में लाने के लिये हमें कुछ सावधान होने की आवश्यकता है जिसको करने के लिये हम असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ प्रयोग में किसी अज्ञात अवस्था को वास्तव बनाना नहीं है। जब हम किसी बीमार मनुष्य को कॉड मछली का तेल औषधी के रूप में देते हैं उस समय हमें बीमार की हालत का कुछ भी ज्ञान नहीं होता जिसका तपेदिक के रोग पर प्रभाव हो सकता है। अतः व्यतिरेक विधि हमारा विशेष कार्य नहीं कर सकती।

(1) Liver

अत' मिश्र कार्यों के विपय में प्रायोगिक विधियों का इतना ही प्रयोजन है कि ये हमें यह बतला सकती हैं कि प्राय करके अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न हो सकता है। इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि इनके द्वारा हम कार्य-कारण-भावको निश्चित कर सकते हैं। मिल महोदय का इन में यह सुझाव है कि ऐसी अवस्थाओं में हमें विशेपानुमानीय विधि से काम लेना चाहिये। अत हमें विशेपानुमानीय विधि का वहाँ प्रयोग करना चाहिये जहाँ हम प्रत्यक्षी-करण और प्रयोग का साक्षात् प्रयोग करने में असमर्थ हों।

(३) विशेपानुमानीय विधि

विशेपानुमानीय विधि (Deductive method) के तीन रूप हैं।
(१) साक्षात् विशेपानुमानीय विधि (२) व्यत्ययात्मक विशेपानुमानीय विधि (३) भावात्मक विशेपानुमानीय विधि।

(१) साक्षात् विशेपानुमानीयविधि

साक्षात् विशेपानुमानीय विधि (Direct Deductive method) को **भौतिक विधि** भी कहा जाता है। इसके ३ क्रम हैं (१) साक्षात् सामान्यानुमान द्वारा भिन्न-भिन्न कारणों के नियम निश्चित करना (२) युक्तितर्क (Ratiocination) और (३) समर्थन (Varification)।

प्रथम क्रम में हम कुछ समय के लिये पूर्व सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को स्वीकार कर लेते हैं। सामान्यानुमान हमें प्रायोगिक विधियों की सहायता से कारण और उनके नियमों का ज्ञान कराता है। यह हमारा ज्ञान निर्णयात्मक नही होता, इसी हेतु से हमें इसको परीक्षा के लिये विशेपानुमानीय विधि का प्रयोग करना पडता है। आरम्भ के लिये हम सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं। जब हमारे सामने एक मिश्र कार्य आता है तब हम प्रथम सामान्यानुमान द्वारा निश्चित कर लेते हैं कि उसके प्रथक्-प्रथक् कारण और नियम क्या हो सकते हैं? जब हमें सामान्यानुमान द्वारा इस प्रकार की व्याख्या नही मिलती तब हम उसके विषय में प्राक् कल्पनाओं (Hypotheses) का सहारा लेते हैं। द्वितीय क्रम में संयुक्त निष्कर्ष का गणना के द्वारा निर्णय करते हैं।

हम प्रयोग से अच्छी तरह समझ सकते हैं और इसीलिये इस प्रकार के कार्यों में प्रायोगिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। किन्तु अन्य प्रकार के मिश्र-कार्यों में विशेष रूप से जो समानजातीय कार्य-संमिश्रण से उत्पन्न होते हैं प्रायोगिक विधियाँ काम में नहीं लाई जा सकती। समानजातीय कार्य संमिश्रण में अनेक कारण होते हैं और कार्य उत्पन्न करने में प्रत्येक कारण का कुछ न कुछ हिस्सा होता है। अत इस प्रकार कार्य के संमिश्रण में जितने अधिक कारण होंगे और प्रत्येक का जितना कम भाग होगा प्रायोगिक विधियों का प्रयोग उतना ही कठिन होगा। मिल महोदय का मन्तव्य है कि मिश्रकार्य के अनुसन्धान में प्रत्यक्षीकरण की विधि और प्रयोग की विधि दोनों समानरूप से काम में लाई जा सकती हैं।

हम यकृत्[1] के रोग से मुक्त होने का उदाहरण लेते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—क्या कॉड मछली के यकृत् का तैल का खाना इस रोग के दूर होने का कारण है? साधारण प्रत्यक्षी-करण का प्रयोग इसमें कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि कई भिन्न कारणों को मिलकर काम उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यहाँ कई कारण मिलकर कार्य कर रहे हैं इसलिये प्रत्येक कारण का भाग कार्य में अत्यन्त अल्प है और इसीलिये कार्य किसी कारण विशेष का उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति या परिवर्तन में अनुसरण नहीं कर रहा है। इसी हेतु से अन्वयविधि व्यतिरेकविधि और सहगामि-विचरणविधि का जब प्रत्यक्षीकरण की विधि के रूप में प्रयोग किया जाता है तब ये विशेष कार्यकारी सिद्ध नहीं होतीं। इसी प्रकार प्रायोगिक विधि भी उपयोग में नहीं लाई जा सकती क्योंकि प्रयोग को काम में लाने के लिये हमें कुछ सावधान होने की आवश्यकता है जिसके करने के लिये हम असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ प्रयोग में किसी अज्ञात अवस्था की आवश्यकता नहीं है। जब हम किसी बीमार मनुष्य को कॉड मछली का तैल ... रूप में देते हैं उस समय हमें बीमार की हालत का कुछ भी ज्ञान होता जिसका यकृत् के रोग पर प्रभाव हो सकता है। अतः व्यतिरेक-विधि हमारा विशेष कार्य नहीं कर सकती।

---

(1) Liver

अत मिश्र कार्यों के विषय में प्रायोगिक विधियों का इतना ही प्रयोजन है कि ये हमें यह बतला सकती हैं कि प्राय करके अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न हो सकता है। इससे यह तो सिद्ध नही होता कि इनके द्वारा हम कार्य-कारण-भावको निश्चित कर सकते हैं। मिल महोदय का इस में यह सुझाव है कि ऐसी अवस्थाओं में हमें विशेषानुमानीय विधि से काम लेना चाहिये। अत हमें विशेषानुमानीय विधि का वहाँ प्रयोग करना चाहिये जहाँ हम प्रत्यक्षी-करण और प्रयोग का साक्षात् प्रयोग करने में असमर्थ हों।

(३) विशेषानुमानीय विधि

विशेषानुमानीय विधि (Deductive method) के तीन रूप हैं। **(१) साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (२) व्यत्ययात्मक विशेषानुमानीय विधि (३) भावात्मक विशेषानुमानीय विधि।**

(१) साक्षात् विशेषानुमानीयविधि

साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (Direct Deductive method) को **भौतिक विधि** भी कहा जाता है। इसके ३ क्रम हैं (१) साक्षात् सामान्यानुमान द्वारा भिन्न-भिन्न कारणों के नियम निश्चित करना (२) युक्तितर्क (Ratiocination) और (३) समर्थन (Varification)।

प्रथम क्रम में हम कुछ समय के लिये पूर्व सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को स्वीकार कर लेते हैं। सामान्यानुमान हमें प्रायोगिक विधियों की सहायता से कारण और उनके नियमों का ज्ञान कराता है। यह हमारा ज्ञान निर्णयात्मक नही होता, इसी हेतु से हमें इसको परीक्षा के लिये विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग करना पडता है। आरम्भ के लिये हम सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं। जब हमारे सामने एक मिश्र कार्य आता है तब हम प्रथम सामान्यानुमान द्वारा निश्चित कर लेते हैं कि उसके प्रथक्-प्रथक् कारण और नियम क्या हो सकते हैं? जब हमें सामान्यानुमान द्वारा इस प्रकार की व्याख्या नही मिलती तब हम उसके विषय में प्राक् कल्पनाओं (Hypotheses) का सहारा लेते हैं। द्वितीय क्रम में संयुक्त निष्कर्ष का गणना के द्वारा निर्णय करते हैं।

इसको हम युक्ति-तर्क (Ratiocination) कहते हैं। इसके द्वारा हम यह जान लेते हैं कि भिन्न-भिन्न कारणों के नियमों द्वारा गणना करके उनके सम्मिलित प्रयत्न से कैसे निष्कर्ष उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम क्रम में हम अन्दाजा लगा लेते हैं कि उनके संयुक्त निष्कर्ष क्या होने चाहिये। इस क्रम को विशेषानुमानीय विधि में विशेषानुमान कहा जाता है।

तृतीय क्रम में समर्थन (Varification) से काम लेना पड़ता है। अर्थात् परिगणित निष्कर्षों का समर्थन करने के लिये हम अनुभव से प्राप्त वस्तुओं की ओर दृष्टि डालते हैं और देखते हैं कि वे ठीक उतरती हैं या नहीं। यदि हम द्वितीय क्रम पर ही ठहर जाते हैं तो हम देखेंगे कि विशेषानुमानीय गणना कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। हमारे परिगणित निष्कर्ष का पदार्थों के साथ सामाञ्जस्य अवश्य होना चाहिये। यदि इनकी संगति नहीं बैठती है तो हमें समझना चाहिये कि प्रथम क्रम में कुछ न कुछ दोष अवश्य है—अर्थात् हमने सब कारणों पर विचार नहीं किया है और नियमों को ही कार्य में लिया है या हमने उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना करने में गलती की है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस विधि में समर्थन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह विशेषानुमानीय विधि में सामान्यानुमान का क्रम है।

यहाँ कारवेथ रीड के मन्तव्य का उल्लेख करना अनुचित न होगा—किसी भिन्न मानसिक वस्तु के देने पर एक परीक्षक विचार करता है—(१) सामान्यानुमान से निश्चित किये हुए कौन से नियमों का इसमें प्रयोग किया गया है। (यदि परिज्ञात नियम कार्यकारी सिद्ध नहीं होते तो उनकी जगह प्राक्-कल्पनाएँ काम में लाई जा सकती हैं) (२) पश्चात् वह कार्य की गणना करता है जो पहले कार्य की तरह इन अवस्थाओं में इन नियमों से फलित होता है। (३) अनन्तर वास्तविक पदार्थ के साथ उसकी तुलना कर अपने निष्कर्ष की जाँच करता है।

साक्षात् विशेषानुमानीय विधि का उदाहरण निम्नलिखित है—मान लो हम आकाश में फेंकी हुई किसी वस्तु के मार्ग के नियम का निश्चय करना चाहते हैं। प्रथम हम कारणों का पता लगाते हैं। सामान्यानुमान

व्यत्यय-विशेषानुमानीय-विधि को ऐतिहासिक विधि कह कर पुकारते हैं क्योंकि इसका विशेष उपयोग इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र आदि में होता है। यह हम जान चुके हैं कि साक्षात् विशेपानुमानीय-विधि को भौतिक विधि बतलाया गया है क्योंकि इसका विशेष उपयोग भौतिक विज्ञानों में होता है। यह विचार करना गलत होगा कि साक्षात्-विधि और व्यत्यय-विधि क्रमश भौतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक विज्ञानों में ही प्रयोग की जाती हैं। यथार्थता यह है कि कारण जो मिश्र कार्य के स्वरूप को निश्चित करते हैं वे इतना अधिक सख्या में होते हैं या इतने अनिश्चित होते हैं कि उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना पहले से कदापि नही हो सकती जिससे ऐतिहासिक-विधि कुछ लाभदायक सिद्ध हो सके।

(३) भावात्मक विशेपानुमानीय विधि

भावात्मक विशेपानुमानीय विधि (The Abstract Deductive method) शुद्ध रूप से विशेपानुमानीय विधि है। इसको रेखागणितीय विधि भी कहते हैं। यह हम देख चुके हैं कि साक्षात्-विशेपानुमानीय विधि और व्यत्यय-विशेपानुमानीय विधि दोनों विशेपानुमान और सामान्यानुमान का प्रयोग करती हैं यद्यपि भिन्न क्रम में। इसी कारण से जेवन्स महोदय ने इनका नाम **सयुक्त विधियों या मिश्र विधियों** रक्खा है। कोई कोई इनको **भावात्मक विशेपानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि** से प्रथक् बोध कराने के लिये **द्रव्यात्मक विशेपानुमानीय विधियाँ** कहते है। भावात्मक विशेपानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि सामान्यानुमान का सर्वथा उपयोग नही करती अपितु विशेषानुमान का उपयोग करती है। इसमें न तो प्रत्यक्षीकरण का और न अनुभव के आधार पर समर्थन का प्रश्न उठता है क्योंकि यह प्रधान रूप से भाव से सम्बन्ध रखती है न कि द्रव्यात्मक पदार्थों से। रेखागणित, भावात्मक विशेपानुमानीय विधि को प्रयोग में लाता है। रेखागणित ऐसे भावों से सम्बन्ध रखता है जैसे, बिन्दु, रेखा, इत्यादि जो भौतिक अणुओं से और भौतिक रेखाओं से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि यह भावात्मक विचारों को ही प्रयोग में लाती है, इसलिये इसके विरोधी अश नही होते और यदि शुद्ध रीति से विशेपानुमान निकाला

हैं कि उसके पूर्व कई प्रकार की अवस्थाएँ विद्यमान थीं—जैसे लोग शरीब थे सरकार विदेशी थी और अन्याय करती थी इत्यादि। फिर हम यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि जहाँ ऐसे कारण विद्यमान होते हैं वहाँ यह स्वाभाविक है कि क्रान्ति हो। इस प्रकार जो कुछ देखा गया है उसको हम विशेषानुमान से उच्चतर नियमों के आधार पर सिद्ध करते हैं। अतः उच्चतर नियमों के आधार पर विशेषानुमान द्वारा हम पहले देखे हुए उदाहरणों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

यहाँ व्यत्यय-विशेषानुमानीय विधि का साक्षात् विशेषानुमान विधि के साथ तुलना करना अधिक उपयुक्त होगा। दोनों विधियाँ मिश्र-कार्य के कारण को निश्चित करने के लिये प्रयोग में लाई जाती हैं और दोनों में सामान्यानुमान तथा विशेषानुमान का प्रयोग किया जाता है। साक्षात् विशेषानुमानीय विधि में हम पहले कुछ कारणों को मान लेते हैं पश्चात् उनके सम्मिलित कार्यों की परिगणना करते हैं और अन्त में अनुभव को प्रमाण मानकर उसका समर्थन करते हैं। प्रथम दो क्रम कारणों की कल्पना से तथा विशेषानुमान द्वारा उनके निष्कर्षों की परिगणना से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तिम क्रम सामान्यानुमान का है जिसमें प्रत्यक्षीकरण या प्रयोग पहले विशेषानुमान का समर्थन करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विशेषानुमान पहले आता है और सामान्यानुमान बाद में आता है। इसी हेतु से इसको साक्षात् विशेषानुमानीय विधि कहा जाता है। व्यत्यय-विधि में सामान्यानुमान का पहले प्रयोग किया जाता है क्योंकि हम प्रथम पदार्थों के आकारों का अवलोकन करते हैं और तब उच्चतर सिद्धान्तों से विशेषानुमान द्वारा निष्कर्ष निकालकर सिद्ध करना चाहते हैं कि पदार्थ उनसे निकलता है। साक्षात् विशेषानुमान-विधि में सामान्यानुमान पहले के विशेषानुमान का समर्थन करता है किन्तु व्यत्यय-विशेषानुमानीय-विधि में उच्चतर सिद्धान्तों से निकाले हुए सामान्यानुमान का समर्थन किया जाता है। साक्षात् विधि में विशेषानुमान प्रधानरूप से कार्य करता है और सामान्यानुमान गौणरूप से। इसके विपरीत व्यत्यय-विधि में सामान्यानुमान प्रधानता से काम करता है और विशेषानुमान गौण रूप से। तार्किक लोग

व्यत्यय-विशेषानुमानीय-विधि को ऐतिहासिक विधि कह कर पुकारते है क्योंकि इसका विशेष उपयोग इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र आदि में होता है। यह हम जान चुके हैं कि साक्षात् विशेषानुमानीय-विधि को भौतिक विधि बतलाया गया है क्योंकि इसका विशेष उपयोग भौतिक विज्ञानों में होता है। यह विचार करना ग़लत होगा कि साक्षात्-विधि और व्यत्यय-विधि क्रमश भौतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक विज्ञानों में ही प्रयोग की जाती हैं। यथार्थता यह है कि कारण जो मिश्र कार्य के स्वरूप को निश्चित करते हैं वे इतनी अधिक सख्या में होते हैं या इतने अनिश्चित होते हैं कि उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना पहले से कदापि नही हो सकती जिससे ऐतिहासिक-विधि कुछ लाभदायक सिद्ध हो सके।

(३) भावात्मक विशेषानुमानीय विधि

भावात्मक विशेषानुमानीय विधि (The Abstract Deductive method) शुद्ध रूप से विशेषानुमानीय विधि है। इसको रेखागणितीय विधि भी कहते हैं। यह हम देख चुके हैं कि साक्षात्-विशेषानुमानीय विधि और व्यत्यय-विशेषानुमानीय विधि दोनों विशेषानुमान और सामान्यानुमान का प्रयोग करती हैं यद्यपि भिन्न क्रम में। इसी कारण से जेवन्स महोदय ने इनका नाम **सयुक्त विधियाँ या मिश्र विधियाँ** रक्खा है। कोई कोई इनको **भावात्मक विशेषानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि** से प्रथक् बोध कराने के लिये **द्रव्यात्मक विशेषानुमानीय विधियाँ** कहते हैं। भावात्मक विशेषानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि सामान्यानुमान का सर्वथा उपयोग नही करती अपितु विशेषानुमान का उपयोग करती है। इसमें न तो प्रत्यक्षीकरण का और न अनुभव के आधार पर समर्थन का प्रश्न उठता है क्योंकि यह प्रधान रूप से भाव से सम्बन्ध रखती है न कि द्रव्यात्मक पदार्थों से। रेखागणित, भावात्मक विशेषानुमानीय विधि को प्रयोग में लाता है। रेखागणित ऐसे भावों से सम्बन्ध रखता है जैसे, बिन्दु, रेखा, इत्यादि जो भौतिक अणुओं से और भौतिक रेखाओं से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि यह भावात्मक विचारों को ही प्रयोग में लाती है, इसलिये इसके विरोधी अश नही होते और यदि शुद्ध रीति से विशेषानुमान निकाला

आय तो इसमें गलती के लिये कोई स्थान नहीं होता जैसे त्रिभुज के गुणों से निष्कर्ष निकाला जाता है कि किसी त्रिभुज के अन्तस्थ तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं।

(४) विशेषानुमानीय विधि का औचित्य

उपर्युक्त विवेचन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि सामान्यानुमान के तर्क शास्त्र में इस विधि के विवेचन के लिये कहाँ तक औचित्य है। यह विधि अथवा विशेषानुमानीय विधि है। इसके औचित्य के लिये केवल एक ही आधार है कि कभी-कभी विचारक रेखागणितीय विधि का भी इसके क्षेत्र से बाहर प्रयोग कर डालते हैं जैसे वे इसका राजनीति व्याकरण-शास्त्र और धर्म-शास्त्र में प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ एक सामान्यीकरण— "सब मनुष्य विवेकशील हैं" से यह निष्कर्ष विशेषानुमान द्वारा निकाला जाता है कि वह अपनी इच्छानुसार चिन्तन करने के लिये स्वतन्त्र है उसे अन्य बातों की ओर जो उसकी इसमें या अन्य बातों में स्वतंत्रता को रोकती हैं सर्वथा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

अभ्यास प्रश्न

(१) प्रयोगिक विधियों की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं? वे कैसे दूर हो सकती हैं?

(२) कार्य-संमिश्रण के सिद्धान्त में प्रयोगिक-विधियों का क्या उपयोग है? उदाहरण देकर स्पष्ट व्याख्या करो।

(३) विशेषानुमानीय विधि का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि इसका कहाँ-कहाँ उपयोग होता है?

(४) साक्षात् विशेषानुमानीय विधि का किस प्रकार उपयोग किया जाता है, स्पष्ट लिखो।

(५) व्यत्यय-विशेषानुमानीय विधि का स्वरूप लिखकर उदाहरण दो।

(६) मात्रात्मक विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग विशेष रूप से किस शास्त्र में होता है? उदाहरण से उत्तर को स्पष्ट करो।

(७) सामान्यानुमान के प्रकरण में विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग कहाँ तक उचित है? इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ८

(१) संयोग[1] और इसका प्रथक्-करण

गत अध्याय में हम यह देख आए हैं कि कार्य-समिश्रण से उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार विशेषानुमानीय-विधि के प्रयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। इस अध्याय में इस बात का विवेचन करेंगे कि कारण-बहुत्व के सिद्धान्त से उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार सयोग और प्रथक्-करण के सिद्धान्तों के द्वारा कुछ हद तक दूर किया जा सकता है। कारण-बहुत्व के सिद्धान्त के अनुसार कार्य 'स' क, ख, ग इनमें से किसी एक कारण से उत्पन्न हो सकता है। जहाँ तक अन्वय-विधिका सम्बन्ध है वह इसमें सर्वथा कार्यकारी सिद्ध नही होती। कुछ मामलों में जहाँ हम निर्णयात्मक निष्कर्षो को प्राप्त नही कर सकते वहाँ हमें सम्भावनात्मक निकर्षो से ही सतोष करना पडता है। सयोग का सिद्धान्त कुछ नियम बनाता है जिनका प्रयोग कर के हम निर्णय करते हैं कि 'क' की स के कारण होने की सम्भावना, ख और ग के कारण होने से, अधिक या कम है। यदि हमें यह पता लगता है कि क और स प्राय एक साथ रहते हैं तो हम निर्णय करते हैं कि यह मामला आकस्मिक या सम्भावनात्मक नही है किन्तु इन दोनों में कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। अथवा दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि उनमे शायद कुछ कारणता का सम्बन्ध है और यह कारणता सम्बन्ध की सम्भावना मात्र नही है। अब हम जहाँ सयोग और सम्भावना के सिद्धान्त तथा उनके कारणों का विचार करेंगे।

(२) संयोग

जब हम कहते हैं कि यह कार्य सयोग वश हुआ है तब हमें उसमें

(1) Chance

कोई कार्य कारण सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि यदि कोई कार्य संयोगवश हुआ है तो उसका कोई कारण है ही नहीं। विश्व में जो कुछ होता है वह सकारण होता है किन्तु कुछ क्रम ऐसे हैं जो एक खास समय या क्षेत्र में पैदा होते हैं जिनके अन्दर आपस में प्रत्यक्षरूप से कोई कारण सम्बन्ध दृष्टि में नहीं आता। उनका पैदा होना या एक साथ होना संयोग से पैदा होना कहलाता है। जैसे एक आदमी कहीं जाने के लिये मोटर के अड्डे पर प्रतीक्षा कर रहा है इतने में वहीं एक सड़क के किनारे पर पांच हुए शाम को चार बजे एक पुराने मित्र से भेंट हो गई। इस प्रकार की भेंट को हम संयोग से मिलना कहते हैं। यह संयोग वश मिलना है क्योंकि इस प्रकार की भेंट के लिये पहले से कोई प्रबन्ध नहीं था। इसी प्रकार दो घटनाएँ जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है एक साथ पैदा होती हुई सी प्रतीत होती हैं तो हम उन्हें संयोग से पैदा हुई कहते हैं क्योंकि हम उनके बीच किसी प्रकार का क्रम-कारण-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते चाहे हम कितना ही प्रयत्न क्यों न करें। इसी प्रकार कुछ ऐसी भी घटनाएँ हैं जिनका पैदा होना इतना अनियमित या अनिश्चित है कि हम उनके नियमों का पता ही नहीं लगा सकते जिनके अनुसार उनके कारण इकट्ठे हो कर उनको पैदा करते हैं। आप जो चौपड़ के खेल में हम २ बार कौड़ियां फेंकते हैं और हम देखते हैं कि तीन और पाँच मेंहरे वाली कौड़ियों में से प्रत्येक बार बार ऊपर को गिरी है और दो और चार मेंहरेवाली कौड़ियों में से प्रत्येक तीन बार गिरी है और एक और छः मेंहरे वाली कौड़ियों में से प्रत्येक तीन बार गिरी है। यदि २ बार फिर कौड़ियाँ फेंकी जांय तो परिणाम वही नहीं होगा। इस प्रकार के पदार्थों या घटनाओं को हम संयोग से उत्पन्न मानते हैं। इसी प्रकार यदि हम एक रुपये को फेंकते हैं और देखते हैं कि सिर उसका ऊपर को आता है और पूँछ नहीं आती तो हम कहते हैं कि ऐसा संयोगवश हुआ है।

जब हम यह कहते हैं कि दो घटनाएँ संयोगवश हुई हैं जैसे एक पुराने मित्र का मोटर के अड्डे पर मिलना या एक रुपये के फेंकने पर सोधा गिरना तो हम यह कभी नहीं कहते कि इनमें जो परिणाम उत्पन्न हुआ

है वह कारणों से मिलकर हुआ है। हमारा केवल इतना ही कहना होता है कि यह कैसे हुआ, हम कह नही सकते। हम कुछ नही कह सकते, मित्र की मोटर के अड्डे पर क्यों मुलाकात हुई, न हम कह सकते हैं रुपये के फेंकने पर वह सिर की ओर ही क्यों गिरा ? इसके विपरीत हम सोचते हैं कि यदि हम सब बातों को समझ लेते और सब कारणों को जान जाते तो हम भलीभाँति व्याख्यान कर देते कि अमुक खास घटना क्यों हुई अथवा क्यों दो-घटनायें जिनको हम कार्यकारण भाव से सम्बन्धित नही पाते, एक साथ पैदा होती हैं ? इस निष्कर्ष पर हम इसलिये पहुँचते हैं कि ससार में कोई कार्य बिना कारण के उत्पन्न नही होता और दिये हुए उदाहरण मे हम कार्यकारणभाव को निश्चित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसका मुख्य कारण हमारी बुद्धि की निर्बलता है। यदि कोई सर्वज्ञ होता तो वह सब कुछ जान लेता और उसके लिये वस्तु सयोगवश पैदा होती हुई नही दीख पडती। हम समझते हैं कि ऐसे पूर्ण ज्ञान का होना सम्भव नही है क्योंकि हमारी शक्तियाँ सीमित हैं और विश्व के पदार्थ अत्यन्त जटिल हैं। अत यही कहा जा सकता है कि हमें 'सयोग', या नियम का अज्ञान है।

यद्यपि एक सर्वज्ञ के लिये सयोग नाम की वस्तु नही है, किन्तु जब हम समझते है कि एक घटना या पदार्थों का एक साथ होना सयोगवश होता है तब उस समय हम स्वीकार करते हैं कि हमारी बुद्धि का क्षेत्र सीमित है। लेकिन फिर भी हम यह स्वीकार नही कर सकते कि सयोग केवल आत्मीय कल्पना ही है। यह सत्य है कि हम कारणों को नही जानते किन्तु यह अज्ञान वैषयिक पदार्थ-जन्य है और इसका कारण विश्व-तत्व का विशाल और जटिल होना है। इसी हेतु से मिल महोदय ने सयोग का लक्षण लिखते हुए यह कहा है कि यह एक घटनाओं का ऐसा मेल है जिसकी अनुरूपता के बारे में हम कोई अनुमान नही लगा सकते। हम किसी घटना को सयोगजन्य तब कहते हैं जब हम प्राकृतिक पदार्थों की जटिलता के कारण उसके साथ किसी का कारणता-सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं।

(३) संयोग का प्रथक्करण

संयोग का प्रथक्करण[1] एक प्रकार की विधि है जिसके द्वारा हम सिद्ध करते हैं कि दो घटनाओं के मध्य जो संयोग है वह आकस्मिक नहीं है किन्तु सकारण है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि यदि दो घटनाएँ केवल संयोग से सम्बन्धित हैं तो उनका सम्बन्ध बारम्बार नहीं होता। यदि वे दोनों बारम्बार एक साथ पैदा होती हैं तो सम्भव है उसमें कारणता-सम्बन्ध विद्यमान हो। यदि वे बारम्बार एक साथ पैदा नहीं होती हैं तो सम्भव है उनमें कोई कारणता का सम्बन्ध नहीं हो।

इसका प्रतिपादन वेन ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है :—

'घटनाओं के विविक्त्य से बार बार होने पर विचार करो और यह देखो कि इससे दोनों का बार-बार होना कितनी बार होता है यह विचार करते हुए कि उन दोनों में न तो सम्बन्ध है और न विरोध है। यदि दोनों अधिक बार एक साथ पैदा होती हैं तो उनमें सम्बन्ध है यदि कम बार पैदा होती है तो विरोध है।'

विविक्त्य से बार-बार होने से वेन का अर्थ यह है कि दोनों परस्पर सम्बन्धित घटनाएँ, कितनी बार स्वाभाविक रूप से पैदा होती हैं। इस प्रकार, मानलो हम सोच रहे हैं कि लाल आकाश और वर्षा में कोई सम्बन्ध है या नहीं तो सर्व प्रथम हमें दोनों घटनाओं के बार-बार होने को निर्धारित करना चाहिये। मान लो तीन दिन में रक्ताम्बर एक बार होता है और वर्षा सात दिन में एक बार ही होती है तो इसका फल यह हुआ कि दोनों एक साथ एक बार पैदा होते हैं। यदि दोनों घटनाओं को संयोग मात्र माना जाय तो दोनों का मिलना हमारी आशा के अनुसार एक बार होता है। यदि हम देखते हैं कि वास्तव में वे कई बार एक साथ पैदा होती हैं तब हम अनुमान लगाते हैं कि उन दोनों में अवश्य सम्बन्ध है। यदि इसके विपरीत हम देखते हैं कि वे कई बार एक साथ नहीं पैदा होती हैं तो हमें मानना पड़ता है कि उनमें आपस में विरोध है। इसी प्रकार मान लो एक चौसड़ के खेल में छह संख्या वाली गोटी कई बार गिरती

(1) Elimination

है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है—क्या छह सख्या वाली गोटी का बार-बार गिरना किसी कारणता के सम्बन्ध से होता है ? हम जानते हैं कि यदि गोटी साधारण है तो इसको छह बार में एक बार सीधा गिरना चाहिये; यदि दिए हुए मामले में यह पाँच बार सीधी गिरती है तो हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इसके फेंकने में कहीं न कही कुछ गडबड है।

यहाँ अब एक और कठिनाई उपस्थित होती है। यह तब होती है जब फेंकने की सख्या अनिश्चित हो और हम प्रत्येक गोटी के चेहरों को छह दफा में एक बार ऊपर पडता हुआ देखें। एक सामान्य गोटी के गेरने में पहले छह फेंकावों में चार दफा उपर को चेहरे का आना कोई असम्भव कार्य नही है। यद्यपि यह अच्छी तरह औसत से अधिक मालूम होता है किन्तु इस अवस्था से हम यह अनुमान नही कर सकते कि हमारी फेंकने की डब्बी गोटियों से भरी हुई है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि सम्भव है यह गोटियों से भरी हुई हो। मान लो हम १००० बार फैंकें और उसी प्रकार की अधिकता देखने में आवे तो इस बात की सम्भावना कि यह गोटियों से भरी हुई है, बढ जाती है। सख्या कितनी ही औसत से अधिक क्यों न हो, यह हमेशा अधिक या कम का प्रश्न है। यदि सख्या केवल अनिश्चित हो तो क्या हम निश्चय की आशा कर सकते हैं ? क्योंकि अनन्त सख्या असम्भव है, अतः यह कहना पड़ेगा कि सयोग के प्रथक् करण का प्रश्न सम्भावना के प्रश्न से बँधा हुआ रहता है।

(४) सम्भावना

सम्भावना[1] शब्द का अर्थ स्पष्ट नही हैं। इस शब्द के साधारण अर्थ से वैज्ञानिक अर्थ सर्वथा भिन्न है। साधारण रीति से जब हम यह कहते हैं कि अमुक कार्य या घटना की अधिक सम्भावना है तो इसका अर्थ यह होता है कि अमुक कार्य या घटना की न होने की अपेक्षा होने की अधिक सम्भावना है। एक कार्य या घटना जो कदाचित् उत्पन्न

---

(1) Probability

होती है उसे साधारण बोलचाल में सम्भावनात्मक नहीं कहते हैं किन्तु शक्य[1] कहते हैं। अतः साधारण जीवन में हम सम्भावना और शक्यता में भेद दिखलाते हैं। किसी वस्तु को हम शक्य तब कहते हैं जब उसमें हम कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं पाते। इस अर्थ में एक सुवर्ण-गिरि शक्य है किन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में यह सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक रूप से हम एक कार्य को सम्भावनात्मक कहते हैं यदि यह एक ओर असम्भव न हो और दूसरी ओर निश्चित न हो। यदि वस्तु आत्यन्तिक विरोध से परिपूर्ण हो तो हम उसे सर्वथा अशक्य कहते हैं, तथा कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें हम निश्चित कहते हैं। जैसे जब दो घटनाओं में कारणता सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तब हम उनको निश्चित कहते हैं। अतः यह कहना उपयुक्त है कि सम्भावना एक मात्राओं या अंशों (Degrees) का मामला है जो असम्भवता से कुछ अच्छी है किन्तु निश्चयता से कुछ खराब है। अतः साधारण भाषा में हम जिसे शक्य कहते हैं वैज्ञानिक भाषा में सम्भव भी कहलाती है।

कुछ विद्वानों ने सम्भावना को भिन्न (Fraction) के रूप में भी प्रकट किया है। मान लो १ निश्चय के लिए रक्खा गया है और अशक्य के लिये ० रक्खा गया है तो सम्भावना एक भिन्न होगी और यह [illegible] या [illegible] हो सकती है। इसमें हर[2] एक घटना के होने के बारों को बतलाता है और अंश[3] उसके दूसरी घटना के साथ होने के बारों को बतलाता है। चौपड़ के खेल में छह को ऊपर गिरने की सम्भावना हर के लिये फेंकने की संख्या रखकर प्रकट किया गया है और बारों की संख्या के अनुसार अंश के लिये छह बार फेंका गया है। यह हम देख चुके हैं कि यदि कई बार फेंकने का प्रयत्न किया जाय तो छह की ऊपर गिरने की सम्भावना ⅙ होगी अर्थात् इसके गिरने की सम्भावना छह में एक बार है।

कुछ गणितज्ञ तार्किक लोग सम्भावना के सिद्धान्त को अनुपात द्वारा प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि यदि छह के ऊपर गिरने

---

(1) Possible, (2) Denominator, (3) Numerator

की भिन्न की सम्भावना ⅙ है तो जिन मामलों में यह होता है उनका अनुपात १ : ५ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके होने के संयोग १ : ५ हैं अथवा न होने के संयोग ५ : १ हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम यह स्पष्ट समझ गये होंगे कि किन प्रकार के उदाहरणों में सम्भावना का प्रश्न उठता है। ऐसे उदाहरणों में जिनके होने की संख्या सीमित है उनमें घटना कई बार होती है, तथापि हम निश्चय पूर्वक नहीं जान सकते कि अमुक उदाहरण में यह घटना होगी या नही। पश्चात् हम इसकी सम्भावना की परिगणना करना आरम्भ करते हैं। हम विश्वास करते हैं कि कुछ नियम ऐसे हैं जो घटनाओं पर शासन करते हैं इसलिये उनको अवश्य होना चाहिये, किन्तु उनके कारण और नियमों का हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है। यदि हमारा ज्ञान पूर्ण होता तो हम घटना के निश्चय पूर्वक होने की सम्भावना कर सकते थे। चूंकि हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है, अत हम इसकी सम्भावना की कूत लगाते हैं।

(५) सम्भावना के आधार

सम्भावना के आधार के विषय में तार्किक लोग हमेशा से विचार-विभेद रखते आये हैं। इनमें जेवन्स (Jevons) आदि महानुभावों का यह विचार है कि सम्भावना के आधार आत्मीय (Subjective) होते हैं। सम्भावना बहुत कुछ हमारे इस विश्वास पर अवलम्बित है कि अमुक घटना उत्पन्न होती है या इस प्रकार होती है। अन्य तार्किकों के अनुसार यह केवल वैषयिक (Objective) है और यह अनुभव पर आधारित है। इस विषय में कारवेथ रीड ने अपने समालोचनात्मक विचार, कि सम्भावना केवल आत्मीय है, इस प्रकार निबद्ध किये हैं —

(क) प्रथम, विश्वास का हम संतोष पूर्वक माप नहीं कर सकते। यह कोई नहीं कह सकता कि विश्वास, आत्मा की एक अवस्था या वृत्ति की भाँति, एक भिन्न के रूप में प्रकट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि एक पोस्ट आफिस के थैले में बहुत से पत्र भर दिये जाँय और हमें केवल यह ज्ञान हो कि इसमें एक पत्र रामू के नाम का है। हम पत्रों को एक-एक करके निकालते हैं और हर बार अपने विश्वास का मूल्याङ्कन

करते जाते हैं कि अब की रामू का पत्र निकलेगा। अब सोचिये—क्या हमारा विश्वास रामू के पत्र को दूसरी बार निकालने में बढ़ता जाता है ज्योंही कि पत्रों की संख्या घटती जाती है? हमारे लिये ऐसा निश्चित रूप से कह देना सम्भव नहीं है।

(ख) द्वितीय, हम देखते हैं कि विश्वास की वास्तविक वस्तुओं के साथ अनुरूपता दृष्टि गोचर नहीं होती। मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्वास एक चित्त-वृत्ति है जिसमें आशा भय स्नेह, लोभ आग्रह आदि बातें भरी रहती हैं और वह केवल अनुभव पर अवलम्बित नहीं रहता। दो मनुष्यों का अनुभव एक समान होने पर भी उनमें से एक कह सकता है कि मैंने शाम के समय भूत देखा है और इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति जो अन्ध विश्वासी नहीं है कह सकता है कि उसने केवल चन्द्र की ज्योति के अन्दर अस्पष्ट प्रकाशित एक वस्तु मात्र को ही देखा है। इससे यह सिद्ध है कि यदि यह केवल विश्वास का ही कार्य है तो हम इसकी सम्भावना का कोई अन्दाजा नहीं लगा सकते।

(ग) तृतीय यदि सम्भावना का संबन्ध सामान्यानुमान से बतलाया जाय तो वह अवश्य ही अनुभव पर आधारित समझी जायगी। क्योंकि सामान्यानुमान की तमाम सामग्री अनुभव से ही ली जाती है। सामान्यानुमान का आधार विश्वास नहीं है किन्तु इसका आधार वह विश्वास हो सकता है जो वस्तुओं से सामञ्जस्यता रखता हो। अतः यह विचार कि सम्भावना केवल आत्मीय विषय है गलत है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस विचार पर पहुँचते हैं कि सम्भावना का सिद्धान्त जिसका हमने सामान्यानुमान में विचार किया है उसका केवल आत्मीय[1] पक्ष नहीं है किन्तु विषय पक्ष[2] भी है। आत्मीय दृष्टि से तो यह कहना पड़ेगा कि यह आत्मीय या मानसिक परिणति है किन्तु विषय की दृष्टि से तो यह अनुभव पर अवलम्बित है। यथार्थ में यही कहना उचित है कि सम्भावना आत्मीय और वैषयिक दोनों है। इसलिये जब

(1) Subjective. (2) Objective. (3) Side.

कभी हम कहते हैं कि यह घटना सम्भव है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि इसके होने में कुछ न कुछ साक्षी अवश्य है और कुछ न कुछ नही भी है। और जब हम यह देखते हैं कि इसके होने के सयोग, न होने की अपेक्षा, अधिक है तब हम कहते हैं कि हमारा विश्वास है कि ऐसा होगा। इस प्रकार हमने देखा कि इसमें आत्मीय और वैषयिक दोनों तत्व विद्यमान हैं।

(६) सम्भावना और सामान्यानुमान

साधारण रूप से तार्किकों का यह विचार है कि सम्भावना का सिद्धान्त सामान्यानुमान पर अवलम्बित है किन्तु इसके विपरीत जेवन्स महोदय का मत है कि सामान्यानुमान सम्भावना पर अवलबित है क्योंकि सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं, सर्वथा निश्चयात्मक नही होते।

जेवन्स का कहना है कि प्रकृत्ति इतनी विशाल है और प्राकृतिक पदार्थों का रूप इतना जटिल है कि हम यह निश्चय रूप से कभी नही कह सकते कि हमने जो कारणता का सम्बन्ध स्थापित किया है वह अवश्य ही सत्य होगा। किन्तु यह पहले बतलाया गया है कि सामान्यानुमान प्रकृति की एकरूपता पर अवलम्बित है। अत: इससे निकाले हुए निष्कर्ष सत्य हो सकते हैं यदि प्रकृति वास्तव में एक रूप हो और सर्वदा के लिए उसी प्रकार रहे। जैसा कि उनका कहना है "सामान्यानुमान् निश्चयात्मक हो सकता है यदि हमारा ज्ञान, उन शक्तियों का, पूर्ण हो जो कि विश्व में कार्य कर रही हैं और हमें उसी समय यह भी निश्चय हो जाय कि जिस शक्ति ने विश्व को पैदा किया है वही शक्ति इसको इसी प्रकार चलाती रहेगी और उसमें किसी प्रकार का मनमानी परिवर्तन न होने देगा।' किन्तु हमें ऐसे कारणों की सत्ता की भी सम्भावना है जिनका हमें ज्ञान नही है और ऐसा समय कभी भी आ सकता है कि कोई आशातीत घटना घट जावे, इसलिये कहना होगा कि सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निष्कर्ष केवल सम्भावनात्मक होते हैं और सामान्यानुमान का आधार सम्भावना है।

किन्तु इस पर यदि समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया तो प्रतीत

होगा कि यह वेवम्सका विचार केवल निश्चय (Certainty) के सम्पूर्ण न होने के कारण प्रतीत होता है। यह बहुत हद तक ठीक है कि प्राकृतिक पदार्थों की जटिलता के कारण हम कारणता के सम्बन्ध को ठीक रूप से नहीं समझ सकते। किन्तु यह कहना कि हम उसे किसी प्रकार समझ ही नहीं सकते अतिशयोक्ति पूर्ण है। सैद्धान्तिक रूप से हम यह कह सकते हैं कि विश्व में सर्वथा कोई वस्तु निश्चित नहीं है किन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में हम इस प्रकार की निश्चिति नहीं चाहते। फाउलर महोदय ने इसी के अनुरूप बहुत ठीक कहा है "जहाँ तक मनुष्य के ज्ञान की सीमा है सब सामान्यानुमान द्वारा निकाले गये निष्कर्ष निश्चयात्मक होते हैं।" सामान्यानुमान के द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों के बारे में कोई खास प्रकार की अनिश्चिति नहीं बतलाई जा सकती। अपेक्षा-वाद के आधार पर यह कहना होगा कि सामान्यानुमान द्वारा निर्धारित सत्य अन्य सत्यों की तरह खास-खास अवस्थाओं के अन्दर अवश्य निश्चयात्मक होते हैं। यह हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर की बात है कि हम उससे परे की चिन्ता करते हैं। मनुष्य के ज्ञान की सापेक्षता इसी में है कि वह अपनी सीमाओं के अन्दर अवस्थाओं के अनुसार सत्य का ज्ञान करता रहता है। इसलिये कहना होगा कि वेवम्स महोदय का सिद्धान्त अधिक विश्वासपूर्ण है।

यथार्थ और सम्भव विचार तो यही है कि सम्भावना का आधार सामान्यानुमान है। सामान्यानुमान सम्भावना का वैषयिक आधार है क्योंकि वे पदार्थ जिन पर हम अपने सम्भावनात्मक नियम बनाते हैं अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं। जैसा कि मिल महोदय का कहना है कि "हम अपने दीर्घकाल से पुनिरावृत्ति प्रत्यक्षीकरण के आधार पर अवस्थित सामान्यानुमान पर पूरा विश्वास करते हैं और हमारी तमाम आनुमानिक प्रक्रियाएँ इसी प्रकार कार्य करती हैं। यदि कई सालों के बीतने पर हमारे अनुभव में यह आता है कि प्रत्येक वर्ष तीन दिन वर्षा होने के बाद चार दिन सूखा रहता है तो हमें इसमें सामान्यानुमानीय नियामकता प्रतीत होती है और हम इसी आधार पर कहते हैं कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा। अतः स्पष्ट है कि सम्भावना सामान्यानुमान पर अवलम्बित रहती है।

(७) सम्भावना का तार्किक आधार

वैज्ञानिकों का कहना है कि विश्व की रचना बुद्धि पूर्ण है और हम विश्व की प्रत्येक वस्तु का कारणता के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यान कर सकते हैं, किन्तु मानवीय ज्ञान की अपूर्णता के कारण वहुत से कार्य सयोग या दैवयोग से उत्पन्न होते हुए से प्रतीत होते हैं। फिर भी हम प्रयत्न करते हैं कि विश्व के पदार्थो का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। सम्भावना के सिद्धान्त के द्वारा हम सयोगजन्य पदार्थो या घटनाओं का व्याख्यान करते हैं। अत' हमारी सम्भावना की गणना कुछ ज्ञान और अज्ञान के समिश्रण पर अवलवित रहती है। असभावना, सम्भावना की विरोध सूचक नही है। असम्भावना का 'अर्थ केवल यही है कि यह सम्भावना की लघु मात्रा को प्रदर्शित करती है। जैसे, हम कहते हैं कि आज वर्षा की असम्भावना है—इसका अर्थ यह नही है कि आज वर्षा का होना असभव है किन्तु इसका यही अर्थ है कि ऋतु की अवस्था के अनुसार यही सम्भव है कि आज वर्षा न होगी। सम्भावना का तार्किक आधार वैकल्पिक निर्णय (Disjunctive judgement) है अयवा इस प्रकार के निर्णयों का ममूह है जिसमें विशेपानुमानीय निर्णय भी सम्मिलित हैं। वैकल्पिक निर्णय जिनसे हम सम्भावना को निकालते हैं उनमें हमारे सभी विकल्प एक दूसरे के व्यावर्तक, निश्चित, समग्रतासूचक तथा समान मूल्यवाले होने चाहिए।

समान समव विकल्प ही हमारे ज्ञान के विषय होते हैं और जव उनमें से एक को अधिक मानने के लिये कोई आधार नही होता तभी सम्भावना कार्य करती है। जैसे, एक टोकरी में तीन गेंदे रक्खी हुई हैं। उनमें एक काली और दो सफेद हैं। जव हम उसमें से एक गेंद निकालना चाहते हैं तव शक पैदा होती है कि सफेद निकलेगी या काली। किन्तु सम्भावना निश्चयपूर्वक यह वतलाती है और सख्या में निर्धारित करती है कि इसका क्या परिणाम होगा। उपर्युक्त उदाहरण की प्रदर्शित सम्भावना वैकल्पिक वाक्य द्वारा इस प्रकार वतलाई जा सकता है "स या तो क है या ख है

या ग है' । यहाँ 'ख' निकालने के लिये और 'क', काली गेंद के लिये 'ख', सफ़ेद गेंदों में से एक के लिये और 'ग' दूसरी सफ़ेद गेंद के लिये प्रयोग किये गये हैं । इस वैकल्पिक वाक्य में हम देखेंगे कि विकल्प पूर्ण प्रथक् और एक दूसरे के व्यावर्तक हैं । क्योंकि इसमें केवल तीन विकल्प हैं अतः काली गेंद के निकलने की सम्भावना $\frac{1}{3}$ या १ : ३ है और सफ़ेद गेंद निकलने की सम्भावना $\frac{2}{3}$ या २ : ३ है । इससे हमें यह भी मालूम होता है कि यहाँ जो गणना वैकल्पिक वाक्य से सम्बन्धित है वह विशेषतः अनुमानीय है । सम्भावना के सिद्धान्त का प्रयोग, गवाही या साक्षी की सत्यता तथा भविष्य-वाणियों की सत्यता की परख करने के लिये किया जाता है । सम्भावना की परिगणना करने के लिये हमें गणितशास्त्रीय क्रम सचय[1] और संयोग के सिद्धान्त का अवलम्बन करना होगा । इसके लिये निम्नलिखित नियम काम में लाये जाते हैं —

(८) सम्भावना की परिगणना के नियम—

सम्भावना की परिगणना के लिये तार्किक गणितज्ञों ने कई विधियाँ निकाली हैं जिनका हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) यदि हमें केवल विकल्पों के एक समूह को लेकर ही विचार करना है जिसमें प्रत्येक विकल्प समान मूल्य वाला हो तो हम उस दी हुई वस्तु को एक वैकल्पिक-वाक्य द्वारा प्रकट कर सकते हैं । जैसे $क_1$ $क_2$, $क_3$ ... $क_न$ $\frac{न}{क}$ है । तब हम प्रत्येक विकल्प की सम्भावना को $\frac{1}{न}$ चिन्ह से प्रकट कर सकते हैं । इसका अंकगणित द्वारा भी व्याख्यान हो सकता है । मान लो क या तो $क_1$ $क_2$ $क_3$ $क_4$ हैं और ये सब सम्भाव्य विकल्प हैं । ये सब एक दूसरे के व्यावर्तक और समान मूल्य के भी हैं । इसमें केवल चार विकल्प हैं (अर्थात् न ४ है) । तब प्रत्येक विकल्प की सम्भावना $(\frac{1}{न})$ $\frac{1}{4}$ है । यदि विकल्पों की संख्या न हो तब एक साथ विकल्प के

(1) Permutation.

सयोग, पता न लगने के कारण $\left(\frac{न - १}{न}\right)$ होंगे। यदि ४ विकल्प हों तो एक खास विकल्प के सयोग, पता न लगने के कारण $\frac{४-१}{४}$ होंगे। मान लो एक कलश में ३ गोलियाँ हैं उनमें एक काली है और २ सफेद हैं। तब एक काली गोली निकलने की सम्भावना $\frac{१}{३}$ होगी और सफेद गोलियाँ निकलने की $\frac{२}{३}$ होगी। काली गोली की न निकलने की सम्भावना ($\frac{३-१}{३}$) अर्थात् $\frac{२}{३}$ होगी और सफेद गोलियों की न निकलने की सम्भावना ($\frac{३-२}{३}$) अर्थात् $\frac{१}{३}$ होगी।

(२) यदि दो घटनाएँ स्वतत्र हों और उनमें से एक की सम्भावना $\frac{१}{म}$ है और दूसरी की सम्भावना $\frac{१}{न}$ है, तब दोनों की एक साथ होने की सम्भावना $\frac{१}{म\,न}$ होगी। यदि एक मनुष्य को 'क' पाँच वार में एक वार मिलता है और 'ख' दो वार तो 'क' और 'ख' दोनों की एक साथ मिलने की सम्भावना $\frac{१}{५} \times \frac{२}{५} = \frac{२}{२५}$ होगी। इसका इस प्रकार नियम वनता है—यदि दो घटनाएँ स्वतत्र हैं अर्थात् उनका आपस में न तो सम्वन्ध है और न विच्छेद है तो उनके एक साथ होने की सम्भावना उनकी अलग अलग सम्भावनाओं को गुणा करके निश्चित की जा सकती है। यदि 'क' और 'ख' पच्चीस वार में दो से अधिक वार मिलते रहते हैं तो हो सकता है, उनमें सम्वन्ध हो, तथा यदि उससे कमवार मिलते हैं तो दोनों के बीच में विच्छेद मालूम होता है।

(३) निर्भर[1] घटनाओं के मामले में सम्भावना को निश्चित करने के लिये वही नियम है जो स्वतत्र घटनाओं के मामले में प्रयोग किया जाता है। एक सिक्के की ऊपर गिरने की सँभावना जब उसको पहली वार फेंका जाय तब $\frac{१}{२}$ है, जब दूसरी वार फेंका जाय तब $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ अर्थात् $\frac{१}{४}$ है और जब तीसरी वार फेंका जाय तब $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ अर्थात् $\frac{१}{८}$ है। यदि हम इसको

---

(1) Dependent

बीमादारों में प्रकाशित करें तो, यदि 'क' की सम्भावना $\frac{१}{म}$ है और 'ख' की सम्भावना $\frac{१}{न}$ है तो 'क' और 'ख' की सम्भावना $\frac{१}{म\,न}$ होगी। इस प्रकार की गणना से गवाही वगैरह का मूल्य नियत किया जा सकता है। गवाही खराब तब हो जाती है जब यह एक हाथ से दूसरे हाथ में चली जाती है। मान लो 'क' की गवाही का मूल्य $\frac{1}{2}$ है और वह इसको 'ख' को बतलाता है—जिसकी गवाही का मूल्य भी $\frac{1}{2}$ है और 'ख' इसको 'ग' को बतलाता है—जिसकी गवाही का मूल्य भी $\frac{1}{2}$ है तो 'ग' की गवाही का फलात्मक मूल्य $\frac{1}{2}\times\frac{1}{2}\times\frac{1}{2}$ अर्थात् $\frac{1}{8}$ होगा। इस प्रकार सबकी इकट्ठी गवाही की सम्भावना निकाली गई है जैसे कि पहले के उदाहरण में भिन्न २ घटनाओं की सम्भावनाओं का परिणाम दिखलाया गया था।

(४) यदि दो घटनाएँ एक साथ नहीं उत्पन्न होतीं तो दोनों के होने की सम्भावना प्रत्येक की सम्भावनाओं का जोड़ होगा। मान लो किसी मनुष्य के बुखार से मरने की सम्भावना $\frac{1}{5}$ है और हैजे से मरने की सम्भावना $\frac{1}{10}$ है तब या तो बुखार से मरने की सम्भावना या हैजे से मरने की सम्भावना ($\frac{1}{5}+\frac{1}{10}$) अर्थात् $\frac{3}{10}$ होगी। हम देख चुके हैं कि फैंकने पर सिक्के के ऊपर गिरने की सम्भावना $\frac{1}{2}$ है और दूसरी फैंकान में ऊपर गिरने की सम्भावना जो पहले फैंकाव पर निर्भर है, $\frac{1}{4}$ है अब हम देख सकते हैं कि इन दोनों में लगातार फैंकने पर ऊपर गिरने की सम्भावना $\frac{1}{2}+\frac{1}{4}=\frac{3}{4}$ होगी।

(५) यदि किसी व्यक्ति ने १० दिन के लिये क्रम पूर्वक चावल लिये हैं तो उसकी एक बार और लेने की सम्भावना का अनुपात १ १ १ होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे अपने लगातार सर्वथा अविरोधी अनुभव के साथ साथ किसी घटना के एक बार भी दुहराने की सम्भावना, बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार की सम्भावना की गणना से साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान का अच्छी तरह से मूल्याङ्कन हो सकता है।

(६) यदि 'क', 'ख' और 'ग' के साथ उत्पन्न होता है और 'क' और 'ख' दोनों की एक साथ होने की सम्भावना ४/५ है और 'क' और 'ख' की ४/५ है तो 'ख' और 'ग' की एक की सम्भावना जो 'क' का चिह्न है, उनकी असम्भावनाओं को मिलाकर अर्थात् (१/५ × १/५) = १/२५ होगी। और इसको १ में से घटाने पर परिणाम (१ − १/२५) = २४/२५ होगा। इसकी गणना करने का नियम यह है—यदि एक घटना, दो या अधिक स्वतन्त्र घटनाओं के साथ घटती है, तो यह सम्भावना, कि ये सब मिलकर इनका सकेत बनेंगी, सब भिन्नों का गुणा करके जो असम्भावना को बतलाती हैं, और जो प्रत्येक, इसका सकेत है उनके योग को १ में से घटा देने से, प्राप्त होती है। इस नियम के द्वारा हम कोर्ट में सम्मिलित गवाही के मूल्य का माप कर सकते हैं। मान लो कचहरी में एक गवाह की गवाही का मूल्य ३/४ है और दूसरे की गवाही का मूल्य भी ३/४ है और अन्य का भी मूल्य ३/४ है तो उनकी गवाहियों का सम्मिलित मूल्य १ − (१/४ × १/४) = (१ − १/१६) = १५/१६ होगा। यहाँ पहली गवाही की असम्भावना १/४ है और दूसरी की भी १/४ है। उनका योग हुआ १/१६। यदि १/१६ को १ में से घटा दें तो हमें १५/१६ मिलेंगे।

(९) सम्भावनात्मक तर्क और संनिकट-सामान्यीकरण

सम्भावनात्मक तर्क[1], उसे कहते हैं जिसके वाक्य, हमें निश्चित निष्कर्ष न देकर सम्भावनात्मक निष्कर्ष देते हैं। इनके अनेक स्रोत हो सकते हैं। कुछ को तो हम अभी जान चुके हैं। जैसे, साधारण-गणनाजन्य-सामान्यानुमान उपमा-जन्य-सामान्यानुमान, असमर्थित प्राक्कल्पना आदि इनसे प्राप्त निष्कर्ष, केवल सम्भवनात्मक होते हैं, निश्चित नहीं। साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम कोई कारणता का सम्बन्ध नहीं देखते, अत इससे निकाला हुआ निष्कर्ष सम्भावनात्मक ही होता है—सम्भावना भी प्रत्यक्षीकरण किये हुए उदाहरणों की संख्या तथा अनुभव के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

---

(1) Probable argument

उपमा-अन्यसामान्यानुमान में भी हम देखते हैं कि अनुमान अपूर्ण समानता या सादृश्य पर निर्भर रहता है और तर्क की सम्भावना भी सादृश्य या समानता की बातों की संख्या पर अवलंबित रहती है। इसी प्रकार एक असमर्थित किन्तु योग्य प्राक्कल्पना से प्राप्त किया हुआ निष्कर्ष भी सम्भावनात्मक होता है। यह निश्चिति को तभी प्राप्त कर सकता है जब यह सिद्ध हो जाता है। पश्चात् यह नियम कहलाता है। इसका विवेचन हम पाँचवें अध्याय में कर चुके हैं।

सम्भावनात्मक तर्क का दूसरा स्रोत सन्निकट—सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष हैं। सन्निकट-सामान्यीकरण (Approximate Generalisation) का रूप इस प्रकार है :-प्राय 'क' 'ख' होते हैं। यहाँ प्राय शब्द के पर्यायवाची शब्द बहुत प्राय करके अमुमन अकसर आदि लिये जा सकते हैं। विशेषानुमान में ये सब विवेचनात्मक शब्द 'कुछ' के बराबर हैं। किन्तु सामान्यानुमानीय वाक्य विषय की ओर ध्यान आकर्षित करता है अतः जहाँ निश्चिति प्राप्त नहीं की जा सकती वहाँ हम वाक्य की सम्भावना के रूप का विचार करते हैं। सन्निकट-सामान्यी-करण की सम्भावना की मात्रा उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट सामान्यीकरण के साथ मेल रखती है और दूसरे उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट-सामान्यीकरण के साथ मेल नहीं रखती है के मध्य अनुपात पर अवलंबित रहती है। कार्यात्मक जीवन में सन्निकट-सामान्यीकरणों का बड़ा महत्व है क्योंकि यद्यपि किसी खास मामले में हमें निश्चय न भी हो कि यह सत्य है तथापि हमारी दैनिक आवश्यकतायें चाहती हैं कि हमें किसी न किसी रूप में कार्य करना ही चाहिये। इसलिये ही यह कहा जाता है कि सम्भावना जीवन की पथप्रदर्शक होती है। इसी हेतु से कहावतों का अपना निज का मूल्य होता है। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक रूप से उनमें अर्धसत्य ही क्यों न हो और इसलिये वे असत्य भी हों। जैसे एक व्यापारी 'ईमानदारी सब से उत्तम नीति है' (Honesty is the best policy) इस विचार पर अपने व्यापार की नीति का निर्माण करता है। इसी प्रकार अन्य काम

भी ससार के चलते हैं। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में सन्निकट-सामान्यीकरण का मूल्य बहुत कम है।

सन्निकट-सामान्यीकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) वे जिनके **बारे में हम जानते हैं कि वे निश्चित रूप से सम्भावनात्मक हैं और (२) वे जो ज्ञान की वर्तमान अवस्था के अन्दर सम्भावनात्मक गिने जाते हैं किन्तु ज्ञान के पुनः विकास के साथ निश्चित भी सिद्ध किये जा सकते हैं।** हम देख चुके हैं कि साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान, वैज्ञानिक-सामान्यानुमान का आरम्भ बिन्दु बन सकता है। उसी प्रकार उपमा-जन्य सामान्यानुमान (Analogy) के द्वारा कारणता-सम्बन्ध की खोज मिल सकती है और तब हमारा वाक्यात्मक अनुमान अपवादों का निर्देश करके सत्य सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिये, यह वाक्य—'बहुत सी धातुएँ ठोस हैं' सन्निकट सामान्यीकरण है। किन्तु रासायनिकों ने यह निश्चित रूप से बतला दिया है कि केवल एक ही धातु है—पारा—जो ठोस नहीं हैं। जब यह पता लग गया तब सन्निकट सामान्यीकरण, अपवाद को प्रकट करके, सत्य सिद्ध हो सकता है। जैसे, 'सब धातुएँ, केवल पारे को छोड़ कर ठोस हैं।'

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सन्निकट-सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं। निश्चयात्मक अनुमान केवल सामान्य वाक्यों से निकाला जा सकता है, जैसे, 'सब मनुष्य मरणशील हैं' 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है'। अब एक सन्निकट-सामान्यीकरण का भी उदाहरण लीजिये, 'अधिकतर जुआरी बेईमान होते हैं'। यदि कोई खास व्यक्ति जुआरी है तो हम इससे यही अनुमान निकाल सकते हैं कि वह शायद बेईमान होगा। हमारा यह तर्क सम्भावनात्मक है क्योंकि इसका वाक्य सामान्य निष्कर्ष को सिद्ध नहीं कर सकता। सामान्य निष्कर्ष तो केवल सामान्यानुमान से ही प्राप्त हो सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

(१) सयोग का क्या अर्थ है? उदाहरण दो। इसका पृथक्-करण कैसे किया जा सकता है?

उपमा-जन्य-सामान्यानुमान में भी हम देखते हैं कि अनुमान अपूर्ण समानता या सादृश्य पर निर्भर रहता है और तर्क की सम्भावना भी साम्य या समानता की बातों की संख्या पर अवलंबित रहती है। इसी प्रकार एक असमर्थित किन्तु योग्य प्राक्कल्पना से प्राप्त किया हुआ निष्कर्ष भी सम्भावनात्मक होता है। यह निश्चिति को तभी प्राप्त कर सकता है जब यह सिद्ध हो जाता है। पश्चात् यह नियम कहलाता है। इसका विवेचन हम पांचवें अध्याय में कर चुके हैं।

सम्भावनात्मक तर्क का दूसरा स्रोत सन्निकट—सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष हैं। सन्निकट-सामान्यीकरण (Approximate Generalisation) का रूप इस प्रकार है:-प्रायः क' 'ख होते हैं। यहां प्रायः शब्द के पर्यायवाची शब्द बहुत प्रायः करके अनुमान अकसर आदि दिये जा सकते हैं। विशेषानुमान में ये सब विशेषणात्मक शब्द 'कुछ' के बराबर हैं। किन्तु सामान्यानुमानीय वाक्य विषय की ओर ध्यान आकर्षित करता है अतः यहां निश्चिति प्राप्त नहीं की जा सकती यहां हम वाक्य की सम्भावना के रूप का विचार करते हैं। सन्निकट-सामान्यी-करण की सम्भावना की मात्रा उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट सामान्यीकरण के साथ मेल रखती है और दूसरे उदाहरण की संख्या जो सन्निकट-सामान्यीकरण के साथ मेल नहीं रखती है के मध्य अनुपात पर अवलंबित रहती है। कार्यात्मक जीवन में सन्निकट-सामान्यीकरणों का बड़ा महत्व है क्योंकि यद्यपि किसी खास मामले में हमें निश्चय न भी हो कि यह सत्य है तथापि हमारी दैनिक आवश्यकताएं चाहती हैं कि हमें किसी न किसी रूप में कार्य करना ही चाहिये। इसलिये ही यह कहा जाता है कि सम्भावना जीवन की पथप्रदर्शक होती है। इसी हेतु से कहावतों का अपना निज का मूल्य होता है। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक रूप से उनमें सर्वसत्य ही क्यों न हो और इसलिये वे गलत भी हों। जैसे एक व्यापारी 'ईमानदारी सब से उत्तम नीति है' (Honesty is the best policy) इस विश्वास पर अपने व्यापार की नीति का निर्माण करता है। इसी प्रकार अन्य कार्य

(११) "एक या दो घटनाएँ जो नही हो सकती—उनके होने की सम्भावना—अलग अलग होनेवाली सम्भावनाओं का जोड है।" उक्त नियम की व्याख्या करो और इसका यथार्थ उदाहरण भी दो।

(१२) सयोग और सम्भावना में अन्तर प्रकट करो और सामान्यानुमान के क्षेत्र में सम्भावना का स्थान बतलाओ। तथा यह भी बतलाओ कि सम्भावना के द्वारा किस प्रकार निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(२) क्या संसार में संयोग भी कोई वस्तु है ? संयोगवश और कारणवश इनका अभिप्राय स्पष्ट करो ।

(३) सम्भावना और सामान्यानुमान में क्या सम्बन्ध है ? सम्भावना द्वारा किसी वस्तु का हमें किस प्रकार का ज्ञान होता है ?

(४) सम्भावनात्मक तर्क का लक्षण लिखकर उदाहरण दो । सम्भावना की गणना के नियम बतलाओ और उनके उदाहरण भी दो ।

(५) सम्भावना और सामान्यानुमान में क्या अन्तर है ? सम्भावना के दो नियमों का उल्लेख करो जिनके द्वारा निश्चित परिणाम निकाले जा सकें ।

(६) सम्भावना की गणना के लिये जितने नियम बतलाए गये हैं उन सबका उल्लेख करो । साथ साथ उदाहरण भी दो ।

(७) 'सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त कोई भी निष्कर्ष निश्चित नहीं होता' इस कथन पर प्रकाश डालो ।

(८) दो वाक्य दिये हुए हैं —

(१) अधिकतर 'ख' 'ग' हैं ।
(२) अधिकतर 'क' 'ख' हैं ।

क्या इनसे कोई निष्कर्ष निकल सकता है ? यदि निकल सकता है तो किस प्रकार का ? उसका मूल्याङ्कन करो ।

(९) निम्नलिखित की व्याख्या करो ?

(१) यह घटना सम्भावनात्मक है ।
(२) इस घटना की सम्भावना ½ है ।
(३) क और ख घटनाएं संयोग से हुई हैं ।
(४) क और ख घटनाएँ साथ-साथ हुई हैं — यह केवल संयोग है ।

(१०) 'सम्भावना अनुभव पर आधारित विश्वास है' । तो स्वतंत्र रूप से होनेवाली घटनाओं के होने की सम्भावना का किस प्रकार पता लगाओगे ? इसका यथार्थ उदाहरण दो ।

(११) "एक या दो घटनाएँ जो नही हो सकती—उनके होने की सम्भावना—अलग अलग होनेवाली सम्भावनाओं का जोड है।" उक्त नियम की व्याख्या करो और इसका यथार्थ उदाहरण भी दो।

(१२) सयोग और सम्भावना में अन्तर प्रकट करो और सामान्यानुमान के क्षेत्र में सम्भावना का स्थान वतलाओ। तथा यह भी वतलाओ कि सम्भावना के द्वारा किस प्रकार निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

अध्याय ९

(१) उपमानन्य-सामान्यानुमान

सामान्यानुमान के स्वरूप और भेदों का विचार पहले किया जा चुका है। शुद्ध-सामान्यानुमान (Inductions proper) के तीन भेद किये गये थे (१) वैज्ञानिक-सामान्यानुमान (२) अवैज्ञानिक या गणनाजन्य सामान्यानुमान और (३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान। इस अध्याय में विशेष रूप से उपमाजन्य-सामान्यानुमान का वर्णन किया जायगा। इसके साथ यह भी दिखलाया जायगा कि यह अनुमान का निर्बल रूप है।

उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ

उपमाजन्य-सामान्यानुमान (Analogy) शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। सब प्रथम, अरस्तू ने अनालोगिया (Analogia) शब्द का प्रयोग किया था जिसका अर्थ होता है अनुपातों की समानता। इसके अनुरूप शब्द अंकगणित में समानुपात (Proportion) है। इसलिये अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार उपमाजन्य-सामान्यानुमान से निम्न लिखित रूप में तर्क किया जायगा :—

१ २   २ ४

अर्थात् जो एक का दो से सम्बन्ध है वही दो का चार से सम्बन्ध है। इस प्रकार संख्याओं के समानुपात से हम अन्य समानुपातों पर जाते हैं जिनमें उसी प्रकार के पद प्रयुक्त नहीं होते। जैसे

(१) स्वास्थ्य शरीर   धर्म आत्मा

(२) कोयला इञ्जन   भोजन शरीर

जिस प्रकार स्वास्थ्य शरीर के लिये आवश्यक है उसी प्रकार धर्म आत्मा के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार कोयला इञ्जन के लिये आवश्यक है उसी प्रकार भोजन शरीर के लिये आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि

स्वास्थ्य और शरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि धर्म और आत्मा का और कोयला और इञ्जन का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि भोजन और शरीर का। इसी अंकगणित के समानुपात के सिद्धान्त को विचार में रखते हुए ह्वॉटले महोदय ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान का लक्षण यह किया है—"**उपमाजन्य सामान्यानुमान वह है जिसमें सम्बन्धों की समानता या सादृश्यता से हम अनुमान करते हैं।**" उदाहरणार्थ, जब एक देश दूसरी जगह उपनिवेश बनाता है तो उस देश को 'मातृ-भूमि' कह कर पुकारते हैं। यह कथन उपमाजन्य-सामान्यानुमान मूलक है जिसका अर्थ यह है कि एक देश के उपनिवेशों का उसके साथ वही सम्बन्ध होता है जैसा कि बच्चों का माता-पिता के साथ होता है। यदि इस सम्बन्ध की समानता से हम अनुमान करते हैं "मातृभूमि उपनिवेशों से आज्ञा-वर्तन की आशा करती है" तो यह उपमाजन्य सामान्यानुमान मूलक अनुमान कहलायगा। इस प्रकार के अनुमान को कुछ तार्किक लोग "सम्बन्ध-जन्य-शादृश्यानुमान कहते हैं।" इसका निम्नलिखित उदाहरण है —

क, ख से सम्बन्धित है, जैसे ग, घ से सम्बन्धित है।
क और ख के सम्बन्ध से, ङ उत्पन्न होता है।
∴ ग और घ के सम्बन्ध से भी ङ उत्पन्न होगा।

वास्तविक उदाहरण :—

(१) एक जहाज के कप्तान का जहाज के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि एक गवर्नर का एक स्टेट के साथ होता है।

कप्तान जहाज की गति की देखरेख रखता है।

∴ गवर्नर को भी स्टेट की गतिविधि की देखरेख रखना चाहिये।

(२) पार्लियामेण्ट का देश के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स का किसी जॉइन्ट स्टॉक कम्पनी के साथ सम्बन्ध होता है। एक जॉइन्ट स्टाक कम्पनी का चुने हुए बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स से अच्छा इन्तजाम होता है, इसलिये एक देश का, निर्वाचित पार्लियामेंट द्वारा अच्छा इन्तजाम होता है। इस प्रकार के तर्क का आधार यह नहीं है कि देश जॉइन्ट स्टॉक कम्पनी के सदृश है या पार्लियामेण्ट कोई डाइरेक्टरों का बोर्ड है किन्तु

पार्लियामेण्ट और देश में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि बोर्ड ऑफ डारेक्टर्स और ज्वॉइंट स्टाक कम्पनी में है।

उपमाजन्य-सामान्यानुमान शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र में सम्बन्धों की सादृश्यता से अधिक अर्थ में किया जाता है। जैसा कि मिल महोदय का कहना है 'सादृश्य-मूलक तर्क की प्रक्रिया के अर्थ को हमें इस प्रकार विचार करना चाहिये जिससे कि हम इसका किसी प्रकार की समानता से, यदि वे पूर्ण सामान्यानुमान के रूप को नहीं पहुँचते हैं तर्क कर सकें और हमें खास तौर से सम्बन्ध की समानता पर भी जोर न देना पड़े।" इस कथन से हम देखते हैं कि मिल के विचार बहुत कुछ बटलर (Butler) और काण्ट (Kant) से मिलते जुलते हैं। वर्तमान काल में भी तार्किक लोग इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि जिसको वर्तमान कालीन तर्कशास्त्री उपमाजन्य-सामान्यानुमान कहते हैं उसको अरस्तू ने उदाहरण से तर्क करने की विधि (Paradeigma) बतलाया था। उदाहरणार्थ अरस्तू यह बतलाता है "क्योंकि पहलवानों का चुनाव सामूहिक रूप से नहीं किया जाता; इसलिये राजनीतिज्ञों का भी चुनाव सामूहिक रूप से नहीं होना चाहिये।" अब हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ इस रूप में वर्णन करेंगे।

(२) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप

मिल महोदय ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान[1] का यह सूत्र लिखा है 'यदि दो वस्तुयें, एक या अधिक बातों में समानता रखती हैं तो यदि एक के बारे में एक वाक्य सत्य सिद्ध होता है तो वह अन्य के बारे में भी सत्य होगा।" बेन भी इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं— 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान अन्य अनुमानों के रूपों से भिन्नता रखता हुआ कल्पना करता है कि यदि दो वस्तुओं के बीच कुछ बातों में समानता है तो वे अन्य बातों में भी समानता रक्खेंगी; जो अन्य बातें समानता रखनेवाली बातों से भिन्न हैं और न उनके बीच कोई कारणता

(1) Analogy

का सम्बन्ध होता है या सहभूपना होता है"। कारवेथ रीड का लक्षण बहुत सुन्दर है। वे कहते हैं "उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण समानता के आधार पर एक प्रकार का सम्भावनात्मक सबूत है जो तुलना के विषय और हमारे तर्क के विषय में पाया जाता है" वेल्टन ने भी करीब-करीब यही कहा है कि "उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण-समानता के तत्व से पूर्ण-समानता के तत्व की स्थापना करता है"। इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान एक प्रकार का अनुमान है जिसमें अपूर्ण समानता के आधार पर विशेष से विशेष का अनुमान किया जाता है और जिसमें निष्कर्ष केवल सम्भावनात्मक होता है। इसका निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण है —

'क' के अन्दर कुछ गुण हैं जैसे 'च', 'छ', 'ज', इत्यादि, वे 'ख' के समान हैं, ख के अन्दर एक गुण 'झ' और है।

∴ 'क' में 'झ' गुण और है यद्यपि 'झ' तथा 'च', 'छ', 'ज' इत्यादि में कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसका वास्तविक उदाहरण निम्नलिखित है —

मगल (Mars) और चन्द्रमा (Moon) दोनों में कुछ बातों को लेकर समानता है। जैसे, दोनों में वैसी ही आबोहवा है, दोनों में एक समान भूमि है, दोनों में समुद्र हैं, तापमान भी दोनों में एक समान है, दोनों सूर्य के चारों तरफ भ्रमण करते हैं और सूर्य से ही प्रकाश ग्रहण करते हैं।

पृथ्वी में मनुष्य के निवास का एक और गुण है।

∴ मगल में भी मनुष्य के निवास का गुण होना चाहिये।

(२) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और सामान्यानुमान

उपमाजन्य-सामान्यानुमान में तर्क का आधार समानता या सादृश्य है। हम तर्क करते हैं कि दो वस्तुएँ कुछ बातों में समान हैं तो वे अन्य में भी समान होंगी। जैसे 'क' कुछ बातों में 'ख' के सदृश है, वह अन्य बातों में भी 'ख' के सदृश होगा। किन्तु यह कोई सादृश्यमूलक अनुमान की ही विशेषता नहीं है। हम देखेंगे कि सामान्यानुमान और विशेषा-

गुमान दोनों में हम समानता के आधार पर तर्क करते हैं। सामान्यानुमान में उदाहरणार्थ —

क, ख, ग घ मनुष्य हैं जिनकी परीक्षा की गई है, मरणशील हैं सब मनुष्य (चाहे उनकी परीक्षा की गई हो या नहीं) भी उनके मनुष्य होने में समान हैं (जैसे क ख ग घ) वे मरणशील होने में भी समानता रखेंगे।

सामान्यानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में केवल यही अन्तर है कि सामान्यानुमान में कारणता-सम्बन्ध रहता है किन्तु उपमाजन्य सामान्यानुमान में कारणता सम्बन्ध का सर्वथा अभाव रहता है। जब हम समानता के आधार पर यह अनुमान करते हैं कि मंगल में भी मनुष्यों का वास होगा जैसा कि पृथ्वी पर है तब हमें यह बिलकुल पता नहीं होता कि उन दोनों में कोई कारणता का सम्बन्ध है या नहीं। यदि ऐसे सम्बन्ध का पता होता तो हमारा तर्क सादृश्यानुमान या उपमाजन्य-सामान्यानुमान नहीं कहलाता अपितु उसका स्थान वैज्ञानिक सामान्यानुमान का होता। इसी प्रकार विशेषानुमान में भी हमारा तर्क समानता पर अवलम्बित रहता है। जैसे,

'सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुन्दकुन्द एक मनुष्य है।
कुन्दकुन्द मरणशील है।

इसका अर्थ है कुन्दकुन्द दूसरे मनुष्यों के साथ कुछ बातों में समानता रखता है अतः वह मरणशीलता में भी अन्य के साथ समानता रखेगा। विशेषानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यदि भेद है तो केवल यही कि प्रत्येक सिलाजिस्म का एक वाक्य हमें सामान्य रखना पड़ता है और इस प्रकार का वाक्य उपमाजन्य-सामान्यानुमान में दिखाई नहीं देता। यदि इस प्रकार का कोई सामान्य नियम कि "सब ग्रहों में मनुष्य रहते हैं" होता तो हम बड़ी सरलता से यह निष्कर्ष कि 'मंगल में भी मनुष्य हैं' निकाल लेते। इससे यह स्पष्ट है कि सब प्रकार का तर्क चाहे वह सामान्यानुमान हो या विशेषानुमान या उपमाजन्य-सामा

न्यानुमान—इन सब का आधार समानता (Resemblance) है। केवल उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह समानता अपूर्ण है। अन्य में तो वह पूर्ण है।

(४) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और वैज्ञानिक सामान्यानुमान

हम पहले युक्त सामान्यानुमान के ३ भेद कर आये हैं (१) वैज्ञानिक सामान्यानुमान (२) साधारण-गणनाजन्य-सामान्यानुमान और (३) उपमाजन्य सामान्यानुमान। सामान्यानुमान का सार सामान्यानुमानीय कुदान में है अर्थात् जब हम ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह गुण उपमाजन्य सामान्यानुमान में भी विद्यमान है, अत इसको युक्त सामान्यानुमान का उपभेद मानना चाहिये। उपमाजन्य-सामान्यानुमान यद्यपि सामान्यानुमान का निर्बल रूप है क्योंकि इसका आधार अपूर्ण समानता या सादृश्य है। अब हम दोनों में भेद बतलाकर इसका अध्ययन करेंगे।

(१) वैज्ञानिक सामान्यानुमानों में हम विशेष से सामान्य की ओर उद्गमन करते हैं तथा उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हम विशेष से विशेष की ओर ही गमन करते हैं।

वैज्ञानिक सामान्यानुमानों में हम विशेष उदाहरणों को देखकर सामान्य वाक्य की स्थापना करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में एक उदाहरण विशेष को देखकर हम दूसरे उदाहरण विशेष का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिसको हमने आज तक देखा नही है। जब अनेक मृत्यु के उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण करके हम सामान्य वाक्य "सब मनुष्य मरण शील हैं" बनाते हैं तब हमें वैज्ञानिक सामान्यानुमान का स्वरूप मिलता है। किन्तु जब हम एक ग्रह के मुख्य लक्षणों को देखकर, जैसे, 'पृथ्वी', किसी अन्य ग्रह के विषय में अनुमान करते हैं, जैसे 'मगल', तब हमें उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप मिलता है।

मिल महोदय ने जो यह बतलाया है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान विशेष से विशेष के लिये होता है—इसको शब्दश सत्य नही मानना

चाहिये। यदि हम एक विशेष से अन्य विशेष के बारे में अनुमान करें जिसकी पहले विशेष के साथ समानता है, तब हम ऐसा कर सकते हैं क्योंकि हमने अपने मन में गुप्तरूप से, एक सामान्य, जो साधारण गुणों का द्योतक है बना लेते हैं और अचेतन भाव से दोनों उदाहरणों को सामान्य के अधिकार में ले आते हैं। अतः सामान्यानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह अन्तर है कि सामान्यानुमान में तो हम जान करके सामान्य वाक्य के रूप में सामान्य को प्रकट करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में ऐसा नहीं करते, यद्यपि दोनों मामलों में हम विशेषों के अन्दर रहे हुए सामान्य तत्त्व पर अवलम्बित रहते हैं जो हमारे तर्क का आधार होता है। इसलिये अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान—जब तक यह उपमाजन्य-सामान्यानुमान है—विशेष उदाहरण में ही सम्बद्ध रहेगा और उसमें कोई सम्बन्ध द्योतक नियम नहीं प्रतीत होगा।

(२) वैज्ञानिक सामान्यानुमान कारणता-सम्बन्ध पर निर्भर है किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में हम प्रयोगिक विधियों को प्रयोग में लाकर कारणता का सम्बन्ध स्थापित करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमानीय तर्क में इस प्रकार के कारणता-सम्बन्ध की स्थापना की आवश्यकता नहीं होती और न ऐसा प्रतीत ही होता है कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध इसमें है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हम उदाहरणों की तुलना करके या वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके दो पदार्थों या घटनाओं में सम्बन्धजनक किसी नियम की स्थापना नहीं करते। हम केवल किसी पदार्थ की व्याख्या के लिए उसकी अवस्थाओं में और उस पदार्थ की अवस्थाओं में जिसको हम जानते हैं समानता देखते हैं और एक को आधार मान कर दूसरे के विषय में निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(३) सादृश्यानुमान से हमें केवल सम्भावनात्मक निष्कर्ष मिलते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक सामान्यानुमान में निश्चित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। यह सत्य है कि सम्भावना का सिद्धान्त मात्राओं से सम्बन्ध रखता है और इसलिये उपमाजन्य-सामान्यानुमान में सम्भावना की भिन्न भिन्न मात्रायें

शून्य से लेकर करीब करीब निश्चय तक हो सकती है। किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो हमें उसके द्वारा निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नही हो सकता। निश्चित निष्कर्ष हमें वैज्ञानिक सामान्यानुमान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में कारणता का सम्बन्ध पाया जाता है और निष्कर्ष आवश्यक रूप से निकलता है। किन्तु इसके विपरीत उपमाजन्य-सामान्यानुमान में समानता, अल्प रूप में या अधिक रूप में, अपूर्ण रहती है और इस प्रकार निष्कर्ष के विषय में कुछ न कुछ संशय अवश्य बना रहता है। इसी हेतु से हम कहते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान में निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं और सामान्यनुमान में निश्चयात्मक निष्कर्ष होते हैं।

(४) इनके अतिरिक्त उपमाजन्य-सामान्यानुमान को वैज्ञानिक सामान्यानुमान की आधार शिला कहा जाता है। यह कहा जा चुका है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान में कारणता-सम्बन्ध नही पाया जाता किन्तु यह कहना सर्वथा सत्य नहीं है। उपमाजन्य सामान्यानुमान में यद्यपि स्पष्ट रूप से कारणता-सम्बन्ध दिखाई नही देता किन्तु हमारे दिल में एक अस्पष्ट भान सा रहता है कि भविष्य में कोई न कोई कारणता-सम्बन्ध इसमें निकल आवेगा और वह वैज्ञानिक सामान्यानुमान के स्थान को ग्रहण कर लेगा। तब तक इस उद्देश्य की प्राप्ति नही होती तब तक उपमाजन्य-सामान्यानुमान को वैज्ञानिक सामान्यानुमान के राजपथ पर एक स्थान विशेष ही कहा जायगा। अथवा मिल महोदय के शब्दों में इसको एक मार्ग सूचक तखता गिना जायगा जिसके द्वारा हमें वैज्ञानिक अनुसंधान करने की प्रेरणा मिलती है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान प्राक्कल्पनाओं का भी स्रोत है जिनको यदि सिद्ध कर लिया जाय तो वे वैज्ञानिक सामान्यानुमान के पद को प्राप्त हो सकती हैं।

(५) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान

साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम इस प्रकार तर्क करते हैं

मान लो, कई कौओं को हम काले देखते हैं और उनमें एक काकेपन का गुण पाया जाता है—इस पर से हम सामान्य वाक्य बना डालते हैं कि "सब कौए काले होते हैं"। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में दो वस्तुओं को देखकर हम यह ज्ञान करते हैं कि दोनों में बहुतसी बातों की समानता है किन्तु एक वस्तु में एक बात अधिक है तो हम अनुमान करते हैं कि यह अधिक बात अन्य में भी अवश्य पायी जायगी। साधारणगणना-जन्य-सामान्यानुमान पद अर्थ से सम्बन्ध रखता है। इसमें कौआ पद का अर्थ हमारे ज्ञान में अधिक आता है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट किया गया है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान इसके विपरीत पद के भावार्थ से सम्बन्ध रखता है और वास्तविक उदाहरण में हमारा भावार्थ-विषयक ज्ञान मनस ग्रह के बारे में बढ़ जाता है। क्योंकि अर्थार्थ और भावार्थ दोनों आपस में सम्बन्धित हैं इसलिये ये दोनों अनुमान के रूप एक दूसरे में मिल जाते हैं। यदि दोनों में अन्तर है तो केवल इतना ही कि साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम विशेष से सामान्य का अनुमान करते हैं और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह नहीं होता कि हम कोई सामान्य वाक्य का निर्माण कर रहे हैं।

(६) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की शक्ति

यह बतलाया जा चुका है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण समानता पर निर्भर रहता है और इसलिये ही इसके द्वारा प्राप्त किये हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक गिने जाते हैं। सम्भावना का प्रश्न भी मात्राओं से सम्बन्ध रखता है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में तर्क की मात्रा शून्य से लेकर करीब-करीब निश्चय तक होती है। अब हम यहाँ उपमाजन्य-सामान्यानुमान की विशेषताएँ बतलायेंगे जिनपर इसकी शक्ति निर्भर रहती है।

मिल महोदय का कहना है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य निश्चित समानता के विस्तार पर निर्भर रहता है। इसमें हम भिन्नता की बातों को देखकर यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसी अन्य कौन सी बातें हैं जिनमें समानता सिद्ध हो सकती है। केवल का भी करीब-करीब ऐसा ही

कहना है "वे लिखते हैं उपमाजन्य-सामान्यानुमान में सम्भावना का माप, अज्ञात बातों को ज्ञातों के साथ तुलना करते हुये, भेदकता की बातों की सख्या और महत्ता के साथ-साथ समानता की बातों की सख्या और महत्ता से किया जाता है"। अत यह मानना पड़ेगा कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का सारा वल, भेदक और अज्ञात बातों की सख्या और महत्ता के साथ साथ समानता की बातों की सख्या और महत्ता पर, निर्भर रहता है। इसके लिये निम्नलिखित ३ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है —

(१) ज्ञात बातों की जितनी अविक सख्या और महत्ता होगी उतना ही अधिक उपमाजन्य मामान्यानुमान का मूल्य होगा। जैसे, मनुष्य और पशुओं में समानता की वातें सख्या में और महत्ता में मनुष्य और पौधों की अपेक्षा अधिक हैं। अत यह उपमाजन्य-सामान्यानुमान, "जैसे मनुष्य सुख और दु ख का अनुभव करते हैं वैसे ही पशु करते हैं", अविक सम्भावना पूर्ण है अपेक्षा कृत इसके कि "जैसे मनुष्य सुख दुख का अनुभव करते हैं वैसे ही पौदे अनुभव करते हैं"।

(२) ज्ञात वातों की जितनी अधिक भिन्नता और महत्ता होगी उतना ही कम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य होगा। जैसे, पृथ्वी और चन्द्र में ज्ञात वातों की भिन्नता की सख्या और महत्ता पृथ्वी और मगल की अपेक्षा अविक है। हम जानते हैं कि चन्द्र में वातावरण नही है और वायु जीवन का मुख्य तत्व हैं। अत चन्द्र में वातावरण का अभाव होना एक खास भिन्नता की वात है। इसकी अपेक्षा पृथ्वी और मगल में ज्ञात भिन्नता की वातों की सख्या और महत्ता कम है। अत यह तर्क कि 'चन्द्र में भी पृथ्वी की भाँति मनुष्यों का आवास है', 'मगल में पृथ्वी की तरह मनुष्यों का आवास है' की अपेक्षा वहुत कम सम्भावना-पूर्ण है।

(३) जितनी अधिक अज्ञात वातों की सख्या, ज्ञात वातों के साथ तुलना करने पर होगी, उतना ही उपमाजन्य सामान्यानुमान का मूल्य कम होगा। अमुक प्रकार की वातों की समानता अत्यधिक है और भिन्नता अत्यन्त अल्प है और हमारा ज्ञान दोनों के विषय में विशाल है, तो ऐसी अवस्था में उपमाजन्य-सामान्यानुमान-सामान्यानुमान की वरावरी कर सकता

है किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह उतनी निश्चयात्मकता को नहीं पहुँच सकता जितना सामान्यानुमान पहुँचता है।

ध्यान से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य केवल समानता की बातों की संख्या पर ही निर्भर नहीं है किन्तु उनकी महत्ता पर भी है। अन्य बातों के समान होने पर भी जितनी समानता की बातें अधिक होंगी, उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। लेकिन इसके कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि निष्कर्ष का मूल्य, समानता की ज्ञात बातों की संख्या के अनुपात के अनुसार होगा। उदाहरणार्थ हम यह तर्क कर सकते हैं "दो मनुष्यों का कद समान है, उनकी उम्र भी एक समान है, उनके नामों के प्रथमाक्षर भी वही हैं दोनों एक ही मकान में रहते हैं एक ही गाँव के रहने वाले हैं। उनमें से एक बहुत अधिक बुद्धिमान है अतः दूसरा भी उतना ही बुद्धिमान होना चाहिये"। इस उदाहरण में उपमाजन्य-सामान्यानुमान निरर्थक है क्योंकि इसमें जितनी समानता की बातें बतलाई गई हैं वे कोई महत्व की बात नहीं हैं। इसलिये वेल्टन (Velton) साहब का इस विषय में उल्लेख विचारणीय है 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क की शक्ति सारूप्यता के स्वभाव पर निर्भर रहती है न कि समानता के परिमाण पर"। बोसानक्वेट (Bosanquet) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि हमें समानता की बातों का सम्यक् सतुलन करना चाहिये इसकी अपेक्षा कि हम केवल उन्हें गिन कर छोड़ दें"।

कुछ तर्क शास्त्रियों ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप गणित शास्त्रीय-विधि द्वारा निम्नलिखित भिन्न के रूप में प्रगट किया है —

$$\frac{\text{समानता}}{\text{विभिन्नता} + \text{अज्ञात बातें}}$$

इस गणित शास्त्रीय व्याख्या का अभिप्राय यह है कि अंश[1] उन बातों का बतलाता है जो तर्क की शक्ति का निर्माण करते हैं तथा हर[2] उन

(1) Numerator (2) Denominator

ागों का बनाया गया है जो तर्क की शक्ति को कमजोर बनाते हैं जिससे के यह भिन्न उपमाजन्य-सामान्यानुमान के एक तर्क के मूल्य का समुचित वेवरण दे सके। हमें यह विचार नही करना चाहिये कि गणित शास्त्रीय अनुपात से हम किसी उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क का मूल्याङ्कन ठीक ठीक कर सकते हैं। उपर्युक्त भिन्न, साधारण रूप से यह बतलाती है कि समानता की बातों की सख्या और महत्ता एक, अच्छी अनुकूल बातों को बतलाती है और अन्य दो, प्रतिकूल बातों को प्रकट करती हैं। इन दोनों अनुकूल और प्रतिकूल बातों से ही हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान के स्वरूप का निर्णय कर सकते हैं।

उपर्युक्त प्रदर्शन से हम यह भी विचार कर सकते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क का मूल्याङ्कन करना एक प्रकार की यान्त्रिक प्रक्रिया है जैसी कि हम गणित शास्त्र में देखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रक्रिया इतनी सरल नही है जैसा कि हमने समझ रक्खा है। इस विषय में हमारे सामने दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। प्रथम, इसमें दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों से काम लिया गया है अर्थात् बातों की सख्या और उनकी महत्ता। इसके अतिरिक्त समानता की बातों की सख्या की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नही है जब कि उनकी महत्ता अत्यल्प हो, अत यह निर्णय करना कठिन है कि दिये हुये उदाहरण में हम सख्या को या महत्ता को विशेष स्थान दें और किसको अपना मार्गदर्शक बनावें। द्वितीय अज्ञात बातों के विषय में चर्चा करना निरर्थक है। यदि वे अज्ञात हैं तो हम कैसे जान सकते हैं कि उनकी सख्या क्या है? अज्ञात को हम कदापि तुलना का मापदड नही बना सकते।

(७) सम्यक् उपमाजन्य-सामान्यानुमान और मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सादृश्यानुमान की शक्ति समानता की बातों की सख्या और महत्ता पर तथा विभिन्नता की बातों की सख्या और महत्ता पर तथा अज्ञात बातों की सख्या पर निर्भर है। अत सम्यक्[1]

(1) Good analogy

उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ है कि यह वह तर्क है जिसमें दो वस्तुओं के अन्दर खास समानता की विद्यमानता को देखकर निष्कर्ष निकाला जाता है। मिथ्या[1] उपमाजन्य सामान्यानुमान वह है जिसमें केवल बाहरी समानता की बातों को देखकर निष्कर्ष निकाला जाता है। फाउलर (Fowler) महोदय के शब्दों में यह कहा जा सकता है ''मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान पद उन उपमाजन्य-सामान्यानुमानों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनमें उपमाजन्य-सामान्यानुमान के लिये कोई आधार न हो। निम्नलिखित उदाहरण मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के स्वरूप को अच्छी तरह व्यक्त करते हैं :—

(१) पशु मनुष्य के समान पैदा होते हैं खाते पीते हैं, बढ़ते हैं मर जाते हैं। मनुष्य भाषा का व्यवहार करते हैं इस लिये पशु भी भाषा का व्यवहार करते हैं। यह मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान है। इसमें समानता की बातों में और अनुमानित गुण में हम कोई खास सम्बन्ध नहीं पाते।

(२) पौधे पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य भी पैदा होते हैं बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यों में बुद्धि होती है; अतः पौधों में भी बुद्धि होती है। यह मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान है क्योंकि यहाँ भी समानता की बातों में और अनुमानित गुण में कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

(३) कभी-कभी मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के बड़े आश्चर्य जनक उदाहरण देखने में आते हैं। जैसे रेडियो एक मनुष्य है क्योंकि वे मनुष्यों की तरह बोलते रोते गाते, और हँसते देखे जाते हैं। या ग्रामोफोन मनुष्य हैं क्योंकि वे मनुष्यों की तरह बोलते चालते और गाते पाए जाते हैं। दो विद्यार्थी एक ही कॉलेज में पढ़ते हैं दोनों की एक ही उम्र है, एक सी पोशाक पहनते हैं एक सी ही भाषा बोलते हैं, इस लिये दोनों एक समान बुद्धिवाले हैं, इत्यादि अनेक उदाहरण मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान के दिये जा सकते हैं।

(1) Bad analogy

अभ्यास प्रश्न

(१) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का क्या अर्थ है ? उपमाजन्य-सामान्यानुमानीय तर्क का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। तथा यह भी बतलाओ कि इस प्रकार के तर्क का मूल्य किस बात पर निर्भर रहता है।

(२) उपमाजन्य सामान्यानुमान और वैज्ञानिक-सामान्यानुमान में क्या सम्बन्ध है ? दोनों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान किस बात पर निर्भर रहता है ? सम्यक् और मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमानों के लक्षण लिखकर अलग-अलग उदाहरण दो।

(४) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का लक्षण, मूल्य, और उपयोगिता लिखकर यथार्थ और बीजात्मक उदाहरण दो।

(५) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की शक्ति का माप किस प्रकार किया जाता है ? उदाहरण देकर समझाओ।

(६) 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हमें समानता की बातों को तोलना चाहिये' इस कथन से क्या अभिप्राय है ? स्पष्टार्थ लिखो।

(७) सामान्यानुमान के प्रकरण में उपमाजन्य-सामान्यानुमान का क्या स्थान है ? इस पर अपने विचार प्रकट करो।

(८) 'सब अनुमानों का मूल समानता है' इस पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करो।

(९) उपमाजन्य-सामान्यानुमान को किस अर्थ में अपूर्ण गिना गया है ? अपने विचार प्रकट करो।

(१०) 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य समानता के प्रकार तथा मात्रा पर अवलम्बित रहता है' इस कथन का स्पष्ट विवेचन करो।

(११) "उपमाजन्य-सामान्यानुमान से प्राप्त निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं" यह कथन कहाँ तक ठीक है ? स्पष्ट उत्तर दो।

(१२) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की साधारण गणनाजन्य सामान्यानुमान के साथ तुलना करो।

अध्याय १०

(१) नियम के भिन्न-भिन्न अर्थ

नियम (Law) शब्द कई अर्थों में प्रयोग किया गया है। मूल में इसका प्रयोग किसी विशिष्ट सत्ता की आज्ञा के अर्थ में किया गया था जिसका पालन करना आवश्यक होता था परचात् इसका प्रयोग एकरूप वाले सम्बंधों में किया जाने लगा जो प्राकृतिक पदार्थों में पाये जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त इसका प्रयोग एक प्रकार के मापदण्ड के अर्थ में भी किया गया है जिसके अनुसार हमें वर्तना चाहिये यदि हम किसी उद्देश्य की प्राप्ति करना चाहते हैं।

प्रथम नियम का अर्थ है आज्ञा या फरमान जो किसी महान के मुख से निकलती है और एक समाज पर लादी जाती है जो उसके आधीन होती है। इसके अन्दर इच्छा का भाव लिया गया है जिसको प्रजा या समाज अच्छी तरह जानकर प्रतिपालन करती है और इस प्रकार की इच्छा का भाव समाज या प्रजा के व्यवहार में सुगमता और एकरूपता को पैदा करता है। इस अर्थ में हम जितने राज्य के नियम (Laws of the State) हैं उन सब को सम्मिलित करते हैं। यह नियम का मौलिक अर्थ है।

द्वितीय नियम का अर्थ 'एकरूपता' भी है। इस अर्थ में हम प्रकृति के नियमों को लेते हैं। प्रकृति के नियम से हमारा अभिप्राय उन एकरूप सम्बंधों से होता है जो प्राकृतिक पदार्थों में पाए जाते हैं। प्राकृतिक नियम से यह कदापि ध्वनित नहीं होता कि विश्व में कोई सर्वोपरि सत्ता है जिसकी आज्ञा का परिपालन आवश्यक है। इसका केवल यही अर्थ है कि विश्व में कुछ नियम हैं जो अपने आप कार्य करते हैं। जिनकी न आदि है और न अन्त।

यथार्थ में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि प्राकृतिक नियमों को हम

नियम, केवल सादृश्यानुमान की दृष्टि से पुकारते हैं। हमें प्रतीत होता है कि प्राकृतिक पदार्थों में जो क्रम दृष्टिगोचर होता है वह एक नियम-वद्धता का सूचक है और उसकी समानता मनुष्य के व्यवहार के साथ पाई जाती है जो राज्य के नियमों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। एक-रूपता का भाव आज्ञा से अलग करके नियम के अर्थ, एकरूपता में सवद्ध कर दिया गया है। सम्भव है यह अर्थ, मूल में विश्व की नियन्त्रण करने वाली शक्ति को देखकर किया गया हो, किन्तु इस प्रकार का अभिप्राय अब नहीं लिया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में नियम का अर्थ है केवल एकरूपता। यह वैज्ञानिक अभिप्राय लेपलेस (Laplace) के शब्दों मे अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है जब कि उसने सम्राट नेपो-लियन के प्रश्न के उत्तर के रूप में अपना विचार प्रकट किया था। एक दिन सम्राट नेपोलियन ने लेपलेस से कहा, "महाशय, लोग कहते हैं आपने एक सुन्दर पुस्तक 'मेकेनिक सेलेस्टे' (Ma'canique Ce'leste) लिखी है जो विश्व के सगठन की चर्चा करती है किन्तु उसमें आपने जगत्कर्ता का नाम कहीं नहीं लिया है"। ज्योतिषी लेपलेस ने सावधान होकर उत्तर दिया "महाराज, मुझे इस प्रकार की कल्पना कभी आवश्यक ही नहीं पड़ी"। विज्ञान केवल पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। पदार्थों की व्याख्या करना ही इसका उद्देश्य है। यह दर्शनशास्त्र या धर्म-शास्त्र का काम है कि वे ईश्वर या जगत्कर्ता की खोज करें। अतः नियम का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में केवल एकरूपता के लिए ही किया गया है, और इसका यही अर्थ उपयुक्त है।

इस प्रकार हम राज्य के नियम और प्रकृति के नियम के मध्य जो अन्तर है उसे भली भाँति समझ सकते हैं। राज्य के नियम परिवर्तनीय हैं और उन्हें उल्लघित भी किया जा सकता है किन्तु प्रकृति के नियमों को न तो कोई परिवर्तित कर सकता है और न कोई उनका उल्लघन कर सकता है। राज्य के नियम परिवर्तनीय इसलिये हैं क्योंकि वे भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और एक ही देश में भी देश, काल, क्षेत्र की अपेक्षा बदलते रहते हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों को नहीं बदला जा-

सकता। यह हो सकता है कि हमारा ज्ञान एक खास नियम के विषय में अपूर्ण हो और जिसको हम एक समय, प्रकृति का नियम समझते हों और वह पश्चात् प्रकृति का नियम न रहे। प्राकृतिक नियम कभी परिवर्तनशील नहीं होते। राज्य के नियमों का उल्लंघन किया जा सकता है किन्तु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। हम आकर्षण के नियम का कभी उल्लंघन नहीं कर सकते, किन्तु किसी देश के राज्य के नियम का हम सरलता से उल्लंघन कर सकते हैं जैसे अपराध-सम्बन्धी, या उत्तराधिकार-सम्बन्धी या सम्पत्ति-सम्बन्धी नियमों की अवहेलना की जा सकती है।

तृतीय, नियम शब्द का प्रयोग 'मापदंड' के अर्थ में भी किया जाता है। हमें किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कुछ मापदण्डों के अनु-सरण करना पड़ता है। इस अर्थ में हम तर्कशास्त्र के नियम, सौन्दर्य-शास्त्र के नियम, और आचरण-शास्त्र के नियमों को लेते हैं। तर्कशास्त्र में सत्य का आदर्श होता है, सौन्दर्य शास्त्र में सौन्दर्य का आदर्श होता है, और आचरण शास्त्र में कल्याण का आदर्श होता है। यदि हम इन आदर्शों को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें कुछ नियमों का अनुसरण करना होगा। अतः नियम का अर्थ मापदण्ड भी है।

प्राकृतिक नियमों और नियामक शास्त्रों के नियमों में निम्नलिखित भेद हैं। नियम एकरूपता के अर्थ में वस्तु-स्थिति-वाचक होता है। यह वस्तुओं की जैसी स्थिति होती है उनको उसी प्रकार वर्णन करता है। तथा इसके अतिरिक्त उस नियम को आदर्शात्मक (Normative) कहा जाता है जो किसी लक्ष्य की ओर संकेत करता है अर्थात् यह वस्तुओं को उस प्रकार प्रतिपादन करता है जैसा उनको होना चाहिये। प्रकृति के नियम वस्तुस्थिति प्रति-पादक होते हैं क्योंकि वे यह बतलाते हैं कि पदार्थ किस प्रकार वर्तते हैं। जैसे, आकर्षण का सिद्धान्त बतलाता है कि भौतिक पदार्थ एक दूसरे को खींचते हैं। किन्तु एक सौन्दर्य शास्त्र का नियम यह बतलाता है कि सुन्दर पदार्थों को यदि वे सुन्दर हैं तो एक सौन्दर्य के मापदण्ड के अनुसार किस प्रकार का होना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता किन्तु सौन्दर्य

शास्त्र या तर्कशास्त्र के नियमों का उल्लघन हो सकता है। इस विषय पर मेकेन्जी महोदय (Mackenzie) ने अच्छा प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं 'नियम के ठीक अर्थ न समझने के कारण बहुत गड़बड़ी हो गई है। इसके प्राय: दो अर्थ प्रधानरूप से लिये जाते है। हम देश या राष्ट्र के नियमों की भी चर्चा करते हैं और प्रकृति के नियमों का भी उल्लेख करते हैं, किन्तु हमें यह अवश्य जानना चाहिये कि दोनों प्रकार के नियम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। किसी देश के नियम या राष्ट्र के नियमों का निर्माण या तो वहाँ की जनता द्वारा होता है या वहाँ के शासक उन्हें बनाते हैं। मीडीज़ (Medes) और पर्शियन्स के बारे में तो यह सर्वथा सम्भव है कि वे उनको बदल भी दें। तथा यह भी सम्भव है कि उन देशों के निवासी उनको न भी मानें। आमतौर से जहाँ तक अन्य देशों का सम्बन्ध है उनके नियम अन्य देशवासियों पर बिलकुल लागू नहीं होते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक नियम स्थिर, अनुल्लघनीय तथा सर्वव्यापी होते हैं' १

हम सब प्रकार के नियमों क ऊपर तीन अपेक्षाओं से विचार कर सकते हैं। कुछ नियम स्थिर होते हैं और दूसरे परिवर्तनीय होते हैं। कुछ अनुल्लघनीय होते है, और दूसरे उल्लघनीय होते हें। कुछ विश्वव्यापी होते हैं और कुछ सीमित क्षेत्र में लागू होते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकार के वर्गीकरणों में से अन्तिम को हम कठिनता से अलग कर सकते हैं क्योंकि जो विश्वव्यापी होता है वह प्राय. करके स्थिर और आवश्यक भी होता है और जो स्थिर और आवश्यक होता है वह विश्वव्यापी भी होता है। अत. भिन्न भिन्न प्रकार के नियमों को अलग-अलग करना आवश्यक है। इसके दो सिद्धान्त हैं (१) परिवर्तनीय या अपरिवर्तनीय (२) उल्लघ-नीय या अनुल्लघनीय। इन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर हमें ४ प्रकार के भिन्न-भिन्न नियम मिलते हैं (१) वे नियम जो बदल सकते हैं और जिनका उल्लघन भी किया जा सकता है (२) वे नियम जो बदले जा सकते हैं किन्तु जिनका उल्लघन नहीं किया जा सकता (३) वे नियम जिनका उल्लघन किया जा सकता है किन्तु जो बदले नहीं जा सकते। (४) वे नियम जिनको न बदला ही जा सकता है और न जिनका उल्ल-

पन्न ही हो सकता है। प्रथम और अन्तिम प्रकार के नियमों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। द्वितीय प्रकार के नियमों के निम्नलिखित उदाहरण हैं —

सौर जगत् के नियम, रात और दिन के नियम, बीज बोने और काटने के नियम, ऋतुओं के परिवर्तन के नियम ऐसे हैं जिनको कोई नहीं बदल सकता जब तक कि उस प्रकार की अवस्थायें विद्यमान रहती हैं, यदि वे अवस्थायें बदल जाती हैं—मानलो सूर्य ठंडा हो जाय, या पृथ्वी की गति में परिवर्तन हो जाय, या इसकी टक्कर किसी अन्य ग्रह से हो जाय या उल्का-पात हो जाय तो नियम भी बदल जायेंगे। राजनैतिक अर्थशास्त्र के बहुत कुछ नियम इसी प्रकार के हैं। वे एक प्रकार के विशेष सामाजिक वातावरण में तथा उन मनुष्यों में जिनके कुछ विशेष स्वभाव होते हैं काम करते हैं और इस अर्थ में इन्हें अपरिवर्तनीय कहा जाता है। किन्तु यदि वातावरण को बदल दिया जाय या मनुष्यों के स्वभाव बदल जाँय तो हम देखेंगे कि बहुत अर्थों में नियम स्थिर नहीं रहेंगे। इस प्रकार के नियमों को सापेक्ष नियम (Conditional rules) भी कहा जाता है। इनकी सत्यता तभी तक मानी जाती है जब तक उस प्रकार का वातावरण रहता है और वह नहीं बदलता। कुछ तार्किकों का यह भी विचार है कि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम भी लगभग इसी प्रकार के हैं—हम ऐसी दुनियों की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें दो और दो पाँच माने जाते हों और यदि पृथ्वी के वर्तमाव को आधार मानकर एक त्रिभुज बनाया जाय और किसी तारे को उसका शीर्ष-बिन्दु मान लिया जाय तो हम देखेंगे कि इस प्रकार के त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर नहीं होंगे। किन्तु इस प्रकार का चिन्तन महत्व प्रतीत होता है क्योंकि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम यथार्थ में उपर्युक्त चार वर्गों में से अन्तिम वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं।

जहाँ तक नैतिक शास्त्र (Ethics) सम्बन्धी नियमों का विचार है वे स्पष्टतः ही तृतीय वर्ग के नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। उनको कोई परिवर्तित नहीं कर सकता किन्तु उनका उल्लङ्घन अवश्य किया जा सकता है। कुछ हद तक यह बात मानी जा सकती है कि व्याकरण-शास्त्र

सम्बन्धी कुछ नियम मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण बदल सकते हैं, किन्तु जहाँ तक विशाल सिद्धान्तों का विचार है वे कदापि नहीं बदलते। उनका प्रयोग सब मनुष्यों के लिये साधारण होता है और सब बुद्धिमान उन्हें सार्वभौम ही समझते हैं। मानलो किसी अन्य संसार से कोई मनुष्य हमारे संसार में आ जाय तो यह सम्भव है कि हम उसके स्वभाव या शारीरिक संगठन का ज्ञान प्राप्त कर सकें, किन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि उनके लिये भी 'अहिंसा परम धर्म होगा' वह 'झूठ बोलना पसंद न करेगा'। वह यह अवश्य समझेगा कि 'जीवन प्रक्रिया एक दूसरे पर निर्भर है', संसार में जो कुछ होता है उसका कोई न कोई कारण अवश्य है,' इत्यादि। इसी हेतु से नैतिक या आचरण-शास्त्र-सम्बन्धी नियम अपरिवर्तनीय समझे जाते हैं किन्तु वे तोड़े जा सकते हैं।

नियमों का वर्गीकरण

सामान्यता की मात्रा के विचार से नियमों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जाता है —(१) स्वयं-सिद्ध[1] (२) प्राथमिक[2] या अन्तिम नियम और (३) सहायक या अमुख्य नियम[3]।

(१) स्वयं सिद्ध

स्वयं सिद्ध नियम वे कहलाते हैं जो यथार्थ हों, सार्वभौम हों, तथा अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्य नियम की अपेक्षा न रखते हों। इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि स्वयं सिद्ध —

(१) यथार्थ (Real) वाक्य हैं, शाब्दिक या लक्षण-रूप नहीं।

(२) सामान्य (Universal) वाक्य हैं। इनका उपयोग सार्वभौम होता है। प्रत्येक स्वयंसिद्ध अपने अपने क्षेत्र में सत्य होता है। क्योंकि ये सर्व साधारण और चरम सामान्यता को लिये हुए होते हैं, इसलिये इनसे अधिक सामान्यधर्म वाले नियम नहीं होते। कुछ स्वयं-सिद्ध अन्य

---

(1) Axioms (2) Primary or ultimate laws (3) Secondary laws

स्वयं सिद्धों से अधिक सामान्यधर्म वाले होते हैं जैसे—विचारों के नियम (तादात्म्य, आत्यन्तिक विरोध मध्यमप्रयोग-परिहार) गणित शास्त्र-सम्बन्धी नियमों से अधिक सामान्यधर्म को धारण करते हैं; क्योंकि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम केवल परिमाण से ही सम्बन्ध रखते हैं। हालाँकि गणित-शास्त्रीय नियम अपने क्षेत्र में अत्यधिक सामान्य धर्म वाले होते हैं।

(३) अपने आप सिद्धि को लिये हुए वाक्य हैं अर्थात् प्रत्येक की सिद्धि अपने पर निर्भर है। स्वयं-सिद्धों को सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण या सिद्धि की आवश्यकता नहीं। इनकी प्रामाणिकता के लिये किसी तर्क की जरूरत नहीं प्रतीत होती। ये इतने सरल होते हैं। कि इनकी प्रामाणिकता को अपने आप स्वीकार करना पड़ता है। इनके द्वारा कितने ही अन्य-सिद्धान्त सिद्ध किये जाते हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान विज्ञान में कुछ न कुछ इस प्रकार के स्वयं-सिद्धों को माना जाता है जो उनकी आधार शिला का कार्य करते हैं। तर्क-शास्त्र विचारों के नियमों की सत्यता को मानकर चलता है। कार्वेथ रीड ने ठीक कहा है कि स्वयं सिद्ध तर्कशास्त्र की ऊर्ध्व सीमा को निर्धारित करते हैं जिनको तर्कशास्त्र, अन्य विज्ञानों की भाँति स्वीकार कर चलता है और जितने विशेष अनुमानीय और सामान्यानुमानीय तर्क हैं वे सब इनके द्वारा निर्णीत किये जाते हैं'।

(२) प्राथमिक या अन्तिम नियम

स्वयं सिद्धों के अनन्तर प्राथमिक या अन्तिम नियमों की गणना की जाती है। प्राथमिक या अन्तिम नियम स्वयंसिद्धों से कम सामान्य-धर्म वाले होते हैं; किन्तु भिन्न-भिन्न विज्ञानों के क्षेत्र में ये सब से अधिक सामान्यता के प्रतिपादक कहे जाते हैं। इसी हेतु से उनकी सिद्धि की जाती है। ये नियम सब से अधिक सामान्यता के प्रतिपादक होते हैं जिनको भिन्न भिन्न विज्ञान सिद्ध करते हैं। आकर्षण शक्ति का नियम प्राथमिक नियम है।

(३) सहायक या अमुख्य नियम

सहायक—नियम, प्राथमिक या मुख्य नियमों से कम सामान्य धर्म वाले होते हैं। बेकन के शब्दों में इन्हें मध्यवर्ति-स्वय-सिद्ध (Media axiometa) कहा जाता है क्योंकि इस क्रम से ही हम उच्चतर नियमों के निर्माण मे समर्थ होते हैं। बेन महोदय का कहना है कि सहायक नियम उद्गमन कर के केवल प्राथमिक नियमों का ही रूप नहीं धारण करते अपितु प्राथमिक नियम स्वय सहायक नियमों में निगमन करते हैं। या हम यह भी कह सकते हैं कि प्राथमिक नियमों से हम सहायक नियमों को निकालते है और इस प्रकार उनको हम अधिक निश्चित रूप में प्रकट करते हैं। सहायक-नियम या तो अनुभव जन्य होते हैं या निष्कासित।

अनुभव-जन्य नियम (Empirical laws) **उन सहायक नियमों को कहते है जिनको हम अधिक सामान्य नियमों में अन्तर्भूत कर सकते हैं किन्तु अभी तक किया नहीं है।** यथार्थ में ये वे नियम हैं जिनका स्वरूप अभी तक निश्चित ही नहीं किया गया है। अत प्रथम, अनुभवजन्य नियम, क्योंकि वे सहायक नियम हैं, इसलिये प्राथमिक नियमों से कम सामान्य धर्म वाले है। द्वितीय, उन्हें अधिक सामान्य नियमों से निकाला जा सकता है, हम अभी तक उनको अधिक सामान्य नियमों में से निकालने को समर्थ नहीं हुए हैं। अन्वय विधि से निकाले हुए निष्कर्ष अनुभव-जन्य नियम कहे जाते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि अन्वय-विधि कारणता को सिद्ध नहीं कर सकती, किन्तु उसके विषय में सूचना या राय दे सकती है। इससे हम इतना ही जान सकते हैं कि दो वस्तुएँ या घटनाएँ एक साथ पाई जाती हैं। यह एक अनुभवजन्य नियम है। हम यह विश्वास करते हैं कि यह उच्चतर नियमों से निकाला जा सकता है, यद्यपि हमने इसको अभी निकाला नहीं है। 'कुनैन जूड़ी के बुखार या ज्वर को दूर करती है' यह एक अनुभवजन्य-नियम है। इस प्रकार की एक रूपता की स्थापना प्रत्यक्षीकरण द्वारा की जाती है। इसको अनुभव जन्य इस हेतु से कहते हैं क्योंकि यह अभी तक किसी उच्चतर नियम से नहीं निकाला गया है।

निष्कासित नियम (Derivative laws) वे सहायक नियम हैं जो प्राथमिक नियमों से निकाले जाते हैं। इस प्रकार जब अनुभवजन्य-नियम प्राथमिक नियमों से निकाले जाते हैं तब उन्हें निष्कासित नियम कहा जाता है। उदाहरणार्थ ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ का गिरना किसी समय अनुभवजन्य-नियम माना जाता था। यह बहुत उदाहरणों में सत्य पाया गया है। इसको उच्चतर नियमों से अभी तक नहीं निकाला गया था; किन्तु अब इसको उन नियमों में सम्मिलित कर लिया गया है जो वायुस्थान ताप से सम्बन्ध रखते हैं जो वायुमंडल से गुजरता है। इसी प्रकार पार्थिव-आकर्षण-शक्ति के नियम या ज्वारभाटा के नियम अनुभव-जन्य नियम माने जाते हैं किन्तु ये भी नियम निष्कासित नियम कहलाते हैं जब हम इनको आकर्षण-शक्ति के नियम से निकालते हैं।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सहायक नियमों का सीमित प्रयोग होता है। जैसा कि बेन ने कहा है "निष्कासित नियम या अनुभव-जन्य नियम को समय देश या अवस्था की सीमा के पार नहीं ले जाना चाहिये"। कारवेथ रीड का भी मन्तव्य लगभग इसी प्रकार का है "सहायक नियमों का विस्तार केवल समीपवर्ती उदाहरणों में ही किया जा सकता है। अर्थात् जहाँ अवस्थायें उनके समान हैं जिनमें नियम सही सिद्ध होते हैं।

जहाँ तक कि निष्कासित नियमों का सम्बन्ध है हम उन्हें केवल एक सामान्य नियम से निकाल सकते हैं या कई सामान्य नियमों से। जब ऐसा नियम किसी एक सामान्य-नियम से निकाला जाता है तब वह उसी प्रकार सामान्य रूप से सत्य होगा जैसे कि वह एक सामान्य नियम, जिससे वह निकाला गया है। किन्तु जब वह कई नियमों में से निकाला जाता है तब उन कई नियमों को अवश्य ही किसी रूप में सहयुक्त होना चाहिये और वहाँ किसी अन्य प्रतिरोधी नियमों को काम न करना चाहिये। जैसे, 'पानी को हम समुद्र की सतह से करीब ३३ फीट ऊँचा पम्प कर सकते हैं' यह नियम निष्कासित है। यह हमारी पृथ्वी पर सत्य है और यह मंगल ग्रह पर भी सत्य है। लेकिन यह हम तब मान सकते हैं जब हमें यह मालूम हो कि मंगल ग्रह पर इसी

प्रकार के, पानी जैसे तरल पदार्थ विद्यमान हैं। वहाँ पर भी उसी प्रकार का वातावरण है और उसका इसी प्रकार का दबाव[1] है। यदि वहाँ वातावरण नहीं है तो वहाँ पम्प द्वारा पानी ऊपर नहीं ले जाया जा सकता है। यदि वहाँ यहाँ से कम दबाव है तब भी उतनी दूर तक पानी पम्प द्वारा नहीं ले जाया जा सकता है। अत यह अनुभव निष्कासित नियमों के लिये सत्य है तो यह अनुभव-जन्य नियमों के लिये जिनको कि अभी तक किसी उच्चतर नियम से नहीं निकाला गया है, सत्य होगा। अनुभव जन्य-नियम के विषय में हम उनकी अवस्थाओं या कारणों से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं और हम नहीं जानते कि यह नियम से निकाला गया है या अनेक नियमों से निकाला गया है। अत हमारे लिये यह कहना असभव है कि असम्मिलित नियम अपनी सीमाओं के, जिनके अन्दर यह काम करता रहा है, परे भी सत्य सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ, चिकित्सा-विज्ञान मे हमारा ज्ञान प्राय. करके अनुभव-जन्य-नियमों पर अवलम्बित रहता है। हम ऐसा अनुमान कभी नहीं कर सकते कि दो दवाए, जो एक प्रकार की ही हैं उनका प्रभाव एक सा ही होगा। जैसे चिन्कोना की छाल और कुनैन का एक प्रकार का ही असर नहीं होता, यद्यपि चिन्कोना कुनैन का ही साधारण रूप है और कुनैन उसका विशेष-रूप आवश्यक सत् है।

(३) अन्य प्रकार के सहायक नियम

(क) अपरिवर्तनीय और आसन्न-सामान्य-नियम—

सहायक नियमों के दो भेद होते है.—(१) अपरिवर्तनीय सामान्य-नियम और (२) आसन्न सामान्य-नियम।

अपरिवर्तनीय सामान्य नियम (Invariable Generalisation) **वे कहलाते है जो विश्व में व्यापक रूप से जहाँ तक हमारे अनुभव का सम्बन्ध है, सत्य हों।** उदाहरणार्थ, 'सब कौए काले होते हैं' 'सब पार्थिव वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं'। ये नियम अपरिवर्तनीय हैं क्योंकि इन वाक्यों में उद्देश्य और विधेय में सर्वव्यापकता का सम्बन्ध है। यह तथ्य हमारे अनुभव से भी सिद्ध है।

---

(1) Pressure

आसन्न-सामान्य-नियम (Approximate generalisation) के रूप निम्नलिखित होते हैं:—बहुत से 'क' 'ख' होते हैं। "बहुत सी धातुएँ सामान्य ताप में ठोस ही रहती हैं" 'अधिकतर हैजा और प्लेग के मामले खतरनाक होते हैं'; 'अधिक संपन्न मनुष्य स्वार्थी होते हैं'; उत्तरी ध्रुव में रहने वाले जीव प्रायः सफेद रंग के होते हैं, इत्यादि। ये सब वाक्य करीब-करीब सामान्य रूप हैं; पूर्ण-रूप से नहीं। इनमें से कुछ सामान्य वाक्य अनुभव-जन्य हैं क्योंकि वे सर्वथा अनुभव पर ही निर्भर हैं और इनको अभी तक उच्चतर सामान्य-नियमों से नहीं निकाला गया है। तथा कुछ इनमें से एक अंश से अनुभवजन्य हैं तथा अन्य अंश से निष्कासित हैं। उदाहरणार्थ, 'उत्तरी ध्रुव के रहनेवाले जीव प्रायः गोरे होते हैं'। यह नियम एक अंश से निष्कासित है क्योंकि उनका गोरा होना अधिक काल तक बर्फ में उनके रहने के कारण होता है। तथा दूसरे अंश से यह अनुभवजन्य है क्योंकि हम अनुभव से यह जानते हैं कि वहाँ के रहनेवाले गोरे होते हैं।

आसन्न-सामान्य-नियमों के विषयों में यह आवश्यक है कि हम उनमें आये हुए अपवादों का स्पष्टीकरण कर दें। जब हम कहते हैं कि 'प्रायः क ऐसा होता है' तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि 'कुछ में ऐसा नहीं भी होता है'। इसके लिये हमें इनके कारण या इनकी व्याख्या खोजनी चाहिये। यदि हमें उन अपवादों के कारण का पता लग जाता है तो हमारा नियम सर्वव्यापक बन जाता है और उस समय हमारा सामान्य वाक्य इस प्रकार का होता है 'सब धातुएँ, केवल पारे को छोड़कर, ठोस हैं।' किन्तु जब हम इसी वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं—''सब धातुएँ, केवल एक को छोड़कर ठोस हैं'', तब यह विशेष वाक्य होता है और हम पता नहीं होता कि वह अपवाद क्या है।

इस प्रकार के वाक्यों का जब हम मूल्यांकन करते हैं तब हमें प्रतीत होता है कि आसन्न-सामान्य-नियमों के परिणाम सम्भावनात्मक होते हैं निश्चित नहीं। इन नियमों की प्रयोगात्मक क्षेत्र में अधिक उपयोगिता हो सकती है किन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में उनका कोई विशेष उपयोग नहीं। उन अवस्थाओं में जहाँ पदार्थों की सम्यक् परि-

लता है और सर्वव्यापक सामान्य वाक्यों का निर्माण नहीं किया जा सकता वहाँ आसन्न सामान्य-वाक्यों से वैज्ञानिक कार्य चलाया जाता है। जैसे, राजनैतिक शास्त्र में आसन्न-सामान्यीकरणों से अत्यधिक कार्य चलाया जाता है, क्योंकि राजनैतिक नियम प्राय कर के ठीक होते हैं। देखा जाता है कि एक देश के मनुष्य भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होते हैं हैं। उनकी शिक्षा भो अन्य प्रकार की होती है। उनके जीवन के स्तर भी भिन्न भिन्न होते हैं, अतः उनके बारे में सर्वव्यापक नियमों का बनाना असभव सा हो जाता है। उनके विषय में नियम प्राय के अर्थ को लेकर ही बनाए जाते हैं। उदाहरण के लिये जैसे, 'दड का भय लोगों को अपराध करने से रोकता है' तो इससे राजनैतिक नेता को एक आवश्यक गतिविधि की सूचना ले लेनी चाहिये। आसन्न-सामान्य नियम वैज्ञानिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होते हैं। जब हम किसी नियम की क्रमबद्ध, गणना (Statistics) करना आरम्भ करते हैं, जैसे, यह देखा जाता है कि अस्सी प्रतिशत टीका लगाए हुये व्यक्ति चेचक की बीमारी से उन्मुक्त रहते हैं—तो हम अवश्य इस प्रकार का सामान्यीकरण कर डालते हैं कि 'टीका लगाना चेचक का अच्छा इलाज है'। यह सामान्यीकरण आसन्न-सामान्यीकरण ही कहलाया जा सकता है।

(४) क्रमवर्ती और सहवर्ती सहायक नियम—

सहायक नियमों के दो अन्य प्रकार भी हो सकते हैं—(१) क्रमवर्ती और (२) सहवर्ती।

क्रमवर्ती-सहायक-नियमों (Secondary laws of succession) नियमों की तीन विधियाँ पाई जाती हैं .—(१) जिनमें साक्षात् कार्य-कारण भाव पाया जाय। जैसे, "रोटी खाने से भूख मिटती है'। (२) जिनमें सुदूर कार्य-कारण भाव पाया जाय। जैसे, 'मेघाच्छन्न आकाश में बिजली चमकने से धड़ाका होता है'। (३) जहाँ सम्मिलित कार्य-कारण-भाव पाया जाय। जैसे, 'दिन के अनन्तर रात्रि उत्पन्न होती है'। इन दोनों का होना पृथ्वी की गति से सम्बन्ध रखता है।

सहवर्ती-सहायक नियम (Secondary laws of co-existence)

कई प्रकार के होते हैं।—(१) अन्वयविध्याश्रित-सामान्य-नियम[1], वे नियम हैं जो अन्वय विधि पर अवलम्बित होकर सामान्य वाक्य का निर्माण करते हैं; जैसे 'सब आकर्षणयुक्त पदार्थ क्रियारहित होते हैं'। (२) स्वाभाविक-प्रकाराश्रित-गुण-सहवर्तित्व-प्रतिपादक नियम[2] वे हैं जो स्वाभाविक प्रकारों के मध्य सहवर्ती गुणों का प्रतिपादन करते हैं। जैसे, सुवर्ण में अनेक प्रकार के गुणों का सहवर्तित्व पाया जाता है। (स्वाभाविक प्रकार वस्तुओं के वे वर्ग हैं जो आपस में समानता रखते हैं और अनेक गुणों में दूसरों से भेदभाव रखते हैं) (३) एक-प्रकारबद्ध-सहवर्ति-गुणान्वित-समान-नियम[3], वे हैं जो किसी एक प्रकार में सहवर्ती गुणों को न दिखलाते हों किन्तु अन्य प्रकारों में दिखलाते हों। जैसे, सफेद रोम नाम की बिल्लियाँ जिनकी नीली आँखें होती हैं, बहरी होती हैं। (४) आपेक्षिक स्थान-सम्बन्ध-स्थिरता प्रतिपादक नियम[4] वे हैं जो वस्तुओं की आपेक्षिक स्थिरता को बतलाते हों। जैसे ज्योतिष सम्बन्धी आकृतियों में चन्द्र या सूर्य अथवा ग्रहों की कक्षाएँ।

इन सहवर्ती नियमों को हम कारणता के सम्बन्ध में सम्मिलित कर सकते हैं। जब सहवर्ती नियम कारणता के सम्बन्ध के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं तब हम उनको केवल उदाहरणों की गणना कर प्रकृति की एक रूपता पर विश्वास करते हुए, सिद्ध कर सकते हैं। यदि अपवाद न मिलें तो हमारे नियम अनुभव-जन्य कहलावेंगे जो हमारी खोज के क्षेत्र में हमको सम्भावनात्मक ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। यदि अपवाद पैदा होते हैं तो हमारे सामान्यीकरण अधम-सामान्यीकरण कहलावेंगे। जैसे "अधिकतर बाजुएँ सफेद होती हैं। 'काले बादलों के आनेपर प्रायः वर्षा होती है'। इत्यादि।

---

(1) Certain laws based on the Method of Agreement.

(2) Coexistence of properties in the Natural Kinds.

(3) Certain Coincidences of qualities not essential to any kind and sometimes prevailing to many different kinds.

(4) Constancy of relative position.

(५) विश्व एक नियामक संगठन है

जिस विश्व को हम देखते हैं हे वह एक नियम-पूर्ण सगठन है। प्रथम, इसमे नियम हैं जो प्रकृति के भिन्न भिन्न विभागों का नियन्त्रण करते हैं। द्वितीय, भिन्न भिन्न विभाग एक दूसरे से सर्वथा प्रथक् नहीं है किन्तु एक सुव्यवस्थित पूर्णता के अश हैं। यथार्थ में विश्व एकानेक रूप है।

विश्व का नियन्त्रण नियमों द्वारा होता है। सबसे पहले हमे विश्व एक अव्यवस्थित वस्तु प्रतीत होती है जिसमें सब पदार्थ एक अद्भुत गड़बड़ में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु अच्छी तरह विचार करने पर मालूम होगा कि इस दृष्ट भेद के अन्दर अभेद की झलक है। इस प्रत्यक्ष गड़बड़ में कुछ न कुछ अवश्य क्रम है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ससार का नियत्रण नियमों द्वारा होता है। ससार में स्वेच्छाचारिता के लिये कहीं स्थान नहीं है। विश्व में कोई बात आकस्मिक नहीं होती। जब कभी हमें कहना होता है कि यह बात अवसर-प्राप्त थी—तो हमारा मतलब वहाँ केवल नियम के अज्ञान से है। विज्ञान के क्षेत्र में सहूलियत के लिये प्रकृति को अनेक विभागों में बाँट रक्खा है। प्रत्येक विभाग के अलग-अलग नियम होते हैं और वे अपने विभाग-विषयक पदार्थों का विवेचन और व्याख्या करते हैं। जैसे, भौतिक विज्ञान में, आकर्षण का नियम कार्य करता है जिसके अनुसार भौतिक पदार्थ एक दूसरे को खींचते हैं। रसायन-विज्ञान में नियत अनुपात के कई नियम हैं जिनके अनुसार रासायनिक द्रव्य तय्यार किये जाते हैं। प्राणिविज्ञान में सतान का नियम है जिसके अनुसार माता पिता के गुण बच्चों में आते हैं। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों की गति को नियत्रण करनेवाले नियम हैं जिनके अनुसार वे सब सूर्य की चारों ओर घूमते रहते हैं। यान्त्रिक विज्ञान में अनेक प्रकार के नियम हैं जिनके अनुसार मशीनें चलती हैं, इत्यादि।

इस प्रकार हम देखेंगे कि विश्व का नियत्रण नियमों द्वारा ही नहीं होता, अपितु यह नियमों का एक सगठन है। सगठन के माइने हैं पूर्णत्व। इस पूर्णत्व से इसका प्रत्येक भाग सम्बन्धित रहता है तथा इसके अनेक

भाग ही इसके होते हुए जगत में समन्वित रहते हैं। पूर्णत्व अपने भागों को छोड़ कर नहीं रह सकता और न भाग पूर्णत्व के अभाव में रह सकते हैं। अतएव जगत में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसे संगठन को एक वस्तुओं के मेल से अलग समझना चाहिये क्योंकि मेल में कोई खास संबंध नहीं होता। यद्यपि सहूलियत के लिये विश्व को हमने भिन्न-भिन्न विभागों में बाँट रक्खा है और उनके अलग-अलग नियम भी हैं जो उन विभागों में लागू होते हैं; तथापि भिन्न-भिन्न नियम एक पूर्णत्व के अंश हैं। प्रकृति कोई अवयवक भागों का गठबंधन नहीं है किन्तु वे सब भाग एक संगठन के अंश हैं जिन्हें कभी भी पूर्णत्व से अलग नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में हम प्रकृति की एकरूपता को या मेल को ही अच्छा समझते हैं। इसी आधार पर हम प्राणि-विज्ञान की समस्याओं का रसायन-विज्ञान के नियमों के द्वारा व्याख्यान करते हैं और भौतिक-विज्ञान के तत्वों का गणितविज्ञान के नियमों से व्याख्यान करते हैं, इत्यादि।

भिन्न भिन्न विज्ञानों में भिन्न प्रकार के नियम होते हैं। उनमें कुछ अधिक सामान्य की मात्रा को लिये हुए होते हैं और कुछ कम जैसे प्राथमिक नियम और सहायक नियम। हम सहायक नियमों को प्राथमिक नियमों से निकाल सकते हैं और जिनको अभी तक उनमें सम्मिलित नहीं किया है जैसे, अनुभव-जन्य नियम। किन्तु अनुभव-जन्य नियमों को भी उच्चतर नियमों के अन्दर सम्मिलित किया जा सकता है। ज्यों ज्यों विज्ञान उन्नति करता जायगा त्यों त्यों निम्नतर नियमों का उच्चतर नियमों के द्वारा व्याख्यान किया जायगा। और निम्नतर नियम उसी प्रकार उच्चतर नियमों में से निकाले जायेंगे। इस प्रकार प्रतीत होता कि विश्व के सब नियम एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति के भिन्न भिन्न विभागों में केवल नियम ही नहीं हैं अपितु वे सब एक दूसरे से संबन्धित हैं और वे सब मिलकर एक संगठन को बनाते हैं। प्रकृति, व्यक्तिरूपर, क्रम ही नहीं है इसमें क्रम भी है। यथार्थ में विश्व विघटन नहीं है किन्तु संगठन है[1]।

(1) The universe is not a chaos but cosmos.

अभ्यास प्रश्न

(१) नियम का क्या अर्थ है ? नियम कितने प्रकार होते हैं ? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(२) प्राकृतिक नियमों और नियामक शास्त्रों के नियमों में क्या अन्तर है ? उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट करो ।

(३) स्वयसिद्ध किन्हें कहते है ? सामान्यानुमान के क्षेत्र में स्वयसिद्धों का क्या स्थान है ? कुछ स्वयसिद्धों के उदाहरण दो ।

(४) राजनैतिक नियम, प्राकृतिक नियम और नैतिक नियमों में क्या अन्तर है ? प्रत्येक का उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट करो ।

(५) नियमों का वर्गीकरण करके प्रत्येक प्रकार के नियमों का लक्षण लिखकर उत्तर दो ।

(६) प्राकृतिक नियम का लक्षण क्या है ? प्राथमिक, सहायक और अनुभव-जन्य नियमों की व्याख्या करो ।

(७) अपरिवर्तनीय और आसन्न-सामान्य-नियमों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(८) क्रमवर्ती और सहवर्ती नियम कौन से हैं ? उनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(९) 'विश्व एक नियामक सगठन है' इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट उत्तर दो ।

(१०) क्या विश्व में विघटन भी है ? सगठन और विघटन में सामञ्जस्य स्थापित करो ।

(११) प्राकृतिक नियम का अनुभवजन्य नियम से किस प्रकार भेद दिखलाओगे ? नियम के अपवाद से विज्ञान क्या समझता है ?

(१२) 'अनुभव-जन्य नियम' यह वाक्यांश आत्यन्तिक विरोध से परिपूर्ण है। इसको हल दो।

(१३) उन अवस्थाओं का प्रतिपादन करो जिनके द्वारा एक अनुभव-जन्य-नियम को प्राकृतिक नियम में परिवर्तन कर सकते हो।

(१४) क्या प्राकृतिक-नियम किसी पूर्व-धारणा पर अवलम्बित रहते हैं? उदाहरण पूर्वक उपपत्ति दो।

(१५) प्राकृतिक नियमों को केवल प्राप्ति रूप ही क्यों कहना चाहिये?

अध्याय ११

(१) स्पष्टीकरण या व्याख्या

स्पष्टीकरण की समस्या उसी प्रकार की है जैसी कि सामान्यानुमान की। इस कारण हम स्पष्टीकरण को सामान्यानुमान का लक्ष्य मान सकते हैं। स्पष्टीकरण की प्रक्रिया में सामान्यानुमान और विशेषानुमान दोनों काम में आते हैं। किसी पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण करने के लिये हमें सर्व प्रथम प्राक्कल्पना करनी पड़ती है। प्राक्कल्पना द्वारा हम किसी घटना या पदार्थ को थोड़े काल के लिये स्पष्ट कर सकते हैं। पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये हमें विशेषानुमान और समर्थन की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्टीकरण का अन्त हमें तब प्राप्त होता है जब हम देखते हैं कि जिस प्राक्कल्पना द्वारा हमने पदार्थ या घटना की व्याख्या की है उसने अन्य प्राक्कल्पनाओं को हटाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अमुक पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण इसी प्राक्कल्पना द्वारा हो सकता है अन्य से नहीं। कभी कभी हम साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान और उपमाजन्य सामान्यानुमान के द्वारा पदार्थों या घटनाओं की व्याख्या करते हैं और इनके आधार पर प्राक्कल्पनाएँ करते हैं। इन प्राक्कल्पनाओं के द्वारा ही पदार्थ या घटनाओं का स्पष्टीकरण किया जाता है। जब ये प्राक्कल्पनाएँ सामानुमान विधि और विशेषानुमान विधि दोनों के द्वारा सिद्ध कर दी जाती हैं तब हम वैज्ञानिक सामान्यानुमान पर पहुँचते हैं और यथार्थ में वैज्ञानिक सामान्यानुमान द्वारा ही हम पदार्थों या घटनाओं का स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

स्पष्टीकरण (Explanation) का अर्थ है **'अस्पष्ट को स्पष्ट बनाकर रख देना'**। इंलिश में भी एक्सप्लेनेशन शब्द का शब्द-विचार की दृष्टि से यही अर्थ है—अस्पष्ट को स्पष्ट बनाना। अत: स्पष्टीकरण पूर्व की अस्पष्ट अवस्था की कल्पना करता है। उस अस्पष्ट अवस्था को स्पष्ट करना

स्पष्टीकरण का क्रम है। साधारण भाषा में स्पष्टीकरण का अर्थ है व्याख्या करना या मनुष्य को बौद्धिक संतोष प्रदान करना।

जीवन के विकास-क्षेत्र में मनुष्य का बौद्धिक संतोष भिन्न-भिन्न प्रकार से होता रहा है। जो स्पष्टीकरण एक साधारण मनुष्य या पृथक्जन[1] के लिये पर्याप्त है वह एक वैज्ञानिक के लिये कभी भी मान्य नहीं हो सकता। प्राचीन समय में आँधी, तूफान, भूकम्प, ग्रहण आदि की घटनाओं का स्पष्टीकरण देवी देवताओं द्वारा किया जाता था किन्तु आजकल कोई भी मनुष्य देवी देवताओं के आधार पर किये हुए स्पष्टीकरण को मानने के लिये तय्यार नहीं है। अन्ध-विश्वासी मनुष्य अब भी इस प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये देवी-देवताओं की कल्पना करते हैं और उनके द्वारा उनका स्पष्टीकरण करते हैं। जैसे भारत में ग्रहण की राहु और केतु द्वारा अब भी साधारण लोग व्याख्या करते हैं।

इस प्रकार की व्याख्याएँ इस वैज्ञानिक युग में हास्यास्पद गिनी जाती हैं। अतः कहना पड़ता है कि जो व्याख्या एक साधारण मनुष्य को संतोष दे सकती है वह एक वैज्ञानिक को नहीं दे सकती। इसी कारण प्रत्येक स्पष्टीकरण में हमें कुछ न कुछ पेचीदापन या कठिनाई उपस्थित होती है और जब तक वह कठिनाई या पेचीदापन दूर नहीं हो जाता तब तक हमें चैन नहीं पड़ता। चैन तभी पड़ता है जब कुछ न कुछ उस पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसलिये ही कहना पड़ता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्पष्टीकरण होते हैं और उनका भिन्न भिन्न होना उन मनुष्यों की बुद्धि की सावधानता, शिक्षा या अन्य साधना पर अवलम्बित रहता है।

उपर्युक्त विचार के आधार पर ही स्पष्टीकरण के दो भेद कर दिये जाते हैं (१) साधारण स्पष्टीकरण और (२) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण। दोनों का भेद उसी प्रकार का है जैसा कि साधारण ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में भेद है। साधारणज्ञान(Ordinary knowledge) 'भाषा विच्छिन्न'[2] घटनाओं का संकलन होता है; उसके अन्दर गहराई नहीं होती। इसके

(1) Ordinary person. (2) Isolated.

विपरीत वैज्ञानिक ज्ञान (Scientific knowledge) इस प्रकार की विच्छिन्न घटनाओं में सामान्य नियमों को ढूढता है और उन्हें सुसबद्ध रूप में उपस्थित करता है'। अब हम यहाँ दोनों में भेद दिखलाने लिये कुछ बातें बतलाते हैं —

(१) साधारण स्पष्टीकरण में केवल बाहिरी सादृश्यसूचक बातों पर ध्यान रखकर संतोष किया जाता है, तथा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण गहरी सादृश्यसूचक बातों को लेकर चलता है।

(२) साधारण स्पष्टीकरण में बिना किसी हिचक के देवी-देवताओं के द्वारा पदार्थों या घटनाओं की व्याख्या की जाती है, किन्तु वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में प्राकृतिक कारण या नियमों द्वारा व्याख्या की जाती है। साधारण रूप से हम चन्द्रग्रहण होने पर यह समझते हैं कि आकाश में केतु नाम का एक राक्षस है जो चन्द्रमा को ग्रस लेता है। किन्तु यह व्याख्या अवैज्ञानिक है इसकी वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ग्रहण तब पड़ता है जब चद्रमा पृथ्वी की परछाई से होकर गुजरता है।

(३) साधारण स्पष्टीकरण द्वारा हम विश्व के पदार्थ या घटनाओं का व्याख्यान करते हैं किन्तु वैज्ञानिक स्पष्टीकरण सामान्य नियमों की व्याख्या करता है।

यदि वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किसी विशेष पदार्थ या घटना की व्याख्या भी करता हो तो वह साधारण स्पष्टीकरण की तरह किसी खास अवस्था का उल्लेख करके ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु उस पदार्थ या घटना के कारणों को बतलाता है। जैसे हमें कहीं जलती हुई आग की व्याख्या करनी हो तो हम साधारण-रीति से यह कह देते हैं कि जलती हुई दिया सलाई से यह उत्पन्न हुई है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि यह विध्यात्मक और निषेधात्मक अवस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई है जो इसके कारण की ओर सकेत करती हैं। वैज्ञानिक स्पष्टीकरण केवल नियमों की ही व्याख्या करता है। आगे चल कर हम देखेंगे कि किसी नियम का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तब होता है जब हम उसको किसी उच्चतर नियम के अन्दर ले आते हैं।

(२) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किसी वैयक्तिक पदार्थ या नियम की व्याख्या करता है। यद्यपि यह वैयक्तिक पदार्थ को छोड़कर नियम का अधिक व्याख्यान करता है।

जब हम किसी वैयक्तिक पदार्थ या घटना की व्याख्या करते हैं तब हम उसके कारण की खोज करते हैं अर्थात् हम उस कारण के नियम या नियमों का उल्लेख करते हैं जिनका यह पदार्थ या घटना, कार्य है। इसके नियम की खोज करने के पहले हम उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं को तलाश करते हैं। इस विधि को 'समीकरण' की विधि कहते हैं। इस तरह जब फ्रेन्कलिन ने विद्युत्[2] की व्याख्या की तब बतलाया कि यह उसी प्रकार का पदार्थ है जैसा कि साधारण बिजली। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विद्युत् का समीकरण बिजली के साथ किया गया। इसी प्रकार लोहे में जंग लगने को मोमबत्ती के जलने के समान बताकर उसकी व्याख्या करते हैं। इस तरह समान बातों को ढूंढा जाता है और देखा जाता है कि वे उसी कारण के कार्य हैं उदाहरणार्थ, लोहे का जंग लगना और मोमबत्ती का जलना वायु में आक्सिजन की सत्ता के कारण होता है।

किसी नियम का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तब किया जाता है जब हम किसी अन्य नियम या नियमों का उल्लेख करते हैं जिनका यह स्वयं परिणाम है और जिससे हम इसको निकाल भी सकते हैं। जैसे, जब ग्रहों की गति को नियमन करने वाले नियम की व्याख्या की गई थी तब यह बतलाया गया था कि यह नियम उच्चतर नियम—आकर्षण के नियम का ही विशेष नियम है जो इससे निकाला हुआ है।

निम्नलिखित वाक्य जो वैज्ञानिक स्पष्टीकरण का कार्येथ रीड ने दिया है, यह विचारणीय है :—

"वैज्ञानिक स्पष्टीकरण, पदार्थों के नियमों को खोजता है निकालता है और उनका समीकरण करता है।

---

(1) Assimilation (2) Lightning.

जब हम पदार्थों के नियमों की खोज करते हैं अर्थात् जब हम उन्हें बिलकुल नहीं जानते तब हम उनके बारे में प्राक्-कल्पना करना आरम्भ करते हैं और उनके कारण या नियम को खोजते हैं। इससे मालूम होता है कि स्पष्टीकरण का प्राक्-कल्पना से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। यथार्थ में प्राक्-कल्पना का उद्देश्य ही स्पष्टीकरण है। आकर्षण-शक्ति के नियम के बारे में प्रथम प्राक्-कल्पना करनी पड़ी पश्चात् उसके द्वारा सेव के गिरने की व्याख्या की गई।

स्पष्टीकरण में समीकरण भी आ जाता है। **'समीकरण का अर्थ है दूसरे पदार्थों के साथ समानता की बातें खोजना'**। किसी पदार्थ या नियम का दूसरे पदार्थ या नियम के साथ समीकरण तब होता है जब दोनों में कुछ समानता की बातें पाई जाती हैं। इस प्रकार ज्वार-भाटे को नियन्त्रण करने वाले नियमों का आकर्षण शक्ति के नियम के साथ समीकरण हो जाता है क्योंकि दोनों में आकर्षण के चिन्ह पाये जाते हैं। एक जेब्रा जन्तु का किसी घोड़े या गधे के साथ समीकरण किया जा सकता है, क्योंकि इसमें घोड़े या गधे के समान लक्षण पाये जाते हैं। इस दृष्टि में स्पष्टीकरण की वर्गीकरण से बहुत कुछ समानता है। वैज्ञानिक वर्गीकरण करने में अनेक महत्वपूर्ण समानता की बातों के आधार पर ही पदार्थों को सजाकर रक्खा जा सकता है। स्पष्टीकरण की वर्गीकरण के साथ समानता इसलिये भी है क्योंकि प्रश्नाङ्कित पदार्थ और दूसरे पदार्थों में अत्यधिक समानता पाई जाती है।

स्पष्टीकरण में सामान्यीकरण का भी अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्यीकरण या सामान्यानुमान का अर्थ है विशेष उदाहरणों की परीक्षा करके सामान्य-वाक्य का निर्माण करना। यह हम तब कर सकते हैं जब विशेष उदाहरण कुछ सादृश्य सूचक बातें बतलाते हैं जिससे हम कारण-सम्बन्ध के विषय में अनुमान लगा सकें। इसी हेतु से स्पष्टीकरण और सामान्यीकरण में भी अत्यधिक समानता है। सामान्यानुमान का लक्ष्य है कारणता-सम्बन्ध की खोज करना और उसकी सिद्धि करना, जिससे पदार्थों का अच्छी

तरह से स्पष्टीकरण हो सके। स्पष्टीकरण वास्तव में लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति सामान्यानुमान के द्वारा ही सकती है।

अन्ततः स्पष्टीकरण में विशेषानुमान को भी सम्मिलित किया जाता है। किसी नियम की अच्छी व्याख्या तब समझी जाती है जब उसको किसी सामान्यनियम से निकाला जाता है। एक अनुभवजन्य नियम की व्याख्या तब समझी जाती है जब हम उसे उच्चतर नियम में से निकालते हैं। गिरते हुए मौतिक पदार्थ सम्बन्धी नियम की व्याख्या तब पूरा समझी जाती है जब यह दिखलाया जाता है कि यह आकर्षण के नियम का एक विशेष रूप है।

(३) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के रूप

मिल और बेन ने ३ प्रकार के स्पष्टीकरण बतलाये हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं —

(१) विश्लेषण

(२) कारण-अन्वेषण

(३) सामान्यान्तर्निवेशण

विश्लेषण (Analysis) स्पष्टीकरण का एक रूप है। जिसके द्वारा हम किसी सम्मिलित परिणाम वाले नियम को उसके कारणों के नियमों में और उन कारणों की घटनाओं में अलग अलग कर दिखलाते हैं। विश्लेषण का सामान्यरूप से यह रूप है कि इसमें हम यह दिखलाते हैं कि सम्मिलित कार्य को कई कारण एक मिल कर पैदा करते हैं।

(१) प्रक्षेपात्मक (Projectile) के मार्ग की व्याख्या के लिये हम अलग-अलग कारणों का उल्लेख करते हैं जैसे आकर्षण का नियम, आरम्भिक-शक्ति जिससे प्रक्षेपात्मक को फेंका गया है हवा के दबाव का नियम,इत्यादि। इसके अतिरिक्त हम यह कहते हैं कि ये भिन्न-भिन्न कारण मिल कर सम्मिलित कार्य को उत्पन्न करते हैं।

---

(1) In tial force.

(२) किसी ग्रह की कक्षा की व्याख्या के लिये प्रथम हम यह बतलाते हैं कि अमुक ग्रह की कक्षा आकर्षण के नियम से पैदा होती है और इस नियम से कि ग्रह सीधी रेखा में गमन करते हैं। द्वितीय, दोनों कारण सम्मिलित होकर ग्रहों पर कार्य करते हैं।

इस प्रकार का स्पष्टीकरण समान-जातीय-कार्य-समिश्रण की व्याख्या करने के लिये प्रयोग किया जाता है। इसमें दो बातें पाई जाती हैं।

(१) भिन्न भिन्न कार्यों के सरल-सरल नियमो का उल्लेख किया जाता है तथा (२) यह बतलाया जाता है कि उनकी सत्ता रहती है और वे एक साथ काम करते हैं। यदि इन बातों का ध्यान न दिया जायगा तो विपरीत परिणाम उत्पन्न होगा।

(२) **कारण-क्रमान्वेषण (Concatenation) स्पष्टीकरण का एक प्रकार है जिसमें कारण और उसके दूरवर्ती कार्य के मध्य हम कारणता के क्रमों का अन्वेषण कराते हैं।** इस प्रकार के स्पष्टीकरण में कार्य का साक्षात् कारण नहीं बतलाया जाता है किन्तु उस कारण के मध्यवर्ती कार्य से उसकी व्याख्या की जाती है। बजाय इसके कि 'क' और 'ग' में कारणता सिद्ध की जाय हम यह बतलाते हैं कि 'क' का कार्य 'ख' है और 'ख' का कार्य 'ग' है। यहाँ 'क' और 'ग' का सम्बन्ध 'ख' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसके निम्नलिखित उदाहरण है.—

(१) बिजली (आकाशीय) के विषय में हमें यह मालूम पड़ता है कि बिजली में धड़ाका पैदा करने की शक्ति है किन्तु यथार्थ में बिजली गर्मी पैदा करती है और गर्मी के वायुमडल में एकदम फैलने के कारण एक प्रकार का उच्च घोष पैदा होता है। इस उदाहरण में गर्मी कारणता की जजीर में एक मध्यवर्ती कड़ी है।

(२) जब क्लोरीन का आविष्कार हुआ था तब यह पता लगा कि इसमें वस्तुओं को सफेद करने की अत्यधिक शक्ति है। किन्तु जाच करने पर मालूम हुआ कि वह क्लोरीन नहीं है जो रग को नष्ट कर डालती है किन्तु मध्यवर्ती कारण ऑक्सिजन है। क्लोरीन केवल पानी का विश्लेषण

कर डालती है और हाईड्रोजन को लेकर, आक्सिजन को एक नयी स्थिति की हालत में छोड़ देती है जो रंग के द्रव्य को नष्ट कर डालती है।

(३) सामान्यान्तर्निवेश (Subsumption) एक प्रकार का स्पष्टीकरण है जिसके द्वारा एक कम सामान्यनियम अधिक सामान्यनियम के अन्दर लाया जाता है। इस तरह हम देखेंगे कि कम सामान्यवाले नियमों की व्याख्या, उनको अधिक सामान्यवाले नियमों के उदाहरण बना कर की जाती है। इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं :

(१) पृथ्वी के आकर्षण का नियम—कि पार्थिव वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है कि यह केवल एक अधिक सामान्य वाले नियम का उदाहरण है।

(२) चुम्बक की शक्ति के नियम का स्पष्टीकरण—इस नियम को अधिक सामान्यवाले नियम की विद्युत् के प्रवाहों को नियमित करते हैं, के अन्दर लाकर किया जाता है।

सामान्यान्तर्निवेशन की प्रक्रिया का व्यापक नियमों के साथ वही सम्बन्ध है जैसा उनका विशेष पदार्थों के साथ होता है। अनेक विशेष पदार्थों में रहनेवाले सामान्य को अक्सर नियम कहते हैं। यह प्रक्रिया चाहे ऊपर को जाती हो या नीचे को जाती हो वैज्ञानिक उन्नति का मूल यही है। और विज्ञान पूर्णता को तभी प्राप्त होता है जब यह अनेक पदार्थों को अपने अन्दर समावेश कर उनके विषय में सामान्य सिद्धान्त कायम करता है और बतलाता है कि उपर्युक्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले—अनेक छोटे-छोटे सामान्य नियम बनाए गये हैं जो उन पदार्थों में रहनेवाले सामान्य गुणों के द्योतक हैं।

(४) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की सीमाएँ—

यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जब पदार्थों में समानता की बात दृष्टिगोचर नहीं होती तब हम उनका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते। वैज्ञानिक स्पष्टीकरण का यही उद्देश्य होता है कि हम पदार्थों में समानता की बातें खोजें और उनका अन्य पदार्थों या नियमों के साथ समीकरण करें। अतः समीकरण (Assimilation) की सीमाएँ, स्पष्टीकरण की सीमाएँ हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ हमें समानता के लक्षण या बातें प्राप्त नहीं होती वहाँ स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। इसलिये निम्नलिखितों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता:—

(क) चैतन्य की मौलिक अवस्थाओं का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। जैसे रंग, ताप, गंध, शब्द, स्पर्श, दुख, सुख, इत्यादि। ये वस्तुएँ ऐसी हैं कि इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि ये मौलिक अवस्थाएँ हैं। इनमें सामानता की बातें देखने में नहीं आतीं और ये एक दूसरे से अत्यन्त भेदकता को लिये हुए हैं। उदाहरणार्थ, रंग और ताप में कोई सामानता नहीं है जिससे हम रंग के नियमों को ताप के नियमों में परिववर्तित कर सकें और विपरीतरूप में भी दिखला सकें।

(ख) मौलिक पदार्थों के प्राथमिक गुणों का भी स्पष्टीकरण नहीं हो सकता जैसे, फैलाव, आकृति, रुकावट, वज़न (भार) गति, इत्यादि। ये गुण आपस में भिन्न है, उनमें समानता की बातों का बिलकुल अभाव है। अतः इनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

(ग) क्योंकि विशेष पदार्थों में अनन्त गुण होते हैं इसलिये उन सबका स्पष्टीकरण करना असंभव है। हमें किसी विशेष पदार्थ के बारे में कितना ही भौतिक, रासायनिक नियमों का ज्ञान क्यों न हो, फिर भी हम देखेंगे कि उनकी असंख्य विशेषताए होती है जिनकी व्याख्या करना हमारे लिये असम्भव होहा है, जैसे एक पत्थर का टुकड़ा। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में भी हमें बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। जब हम उस मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या करना शुरू करते हैं तब हम देखेंगे कि हमें उसके जन्म, शिक्षा, पड़ोस आदि का ज्ञान होने पर भी उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं के असंख्य होने के कारण हम उनका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

(घ) मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की जा सकती। ये सबसे अधिक सामान्य वाले होते हैं। इनका सामान्य धर्म इतना अधिक होता है कि इनको, अन्य इनसे अधिक सामान्य धर्म वाले नियमो में, अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इनका आपस में भी अन्तरर्भाव नहीं किया जा सकता।

जैसे, विचार के नियम प्रकृति की एक रूपता का नियम, इत्यादि नियम ऐसे हैं जिनकी व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि इनके समान अन्य कोई वस्तु नहीं है और न इनका किसी अन्य नियम के अन्दर अन्तर्भूत किया जा सकता है।

(५) स्पष्टीकरण के दोष

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के नियमों को भंग करने से स्पष्टीकरण के दोष उत्पन्न होते हैं। यथार्थ में दोष-युक्त स्पष्टीकरण केवल नाममात्र में स्पष्टीकरण कहलाता है यथार्थ में नहीं। यह व्याख्या किये बिना ही यह दिखलाता है कि वस्तुओं या नियमों की व्याख्या की गई है। तार्किक बेन इस प्रकार के दोष-युक्त स्पष्टीकरण के तीन प्रकार बतलाता है। वे निम्नलिखित हैं —

(१) प्रथम प्रकार का दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण उसे कहते हैं जब हम एक पदार्थ को विभिन्न भाषा में, बिना एक सामसामान्तर पदार्थ को दिये हुए केवल दुहराते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब हम किसी पदार्थ का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं तब हम बजाय इसके कि उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करें हम उसे किसी भिन्न भाषा में दुहराते हैं। जैसे, अफ़ीम की व्याख्या करने के लिये — अफ़ीम क्यों नशा लाती है? हम कह देते हैं कि इसमें नींद लाने वाले गुण हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि भविष्य, भूतकाल के समान होता है क्योंकि प्रकृति एकरूप होती है। इस प्रकार के स्पष्टीकरणों का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि इनमें उसी कथन के दुहराने के अतिरिक्त कोई विशेष ज्ञान प्राप्त करने की बात नहीं कही गई है।

(२) द्वितीय प्रकार का दोष पूर्ण स्पष्टीकरण उसे कहते हैं जब हम किसी पदार्थ या घटना को साधारण समझ बैठते हैं क्योंकि उससे हम परिचित होते हैं।

हम प्रति दिन देखते हैं कि सेब वृक्ष से नीचे गिरते हैं। यह एक साधारण बात है, किन्तु न्यूटन महोदय के लिये यही एक विचारणीय समस्या थी और इस साधारण घटना के आधार पर ही उन्होंने आकर्षण का

सिद्धान्त स्थापित किया था जिसके द्वारा आज अधिक वस्तुओं की व्याख्या की जाती है।

(२) तृतीय प्रकार का दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण तब उत्पन्न होता है जब हम यह इच्छा करते हैं कि हमारे जाने हुए पदार्थों में जो घटना क्रम हमने देखा है उसमें हमे उससे कुछ और अधिक प्राप्त हो सकता है।

मनुष्य के मस्तिष्क की यह मॉग है कि वह अधिक से अधिक सामान्य धर्म वाले नियमों को स्थापित करे। कम सामान्य वाले नियम अधिक सामान्य वाले नियमों में अन्तर्भूत कर लिये जाते हैं और ये उनसे भी अधिक सामान्य धर्म वाले नियमों में अन्तर्गत कर लिये जाते हैं, इत्यादि। किन्तु जब हम चरम नियम पर पहुंच जाते हैं तब हमें सतोष करके बैठना पड़ता है और यह स्पष्टीकरण की अन्तिम सीमा होती है। लेकिन फिर भी वैज्ञानिक, और अधिक सामान्य धर्म वाले नियम की खोज में रहते हैं। न्यूटन आकर्षण को चरम या अन्तिम नियम मानने को तय्यार नहीं था और वह चाहता था कि इससे भी अधिक सामान्यधर्मवाले नियम की खोज की जाय। आज तक इस प्रकार के प्रयत्न में किसी को सफलता नहीं मिलती है। अन्त यह स्वीकार करना उचित है कि यह आत्यन्तिक नियम है जिसको किसी अन्य उच्चतर नियम के अन्दर नहीं लाया जा सकता।

इनके अतिरिक्त जितने जन साधारण के स्पष्टीकरण हैं वे सब दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण है। अत केवल बाहिरी समानता की बातों के आधार पर जितने स्पष्टीकरण किये जायेंगे वे सब दोषपूर्ण होंगे।

अभ्यास प्रश्न

(१) विज्ञान में स्पष्टीकरण का क्या अर्थ है? वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन उदाहरण पूर्वक करो।

(२) तार्किक स्पष्टीकरण किसे कहते हैं? इसके मुख्य-मुख्य रूप क्या हैं? उदाहरण देकर उनके लक्षण लिखो।

(३) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की सीमाएँ निरूपण करो। मिथ्या या दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण के प्रकार उदाहरण पूर्वक बतलाओ।

(४) प्राक्-कल्पना का स्पष्टीकरण के साथ क्या सम्बन्ध है? भिन्न भिन्न प्रकार के स्पष्टीकरणों के लक्षण लिखकर उनकी व्याख्या करो।

(५) वाष्पपात और वायुयान की गति की व्याख्या किस प्रकार करोगे? दोनों के स्पष्टीकरणों में क्या अन्तर है?

(६) 'किसी वस्तु का स्पष्टीकरण करना अर्थात् उसको किसी विशेष नियम के अन्दर लाना है' इसका क्या अर्थ है? स्पष्ट करो।

(७) मिथ्या स्पष्टीकरणों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण दो।

(८) पृथक् जन या साधारण मनुष्य के स्पष्टीकरण क्यों दोष पूर्ण होते हैं? इसका वैज्ञानिक कारण बतलाओ।

(९) 'किसी पदार्थ का स्पष्टीकरण करने का अर्थ है उसके कारण को जानना' इस कथन पर अपने विचार करो।

(१०) 'विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों और घटनाओं की व्याख्या करना है' इस वाक्य पर प्रकाश डालो।

(११) साधारण स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में अन्तर दिखलाकर वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की विशेष व्याख्या करो।

(१२) कारण-कार्यान्वेषण तथा सामान्यान्तर्निवेश के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

अध्याय १२

(१) वर्गीकरण

वर्गीकरण की समस्या का, लक्षण और विभाग के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रथम भाग में लक्षण और विभाग के प्रश्न पर समुचित विचार किया जा चुका है। अब यहाँ वर्गीकरण के सिद्धान्त का विवेचन किया जाता है।

हम प्राय: विभाग और वर्गीकरण के विषय में विशेष ध्यान न रखते हुए दोनों प्रक्रियाओं को कुछ मिलती जुलती मानकर कार्य चला लेते है। किन्तु विचार पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि दोनों प्रक्रियाएँ सर्वथा भिन्न हैं। कारवेथ रीड ने वर्गीकरण का लक्षण यह दिया है :—

"वर्गीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें पदार्थ या वस्तुओं को, उनकी समानता और असमानता के आधार पर, मानसिक दृष्टि से एकत्रित किया जाता है जिससे हमारे कुछ उद्देश्य की पूर्ति हो सके।" इस लक्षण का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है :—

(१) सर्व प्रथम, वर्गीकरण मानसिक एकत्रीकरण है। अर्थात् इसमें वस्तुओं का मानसिक एकत्रीकरण किया जाता है। जैसे, वनस्पति विज्ञान में हम वृक्षों और पौधों का भिन्न-भिन्न वर्गों में एकत्रीकरण करते हैं। ऐसा करने में सब प्रकार के वृक्ष और पौधे हमारे सामने नहीं रहते हैं। इसलिये इसको हम मानसिक एकत्रीकरण कहते हैं।

(२) द्वितीय, वस्तुओं का वर्गीकरण उनकी समानता और असमानता के आधार पर किया जाता है। जो वस्तुएँ समान हैं उनको एक वर्ग में रक्खा जाता है और जो उनसे भेद रखती हैं उनको अन्य वर्ग में रक्खा जाता है।

(३) तृतीय, वर्गीकरण में कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। वर्गीकरण

करने में केवल एक ही उद्देश्य नहीं रहता है किन्तु अनेक उद्देश्य रहते हैं और उनके अनुसार उनका वर्गीकरण किया जाता है।

जहाँ तक उद्देश्यों का सम्बन्ध है वर्गीकरण में उद्देश्य साधारण या वैज्ञानिक हो सकता है अथवा विशेष या व्यावहारिक हो सकता है।

(२) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण

उद्देश्य के अनुसार ही वैज्ञानिकों ने दो प्रकार के वर्गीकरण माने हैं। (१) स्वाभाविक या वैज्ञानिक वर्गीकरण और (२) कृत्रिम या विशेष वर्गीकरण।

(१) वर्गीकरण का साधारण उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। विज्ञान में हमें वस्तुओं का सुसंगत ज्ञान प्राप्त होता है; जैसे वनस्पति विज्ञान में हम पौधों और वृक्षों का वर्गीकरण करते हैं जिससे हम उनके स्वभाव और अवस्थाओं को जान सकें। क्योंकि विज्ञान का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति है, अत: वैज्ञानिक वर्गीकरण द्वारा हम अपने ज्ञान का विस्तार करना चाहते हैं। इसे हम वैज्ञानिक वर्गीकरण कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है —

"वैज्ञानिक वर्गीकरण[1] वस्तुओं के अत्यधिक समानता और असमानता की बातों के आधार पर, साधारण ज्ञान की प्राप्ति के लिये मानसिक सङ्कलन को कहते हैं।" इसको साधारण या स्वाभाविक वर्गीकरण भी कहते हैं।

(२) वर्गीकरण का उद्देश्य व्यावहारिक सुगमता भी होता है और उस अवस्था में हमारा उद्देश्य विशेष प्रकार का होता है। यहाँ हम पदार्थों का वर्गीकरण साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिये नहीं करते हैं, जैसे, एक लाइब्रेरियन अक्षर-क्रम से पुस्तकों का वर्गीकरण करता है। जिससे पाठक लोग सुगमता से पुस्तकों को प्राप्त कर सकें। यह व्यावहारिक या कृत्रिम वर्गीकरण कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है —

"कृत्रिम वर्गीकरण[2] वस्तुओं के, समानता की बातों के आधार पर जो विशेष उद्देश्य को लेकर यथेच्छारूपसे की गई

(1) Scientific Explanation (2) Artificial Explanation.

हों, मानसिक संकलन को कहते हैं।" इसको विशेष वर्गीकरण या व्यावहारिक वर्गीकरण भी करते हैं।

(३) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में भेद का अभाव

कुछ तार्किक लोग उक्त दोनों प्रकार के वर्गीकरण में भेद का अभाव बतलाते हैं और कहते हैं कि एक अर्थ में सब प्रकार के वर्गीकरण कृत्रिम ही होते हैं क्योंकि उन सबका हम निर्माण करते हैं। प्राय: करके हम वस्तुओं का मानसिक संकलन कर उनको भिन्न-भिन्न वर्गों में रखते हैं। यह नहीं है कि प्रकृति के द्वारा वे हमें भिन्न रूपों में बने-बनाए मिलते हैं। जब कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण करना आरम्भ करता है तब वह अपनी इच्छानुसार समानता की बातों के आधार पर उपयोगी वर्गों का निर्माण करता है। अन्य तार्किकों का यह विचार है कि सब वर्गीकरण स्वाभाविक होते हैं, क्योंकि जिन समानता की बातों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है, वे वास्तव में प्रकृति में पाई जाती हैं। जब हम पुस्तकालय में पुस्तकों का वर्गीकरण करते हैं तब उनमें भी बाहरी समानता पाई जाती है जिसको हमने नहीं बनाया है। अत स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में भेद की रेखा खींचना असम्भव है, तथा हमारे लिये यह भी कहना कठिन है कि कहाँ स्वाभाविकता का आरम्भ होता है और कहाँ कृत्रिमता का आरम्भ होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों मे भेद सिद्ध करना अनावश्यक है। अब हम यहाँ स्वाभाविक वर्गीकरण और 'स्वाभाविक प्रकार' के सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

(४) स्वाभाविक वर्गीकरण और स्वाभाविक प्रकार

पहले यह बतलाया गया है कि स्वाभाविक वर्गीकरण अनेक समानता की मुख्य बातों को लेकर किया जाता है। यदि केवल बाह्य समानता की बातें ही हों तो उनके आधार पर वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। समानता की बातें खास होनी चाहियें। मिल महोदय के शब्दों में वे निम्नलिखित हैं "**खास समानता की बातें वे हैं जो स्वय अपने आप या अपने कार्यों द्वारा वस्तुओं को एक-सदृश बनाने में सहायक**

(६) नमूने या लक्षण के द्वारा वर्गीकरण

स्वाभाविक वर्गीकरण का आधार अत्यधिक मुख्य-मुख्य समानता की बातें हैं अतः इसमें लक्षण की आवश्यकता है। लक्षण में हम सम्पूर्ण भावार्थ लेते हैं। ह्वेवेल साहब का यह मत है कि वर्गीकरण का आधार नमूना[1] है। इसके विरुद्ध मिल महोदय का कहना है कि वर्गीकरण का आधार लक्षण[2] है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वाभाविक पदार्थों का वर्गीकरण साधारण समानता की बातों के आधार पर, स्वाभाविक वर्ग में किया जाता है, न कि विशेष-विशेष मुख्य समानता की बातों पर किया जाता है।

नमूना (Type) किसी जाति के श्रेष्ठ व्यक्ति[3] को कहते हैं। यह उस जाति के समस्त गुणों को पूर्ण रूप से प्रकट करता है। ह्वेवेल महोदय का कहना है कि स्वाभाविक वर्ग इन नमूनों के आधार पर बने हुए होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम चीते को नमूना मानकर इसकी ओर उस प्रकार के अन्य जन्तुओं को उसमें सम्मिलित कर सकते हैं, जैसे बिल्ली, तेंदुआ, बघेरा, कौगर। इसके विपरीत मिल महोदय का यह कहना है कि नमूने के द्वारा हमें वर्गीकरण की सूचना मिल सकती है, किन्तु वर्गीकरण का निश्चय तो केवल लक्षण के द्वारा ही होता है। हमें चाहिये कि किसी जाति के व्यक्तियों के मुख्य-मुख्य गुणों को लेकर वर्गीकरण करें, न कि नमूने को लेकर।

यहाँ यह बतलाना अनुचित न होगा कि ह्वेवेल साहब का मत सर्वसाधारण है किन्तु मिल महोदय का मत वैज्ञानिक है। साधारण रूप से हम साधारण समानता की बातों से संतुष्ट हो सकते हैं। लेकिन ये बातें केवल दिखावे के रूप हैं या गहरी हैं—इसका पता केवल लक्षण ही से लग सकता है। अतः वैज्ञानिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि ह्वेवेल की अपेक्षा मिल महोदय का मत पुष्टतर है। क्योंकि नमूने के द्वारा वर्गीकरण वैज्ञानिक वर्गीकरण में सहायता तो कर सकता है किन्तु वैज्ञानिक रूप को धारण नहीं कर सकता।

---

(1) Type. (2) Definition. (3) Eminent member.

(७) श्रेणी के द्वारा वर्गीकरण

जब कोई गुण अनेक जातियों में भिन्न भिन्न परिमाण में दृष्टिगोचर होता है तब हम उन जातियों को श्रेणियों में रखते हैं। साधारण वर्गीकरण की प्रक्रिया में हम पदार्थों को उनकी समानता और असमानता के आधार पर वर्गों में विभाजित कर देते हैं। यदि उनमें समानता होती है तो हम उन्हें उसी वर्ग में रखते हैं और यदि भिन्नता होती है तो अन्य वर्ग में रखते हैं और जब यह देखते हैं कि कुछ जातियों में एक गुण भिन्न भिन्न परिमाण में पाया जाता है तब हम उनका वर्गीकरण श्रेणियों में करते हैं। श्रेणियों मे वर्गीकरण करने का यही अर्थ है कि पदार्थों की जातियों को उनके गुण के भिन्न भिन्न परिमाणों के अनुसार श्रेणियों मे रखना। मिल महोदय ने श्रेणी के द्वारा वर्गीकरण की दो आवश्यकताएँ बतलाई हैं।

(१) वे वस्तुएँ जो एक विशेष गुण को प्रकट करती हैं उनको हमें एक बड़ी जाति में रखना चाहिये।

(२) पश्चात् इन वस्तुओं को उस गुण के परिमाण के अनुसार— जिनमें यह गुण सबसे अधिक पाया जाता हो और जिनमें सबसे कम पाया जाता हो—भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभाजित करके रखना चाहिये।

उदाहरणार्थ, इस प्रकार की जातियाँ जैसे, मनुष्य, पशु, पौधे इत्यादि, इन सबमें जीवन पाया जाता है, किन्तु इनमें जीवन के भिन्न भिन्न परिमाण होते हैं। हम इनको जातियों में रखते हैं और 'मनुष्य' को शीर्ष पर रखते हैं, पशुओं को बाद में और नीचे पौधों को। इस प्रकार श्रेणि के द्वारा वर्गीकरण उन मामलों में प्रयोग किया जाता है जहाँ एक गुण विशेष का किसी जाति में सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता है, अपितु भिन्न-भिन्न परिमाण में सबमें पाया जाता है। इसी हेतु से इस प्रकार के वर्गीकरण में हम सह-परिवर्तन-विधि को प्रयोग में लाते हैं।

(८) वर्गीकरण और विभाग

यह हमने पहले बतलाया है कि वर्गीकरण और विभाग प्रायः एक

समान ही प्रक्रियाएँ हैं। तथापि दोनों में भेद अवश्य है। विभाग में हम एक सामान्य या जाति को लेकर उसकी उप-जातियों में उसका विभाग करते हैं। इसके अन्दर हम किसी एक गुण को ले लेते हैं जो कुछ व्यक्तियों में पाया जाता है और कुछ में नहीं पाया जाता है और इसको विभाग का सिद्धान्त मानकर हम उच्चतर जातियों या सामान्यों को उपजातियों में विभाजित कर डालते हैं। जैसे, हम उच्चतर जाति, जीव को, मनुष्य और अन्य जन्तुओं में विभाजित करते हैं। इसके विपरीत वर्गीकरण में हम कुछ पदार्थों को लेते हैं और उनकी उनकी समानता या विलक्षणता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में रखते हैं। मनुष्य का वर्गीकरण करते हुए हम देखते हैं कि उनमें पशुओं के साथ कुछ खास विशेषताएँ पाई जाती हैं, अतः हम उन्हें 'जीव' जाति के अन्दर रखते हैं।

इस प्रकार विभाग में हम उच्चतर जाति से आरम्भ करते हैं और अल्पतर जाति की ओर बढ़ते चले जाते हैं, तथा वर्गीकरण में हम व्यक्तियों से आरम्भ करते हैं और उन्हें उच्चतर जातियों या सामान्यों में रखते चले जाते हैं। इसी कारण से विभाग को निगमनानुमानीय कहा जाता है और वर्गीकरण को क्योंकि इसके द्वारा व्यक्तियों का वर्गों में रक्खा जाता है सामान्यानुमानीय कहा जाता है। विभाग और वर्गीकरण में एक प्रकार का और भी भेद पाया जाता है। विभाग रूपात्मक प्रक्रिया है तथा वर्गीकरण विषयात्मक प्रक्रिया है। वर्गीकरण में हम यथार्थ वस्तुओं से काम लेते हैं किन्तु विभाग में हम तर्क-पूर्ण जाति को लेते हैं जिसे हम रूपात्मक नहीं समझते, जैसे हम व्यक्तियों को रूपात्मक समझते हैं। वर्गीकरण यथार्थ-क्रम से सम्बन्ध रखता है और विभाग विचारात्मक क्रम से सम्बन्ध रखता है।

मौलिक रूप से विचार करने पर प्रतीत होगा कि दोनों प्रक्रियाएँ एक-समान ही हैं। दोनों में हम वस्तुओं को, जो समान हैं, एकत्रित करते हैं; और जो भिन्न हैं उन्हें पृथक करते हैं। यथार्थ में दोनों प्रक्रियाएँ एकरूप नहीं हैं; किन्तु दोनों सह-सम्बन्धी[1] हैं।

(1) Co-related.

(६) वर्गीकरण और लक्षण

वैज्ञानिक वर्गीकरण में वस्तुओं को उनकी अत्यधिक और मुख्य-मुख्य समानता की बातों को लेकर वर्गों में रक्खा जाता है। लक्षण में इसके विपरीत, वस्तुओं के आवश्यक गुणों की निश्चिति की जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक वर्गीकरण लक्षण पर निर्भर रहता है। हम वस्तुओं को तभी वर्गों में रख सकते हैं जब हमें उनके मुख्य-मुख्य गुणों का बोध हो। जहाँ तक व्यावहारिक या कृत्रिम वर्गीकरण का सम्बन्ध है हम यथेच्छा रूप से कुछ बाहिरी समानता की बातों को छाँट लेते हैं, इसलिये व्यवहारिक वर्गीकरण का लक्षण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण, पद के द्रव्यार्थ से सम्बन्ध रखता है और लक्षण, पद के भावार्थ से सम्बन्ध रखता है। वर्गीकरण में हम वस्तुओं को जातियों में रखते हैं तथा लक्षण में हम उनके आवश्यक गुणों का निश्चय करते हैं। क्योंकि गुण, गुणी के अभाव में नहीं पाए जाते, इसलिए ये दोनों प्रक्रियाएँ सह सम्बन्धी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक वर्गीकरण की सीमाएँ

वैज्ञानिक वर्गीकरण की निम्नलिखित सीमाएँ हैं—

(१) जो सबसे अधिक सामान्य है उसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। वर्गीकरण में हम कम सामान्य से अधिक सामान्य की ओर चलते हैं। अत जो सबसे अधिक सामान्य है उसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। अर्थात् महा सामान्य (Summum genus) का वर्गीकरण करना असम्भव है।

(२) तटवर्ती वस्तुओं का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।. तटवर्ती वस्तुएँ वे कहलाती हैं जिनमें कुछ गुण तो एक जाति के पाए जाते हों, और कुछ गुण अन्य जाति के पाए जाते हों, जैसे, जैली (Jelly) एक पदार्थ है जिसमें घनत्व और तरलत्व दोनों गुण पाए जाते हैं। अतः इसका वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। स्पन्ज भी कुछ ऐसा ही पदार्थ है जिसको हम जन्तु भी कह सकते हैं और पौधा भी कह सकते हैं। वैज्ञानिक लोग इस प्रकार के पदार्थों का वर्गीकरण करने में अत्यन्त कठिनाई अनुभव करते हैं।

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक वर्गीकरण लक्षण पर अवलम्बित है। अतः जो सीमाएँ लक्षण की हैं वही सीमाएँ वर्गीकरण की हैं। जिन वस्तुओं का लक्षण नहीं हो सकता; उन वस्तुओं का वर्गीकरण भी नहीं हो सकता। यदि हम संतोषपूर्वक व्यक्तिगत पदार्थों के गुणों का निश्चय नहीं कर सकते तो उनका जातियों में वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण के लिये समानता और असमानता इन दोनों प्रकार के गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न—

(१) वर्गीकरण का लक्षण लिखकर इसका प्रयोग बतलाओ। वर्गीकरण का विभाग से अन्तर बतलाओ।

(२) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में क्या अन्तर है? क्या यह भेद माननीय है?

(३) कृत्रिम वर्गीकरण का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसका क्यों उपयोग किया जाता है? स्पष्ट उत्तर दो।

(४) स्वाभाविक प्रकार के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इसका स्वाभाविक वर्गीकरण से क्या सम्बन्ध है?

(५) वर्गीकरण का क्या नियम है? प्रत्येक का उल्लेख करके व्याख्यान करो।

(६) 'नमूना' वर्गीकरण में क्या कार्य करता है? नमूने के आधार पर वर्गीकरण की प्रक्रिया की सार्थकता सिद्ध करो।

(७) लक्षण और वर्गीकरण में क्या सम्बन्ध है? दोनों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(८) श्रेणी द्वारा वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? क्या इस प्रकार की प्रक्रिया को वैज्ञानिक कहा जा सकता है?

(९) वैज्ञानिक वर्गीकरण की सीमाएँ निर्धारित करो। अन्तर्वस्तुओं का वर्गीकरण क्यों नहीं किया जा सकता?

(१०) चमकादर और मूगा का वर्गीकरण किस प्रकार करोगे ? वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर उत्तर दो ।

(११) लक्षण, विभाग, और वर्गीकरण इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करो । तथा तीनों के लक्षण लिखकर उदाहरण भी दो ।

(१२) वर्गीकरण में जाति, क्रम, उपराज्य, राज्य वगैरह पदों का प्रयोग किया जाता है । प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(१३) 'लक्षण के निर्णय की प्रक्रिया वर्गीकरण से अभिन्न है' इस कथन पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करो ।

अध्याय १३

(१) परिभाषा और नामकरण

विज्ञान के अन्दर जितने नामों का प्रयोग होता है उनका अच्छी तरह लक्षण किया जाता है और उनका अर्थ भी निश्चित होता है। जैसे, रेखा, त्रिभुज, वृत्त इत्यादि शब्द रेखागणित में लक्षित हो कर निश्चित अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। किन्तु जिन शब्दों का जनता की भाषा में प्रयोग किया जाता है उनके अर्थ समय के अनुसार बदलते रहते हैं। जैसे किसी समय देवानांप्रिय शब्द बड़े सुन्दर अर्थ में प्रयोग किया जाता था लेकिन वही शब्द भ्रमवश-साम्प्रदायिक संस्कृतियों के संघर्ष के कारण भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगा अर्थात् इसी शब्द का सुन्दर अर्थ देवों का प्रिय बदलकर 'मूर्ख' बन गया। उसी प्रकार 'महाराज' शब्द जिसका अर्थ अच्छे विचार वाला मनुष्य होता है, बदलकर उस मनुष्य के अर्थ में ही गया जो सीधा-साधा अर्थात् मूर्ख हो। बनारस में 'महाराज' शब्द जैसे रसोइये के लिये प्रयोग होता है यद्यपि महाराज का अर्थ बड़ा राजा है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शब्दों के अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। शब्दों के अन्दर या तो सामान्य रूप से परिवर्तन होता है या विशेष रूप से। जब शब्द सामान्य रूप में प्रयोग किये जाते हैं तब उनका भावार्थ कम हो जाता है जैसे अंग्रेजी भाषा में तैल (Oil) शब्द का प्रयोग प्रथम जैतून के तैल के अर्थ में प्रयोग किया गया था किन्तु बाद में यह सब प्रकार के तैलों के लिये प्रयोग किया जाने लगा। यह उदाहरण इस बात को बतलाने वाला है कि शब्द किस प्रकार सामान्य रूप से अपने अर्थ को बदल देते हैं। जब शब्द विशेष रूप से अर्थ को बदलते हैं तब उनका भावार्थ बढ़ जाता है। तार्किकों का कर्तव्य है कि वे शब्दों को सामान्य रूप में प्रयोग करें और उनके लक्षण बनाकर उनके अर्थों को निश्चित कर दें,

तभी उनका सुन्दर प्रयोग हो सकता हैं। अन्यथा एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने से अनेकार्थक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है।

नामों या शब्दों का वैज्ञानिक ढग से या तो (१) असाक्षात् प्रयोग होता है या (२) साक्षात्। असाक्षात् रूप से नाम इसलिये लाभ-दायक हैं क्योंकि वे विचारों के साधन होते हैं और साक्षात् रूप से इसलिये लाभ-दायक होते हैं क्योंकि वे सामान्य वाक्य बनाने में हमारी सहायता करते हैं।

(२) नामों का असाक्षात् प्रयोग

असाक्षात् रूप से नाम विचारों के साधन होने के कारण प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य नाम, शुद्ध विचारों को मिश्र विचारों में बाँध देते हैं और इस प्रकार विचार करने में अल्प समय लगता है। तथा इस प्रकार हमें इनके द्वारा विचारों को दूसरों तक पहुँचाने में आसानी होती है। ये मस्तिष्क में भी अधिक काल तक धारण किये जा सकते हैं और जब चाहें तब पुन इनको पैदा किया जा सकता है। हम 'सभ्यता' शब्द को ले सकते हैं। यह शब्द किस प्रकार हमें एक विशिष्ट अर्थ में बाँध देता है। इसी एक शब्द के अन्दर—एक बौद्धिक स्तर, एक आचरण का स्तर, तथा एक शिक्षा का स्तर—ये सब एकत्रित किये हुए प्रतीत होते हैं। यदि यह एक शब्द न हो तो हमें उन सब विचारों के लिये अलग अलग शब्दों का प्रयोग करना पड़े। सामान्य शब्द मस्तिष्क में वही कार्य करते हैं जैसा कि जिल्द पुस्तक का काम करती है। इसके बिना मस्तिष्क छिन्न-भिन्न रूप से कार्य कर सकता है न कि समष्टि रूप से।

(३) नामों का साक्षात् प्रयोग

साक्षात् रूप से नाम सामान्य वाक्यों के निर्माण में सहायक होते हैं। सामान्य वाक्यों द्वारा हम अतीत का इकट्ठा ज्ञान कर सकते हैं और मनुष्य जाति के सारे ज्ञान-विज्ञान को एक रूप में समझ सकते हैं और उसको हम एक वाक्य में रख कर स्मरण कर सकते हैं। एकरूपता के नियमों का भी ज्ञान इनके द्वारा हो सकता है। नामकरण का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि यह हमें शब्दों की मितव्ययता में सहायक होता है जिससे हम अनन्त

वस्तुओं के लिये अलग-अलग नाम न देकर केवल कुछ सामान्य नामों से ही अपना कार्य चला लें; किन्तु नामकरण से हमारा उद्देश्य यही है कि हम अपने, तुलना से प्राप्त सामान्य नियमों का संकलन कर सकें। यदि हम विश्व की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न नामों की योजना करें तो भी हम सामान्यनामों के अभाव में, तुलनाजन्य सामान्य नियमों के परिणामों को एकत्रित नहीं कर सकते।

(४) वैज्ञानिक भाषा की आवश्यकताएँ

सामान्य नाम केवल इसलिये ही लाभप्रद नहीं हैं क्योंकि वे विचारों के ग्राहक होते हैं किन्तु वे इस कारण अधिक लाभ-दायक गिने जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा हम सामान्य वाक्यों का निर्माण करने में सफल होते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—वे कौनसी अवस्थाएँ हैं जिनके पूर्ण होने पर हम वैज्ञानिक क्षेत्र के अन्दर नामों की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं? यही प्रश्न दूसरी प्रकार से भी रक्खा जा सकता है? विज्ञान का कार्य है सामान्य नियमों की खोज करना और उनकी सिद्धि करना। अतः इन सामान्य सत्यों को प्रतिपादन करने के लिये वैज्ञानिक भाषा में सामान्य नामों की वृद्धि होती है यहाँ प्रश्न है—वे मुख्य आवश्यकताएँ कौन सी हैं जिनकी पूर्ति होने पर वैज्ञानिक भाषा का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है?

संक्षेप में वैज्ञानिक भाषा की दो आवश्यकताएँ हैं—(१) प्रत्येक अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम होना चाहिये (२) प्रत्येक सामान्य नाम का एक और सही अर्थ होना चाहिये।

(१) प्रथम, प्रत्येक मुख्य अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम होना चाहिये।

हमें प्रत्येक मुख्य अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम की आवश्यकता होती है। 'हमें ऐसे किसी अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये जिसको हम उचित नाम के बिना प्रकट न कर सकें। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक भाषा के लिये हमें नामकरण और परिभाषा की आवश्यकता है।

नामकरण, वस्तुओ की जातियों के नामों की पद्धति को कहते है जिसका प्रत्येक विज्ञान में समुचित उपयोग होता है। जैसे रसायन विज्ञान में अनेक तत्वों के लिये तथा उनके मिश्रणों के लिये नाम रक्खे जाते हैं। भूगर्भ-विज्ञान में चट्टानों की जातियों और स्तरों के लिये अलग-अलग नाम होते हैं। प्राणी-विज्ञान में अनेक प्रकार की प्राणियों की जातियों के लिये पृथक्-पृथक् नाम होते हैं। वनस्पति-विज्ञान में अनेक प्रकार के वृक्षों और पौधों की जातियों के लिये नाम होते हैं, इत्यादि।

परिभाषा, वस्तुओं के भाग, गुण, और क्रियाओं को वर्णन करने के लिये नाम रखने की पद्धति को कहते है।

इस प्रकार (१) किसी वस्तु के प्रत्येक सपूर्ण भाग को वर्णन करने के लिये नामों का प्रयोग करना चाहिये जैसे, जानवरों के सिर, अग, हृदय, नस, जोड आदि के लिये नाम होते हैं। पौधों में, डठल, पत्तियाँ फूल, कली आदि के नाम होते हैं। (२) किसी वस्तु के प्रत्येक गुण को वर्णन करने के लिये नाम होने चाहिये। जैसे, फैलाव या विस्तार, भार या वजन, ठोसपन, अभेदकता, लचीलापन, चिकनाहट इत्यादि। (३) किसी वस्तु की प्रत्येक क्रियाओं के लिये अलग-अलग नाम होने चाहिये जैसे, शरीर की स्वासक्रिया, रक्तसचारक्रिया, पाचनक्रिया, आकर्षण-क्रिया, आकुञ्चनक्रिया, गतिक्रिया इत्यादि।

नामकरण और परिभाषा का संतुलन

इस प्रकार नामकरण और परिभाषा ये दोनों नाम रखने की पद्धतियाँ हैं। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि नामकरण वस्तु की जातियों के नाम रखने की पद्धति को कहते हैं, इसके विपरीत परिभाषा, वस्तु के भाग, अग, गुण और क्रियाओं के नाम रखने की पद्धति को कहते हैं। प्राणिविज्ञान में प्राणियों की अनेक जातियों के नाम रखने को नामकरण कहते हैं तथा प्राणियों के अग, उनके गुण, क्रिया, आदि के नाम रखने को परिभाषा कहते हैं। कभी-कभी तार्किक नामकरण और परिभाषा को

समानार्थ में भी प्रयोग करते हैं और उसके द्वारा किसी विज्ञान के समस्त खास-खास नामों को ग्रहण कर लेते हैं।

(२) द्वितीय, प्रत्येक सामान्य नाम का निश्चित और स्पष्ट अर्थ होना चाहिये। वैज्ञानिक भाषा की दूसरी आवश्यकता यह है कि प्रत्येक शब्द जो इसमें प्रयोग किया जाय उसका निश्चित और स्पष्ट अर्थ होना चाहिये। अर्थात् जो भी शब्द विज्ञानों में प्रयोग किये जाँय वे सर्वदा एक से नियुक्त होने चाहिये। कभी-कभी उसकी पूर्ति खास-खास शब्दों के निर्माण करने से होती है जो उसी समय काम में लाये जाते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक विज्ञान में ऐसे शब्दों को उधार लेना पड़ता है जो अब भी प्रचार में आ रहे हैं। ऐसी अवस्था में इन नामों का सम्यक् लक्षण करना चाहिये। यही कारण है कि नामकरण का लक्षण से विशेष सम्बन्ध है। किसी जाति या वस्तुओं के नाम मनमानी नहीं रख दिये जाते हैं; किन्तु उनका नाम-करण या परिभाषा उनके साधारण आवश्यक गुणों के आधार पर की जाती है।

नाम-करण का इस प्रकार वर्गीकरण से भी सम्बन्ध है। वर्ग चाहे वे कृत्रिम हों या स्वाभाविक जिनमें वस्तुओं को विभाजित किया है, न तो उन्हें स्मरण रक्खा जा सकता है और न उन्हें दूसरों तक भेजा जा सकता है, यदि उन्हें नामों के द्वारा संकेतित न किया जाय। नामकरण वस्तुओं की जातियों के नाम रखने की प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें वर्गों के नाम रखे जाते हैं। स्वाभाविक वर्गों की संख्या इतनी अधिक है कि उनमें से प्रत्येक वर्ग के लिये अलग-अलग नाम रखना असम्भव सा प्रतीत होता है। यदि इस प्रकार के नाम गढ़ भी लिये जाँय तो उनको स्मरण रखना अत्यन्त कठिन होगा। साधारणतया से पौधों की संख्या करीब १ से है। यदि उनको उपजातियों को भी शामिल किया जाय तो उपर्युक्त संख्या से कई गुनी संख्या बन जायगी। अतः कोई न कोई विधि आवश्यक है जिसके द्वारा हम इस संख्या को कम करने में सफल हो सकें। कुछ विज्ञानों के अन्दर जिस विधि का प्रयोग किया गया है उसे दुहरी पद्धति (Binary Method) कहते हैं। दुहरी पद्धति एक प्रकार से दो अर्थ करने की

पद्धति है जिसका प्रयोग वनस्पति-विज्ञान, प्राणिविज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि में किया जाता है। वनस्पति-शास्त्र में किसी पौधे का नाम दो शब्दों का बना हुआ होता है—(१) सज्ञा या विशेष्य और (२) विशेषण। इसमें सज्ञा या विशेष्य जाति को बतलाता है और विशेषण उपजाति को बतलाता है। इस प्रकार जेरेनियम (Gerenium) नामक पौधे की १३ उपजातियाँ होती हैं। जैसे, जेरेनिअम-फीनम, जेरेनिअम-नोडोसम, इत्यादि। रसायन विज्ञान में मिश्रणों का वर्णन करने के लिये द्विगुणित नाम प्रयोग किये जाते हैं। इसमें मूल धातु का नाम मिश्रण में दिखलाया जाता है, जैसे लोहे धातु के मिश्रणों का वर्णन करना हो तो हम उसकी सब उपजातियों में, जैसे फैरस आक्साइड (Ferrous Oxcide) आदि में लोह शब्द का प्रयोग करेंगे।

(५) शब्दों के अर्थ परिवर्तन का इतिहास

जिन शब्दों का साधारण जनता में व्यवहार होता है उनका अर्थ समय समय पर बदलता रहता है। इसके कई हेतु हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं।

(१) **आकस्मिक भावार्थ** (Accidental Connotation)। किसी शब्द के अर्थ के परिवर्तन में प्राय करके यह कारण होता है कि हम शब्द के अर्थ में किसी ऐसी अवस्था को शामिल कर लेते हैं जो मूल में केवल आकस्मिक अवस्था थी। यही नही होता कि आकस्मिक अवस्था को हम उसमें शामिल कर लेते हैं किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि मूल का अर्थ बिलकुल अधेरे में पड जाता है और कभी-कभी तो बिलकुल बदल जाता है। जैसे 'नास्तिक' शब्द पहले इस अर्थ में प्रयोग होता था कि जो मनुष्य परलोक आदि में विश्वास नही करता, वह नास्तिक है। बाद में नास्तिक का अर्थ यह हो गया कि नास्तिक वह है जो वेदों में विश्वास नही करता। अब वे सब नास्तिक गिने जाते हैं जो हिन्दू या वेद-धर्म में विश्वास नही करते। देवाना प्रिय शब्द का भी इतिहास करीब-करीब ऐसा ही है। जब ब्राह्मण धर्म का जोर था तब इसका अर्थ 'देवों का प्रिय' को छोडकर, मूर्ख, बन गया।

(२) **शब्द का प्रयोग-संक्रमण** (Transitive application of words)। दूसरा शब्द के अर्थ में परिवर्तन का हेतु शब्द का प्रयोग-सक्रमण

है। जब मनुष्य एक नवीन पदार्थ को देखते हैं तब प्रायः मनुष्यों में नये शब्द बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती; वे, जो शब्द विद्यमान हैं उन्हीं में कुछ हेरफेर करके काम चलाने की कोशिश करते हैं। जैसे 'गाय' शब्द पहले से ही सास्नादिमान पदार्थ के लिये प्रयोग होता चला आया है किन्तु जब लोगों ने गाय के समान ही नीले रंगवाले अन्य वस्तु को देखा तो लोगों ने उसका नाम नील-गाय रख दिया। अंगरेजी भाषा में 'आयल' शब्द किसी समय जैतून के तेल के लिये प्रयोग होता था किन्तु आजकल यह सब प्रकार के तेलों के लिये प्रयोग होता है। इसका प्रयोग तो यहाँ तक बढ़ गया है कि कितनी ऐसी वस्तुओं को भी आयल कहा जाता है जिनकी सूरत शक्ल तेल से सर्वथा भिन्न है। शब्दों में अर्थ परिवर्तन या तो सामान्यीकरण (Generalisation) द्वारा होता है या विशेषीकरण (Specialisation) द्वारा होता है, या दोनों द्वारा। सामान्यीकरण का अर्थ है शब्द का मौलिक अर्थ बढ़ा देना। जैसे, 'आयल' शब्द का मौलिक अर्थ था जैतून का तेल किन्तु अब यह शब्द सब प्रकार के तेलों के लिये प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार नमक शब्द पहले केवल समुद्रीय नमक के लिये प्रयोग होता था किन्तु अब सब प्रकार के नमकों के लिये नमक शब्द का प्रयोग होता है। विशेषीकरण करण का अर्थ है शब्द के अर्थ को कम कर देना। उदाहरणार्थ 'कहानी' शब्द पहले एक छोटे से वर्णनात्मक आख्यान को कहते थे किन्तु अब यह शब्द झूठी काल्पनिक कहानियों के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे बनारस में गुरु शब्द पहले अध्यापकों के लिये प्रयोग होता था किन्तु अब गुरु शब्द से लोग गुण्डा का अर्थ समझते हैं। पहले कुमारिल वगैरह बड़े बड़े विद्वान गुरु कहलाते थे किन्तु आजकल गुरु शब्द का अर्थ अधिकतर बनारस में गुण्डा ही लिया जाता है। इस प्रकार अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। शब्द-शास्त्र में इसके अनेक उदाहरण मिल जायंगे।

अभ्यास प्रश्न

(१) परिभाषा और नामकरण में क्या अन्तर है? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(२) नामों के असाक्षात् और साक्षात् प्रयोग से आपका क्या अभिप्राय है ? उदाहरण देकर समझाओ।

(३) वैज्ञानिक भाषा की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं ? सबका उल्लेख करके उनकी उपयोगिता सिद्ध करो।

(४) लक्षण और वर्गीकरण का नामकरण से क्या सम्बन्ध है ? इनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(५) शब्दों के अर्थ परिवर्तन के क्या कारण हैं ? इसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालो।
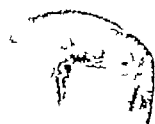
अध्याय १४

(१) सामान्यानुमान के दोष

विशेषानुमान का विवेचन करते हुए प्रथम भाग के अन्त में हमने विशेषानुमान सम्बन्धी दोषों का पूर्ण रूप से व्याख्यान किया है और बतलाया है कि ये दोष विशेषानुमान के नियमों का उल्लंघन करने से उत्पन्न होते हैं। उसके साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि कुछ दोष भाषा के अशुद्ध-प्रयोग से उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम अर्थ-तार्किक दोष कहते हैं। इस अध्याय में हम मुख्य-मुख्य सामान्यानुमान सम्बन्धी दोषों का वर्णन करेंगे। तथा इसी सम्बन्ध में कुछ अतार्किक या तर्कबाह्य दोषों का भी वर्णन करेंगे जो इस प्रकरण में उपयोगी हैं।

सामान्यानुमान के दोष दो प्रकार के होते हैं —(१) तर्क-सम्बन्धी और (२) अतर्क-सम्बन्धी। अतर्क-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित हैं —

(१) लक्षण के दोष।
(२) वर्गीकरण के दोष।
(३) नामकरण के दोष।
(४) प्रत्यक्षीकरण के दोष।
(५) प्राक्-कल्पना के दोष।
(६) स्पष्टीकरण के दोष।

तर्क-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित हैं —

(१) कारणता के दोष।
(२) सामान्यीकरण के दोष।
(३) उपमानरूप-सामान्यानुमान के दोष।

उपर्युक्त वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से विलकुल स्पष्ट हो जायगा।

अतार्किक या तर्कवाह्य दोष कई प्रकार के होते हैं, जैसे, (१) स्वाश्रय दोष (Peticio Principii) (२) अर्थान्तर दोष या तर्काज्ञान दोष (Ignoratio Elenchi) (३) अनेक प्रश्नों का दोष (Fallacy of many questions) (४) अप्रतिज्ञा दोष (Non-sequitur) असत्कारण दोष (Non causa pro-causa)
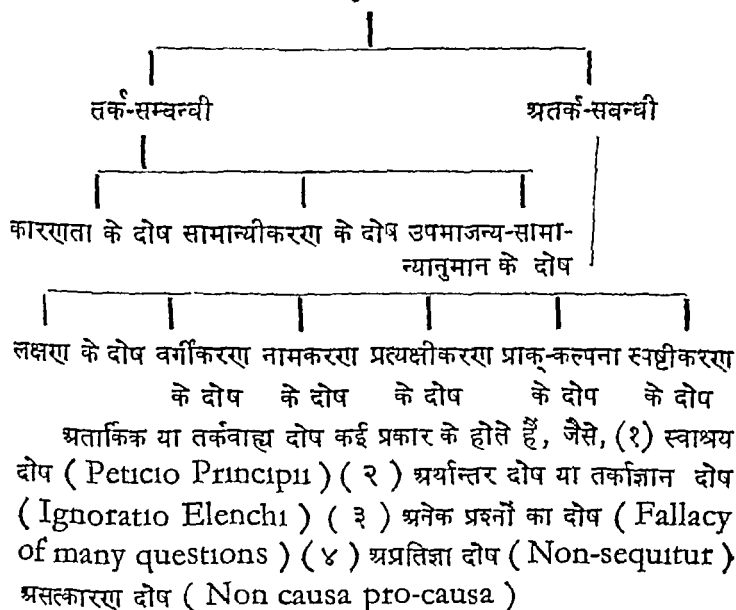
अब हम सर्व-प्रथम अतर्क-सम्बन्धी दोषों का स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे।

(२) अतर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष

सामान्यानुमान के दोष या तो तर्क-सम्बन्धी हो सकते हैं या अतर्क-सम्बन्धी।

इनमें अतर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष वे हैं जो उन प्रक्रियाओं के नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होते हैं जिनका सामान्यानुमानीय तर्क से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता किन्तु किसी प्रकार इनसे लगे रहते हैं या उनके सहायक होते हैं। सामान्यानुमान की सबसे अधिक सहायक प्रक्रियाएँ निम्नलिखित हैं—(१) वैषयिक लक्षण (Material Definition) अर्थात् पदों के भावों का ज्ञान प्राप्त करने के वाद उनके लक्षण वनाने की प्रक्रिया (२) वर्गीकरण

(Classification) अर्थात् स्वाभाविक पदार्थों का उनकी समानता के अनुसार वर्गीकरण करने की प्रक्रिया और (३) नाम-करण (Nomenclature) अर्थात् वर्गों के लिये नाम-करण की प्रक्रिया अथवा परिभाषा (Terminology) अर्थात् पदार्थों के भागों के या गुणों के या क्रियाओं के नाम-करण की प्रक्रिया। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया के कुछ न कुछ नियम अवश्य हैं जिनसे इनकी व्यवस्था की जाती है। यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जायगा तो अवश्य ही दोष उत्पन्न होंगे। यहाँ इसी हेतु से लक्षण वर्गीकरण और नामकरण के दोषों का उल्लेख किया गया है।

लक्षण के दोष (Fallacies of Definition) तब उत्पन्न होते हैं जब हम किसी पद के जिसका हम लक्षण बनाना चाहते हैं आवश्यक गुणों के निश्चय करने में गड़बड़ पैदा कर देते हैं। जब एक काम चलाऊ लक्षण बना लिया जाता है तब हमें उस लक्षण की लक्षण के नियमों के अनुसार अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये। इसका विशेष विवेचन तर्कशास्त्र के प्रथम भाग (निगमनानुमान) में किया जा चुका है। इसका अध्ययन वहीं से कर लेना चाहिये।

वैज्ञानिक वर्गी करण के दोष तब उत्पन्न होते हैं जब हम पदार्थों का वर्गीकरण उनके अधिक-व्यापक और अत्यन्त आवश्यक समानता की बातों के आधार पर, करने में गलती करते हैं। यदि हमने कोई वर्गीकरण किया है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी जाँच उसके तत्-विषयक नियमों के अनुसार, अच्छी प्रकार कर डालें। यदि हम पदार्थ में वर्गीकरण के नियमों का उल्लंघन करते हैं तो अवश्य ही हमारा वर्गीकरण गलत होगा। इसके परीक्षण में हमें विभाग (Division) से भी सहायता ले-लेनी चाहिये क्योंकि वर्गीकरण और विभाग दोनों प्रक्रियाएं प्रायः एक सी ही हैं यदि उन पर भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार किया जाय। इसका विशेष विवेचन तर्कशास्त्र के प्रथम भाग के 'विभाग' के अध्याय में किया जा चुका है।

नाम करण (Nominclature) और परिभाषा (Terminology) के दोष तब उत्पन्न होते हैं जब पदों या नामों के निश्चित अर्थ

नहीं किये जाते हैं अथवा जब उनका उपयुक्त अर्थ में प्रयोग नही किया जाता है। नामों को अवश्य ही कुछ अवस्थाओं[1] की पूर्ति करना चाहिये यदि वे विज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होना चाहते हैं। यदि वे उन शर्तों को पूरी करने में असमर्थ होते हैं तो उनका वैज्ञानिक क्षेत्र में कोई उपयोग नही।

अतर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष तब पैदा होते हैं जब हम उन प्राक्रियाओं और नियमों का, जिनका सामान्यानुमानीय तर्कों से घनिष्ट सम्बन्ध है, उल्लघन करते हैं यद्यपि ये प्रक्रियाएँ स्वय अतर्कशील स्वभाव की होती हैं, जैसे, प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया, प्राक्कल्पना के निर्माण की प्रक्रिया या स्पष्टीकरण की प्रक्रिया।

यह हम पढ चुके हैं कि प्रत्यक्षीकरण, सामान्यानुमानीय प्रक्रिया के लिये मसाला या सामग्री प्रदान करता है। यह सत्य है कि प्रत्यक्षीकरण, प्रायः करके अज्ञात रूप से तर्क के तत्व में मिला हुआ रहता है किन्तु इसका मुख्य ध्येय सामान्यानुमानीय तर्क के लिये मसाला या पदार्थ इकट्ठे करना है। प्रत्यक्षीकरण के दोष दो प्रकार के हैं—(१) अप्रत्यक्षीकरण (Non observation) और (२) प्रत्यक्षीकरण (Mal-observation)। क्योंकि इन दोनों दोषों का प्रत्यक्षीकरण के अध्याय में अच्छी तरह विवेचन हो चुका है अत उसकी पुनरावर्तन करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही। जहाँ तक 'प्राक्कल्पना' (Hypothesis) का सम्बन्ध है इसको भी अपने नियमों का पालन करना चाहिये जिनके अनुसार इसका निर्माण किया जाता है। यदि उन नियमों का उल्लघन किया जायगा तो हमारी प्राक्कल्पना अयुक्त या अनुचित प्राक्कल्पना (Illegitimate Hypothesis) कहलायगी।

स्पष्टीकरण (Explanation) के विषय में तो यह पहले बतलाया जा चुका है कि वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण, जन-साधारण-स्पष्टीकरण से भिन्न होता है। जो स्पष्टीकरण जनसाधारण के लिये किया जाता है वह वैज्ञानिक दृष्टि से

(1) Conditions

अयुक्त स्पष्टीकरण कहलाता है। इसका पूर्ण पर्यालोचन स्पष्टीकरण के अध्याय में अच्छी तरह किया जा चुका है।

अब हम तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोषों का विवेचन करना प्रारम्भ करते हैं।

(३) तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष—

तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष (Inferential Inductive-fallacies) सामान्यानुमानीय तर्कों के नियमों को उल्लंघन करने से होते हैं। युक्त सामान्यानुमान तीन प्रकार का होता है (१) वैज्ञानिक सामान्यानुमान (Sceintific Induction) (२) साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान (Induction per simple enumeration) और (३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान (Analogy)। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में हमारा तर्क कार्य-कारण-सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है, साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हमारा तर्क केवल अबाधित अनुभव पर निर्भर रहता है तथा उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हमारा तर्क अपूर्ण समानता पर आधारित रहता है। इनमें से प्रत्येक सामान्यानुमान के कुछ नियम हैं। यदि हम उनका उल्लंघन करें तो हम दोष पैदा करेंगे। अतः सामान्यानुमानीय दोष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) कारणता के दोष[1] (२) अनियमित सामान्यीकरण के दोष[2] (३) मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान[3] के दोष।

(१) कारणता के दोष

वैज्ञानिक दृष्टि से कारण अपरिवर्तनीय उपाधि-रहित आसन्न पूर्वावस्था-रूप होता है अथवा विध्यात्मक या निषेधात्मक अवस्थाओं के समूह को कारण कहते हैं। किन्तु साधारण रूप से हम कारण की किसी मुख्य या प्रभावक अवस्था के साथ सामञ्जस्यता स्थापित करते हैं जिसको हम अपनी इच्छा के अनुसार छाँट लेते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि जितने जन-साधारण के कारणता के बारे में मन्तव्य हैं वे सब वैज्ञानिक

---

(1) Fallacies of causation (2) Fallacies of illicit generalisation (3) Fallacies of false Analogy

दृष्टि से दोष युक्त हैं। इस प्रकार कारणता के दोष अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य नीचे दिये जाते हैं।

(अ) काकातालीय दोष (Post hoc ergo propter hoc)।

कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है किन्तु प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्था कारण नही कहलाती। किसी भी पूर्ववर्ती अवस्था को कारण मान बैठना काकतालीय दोष को पैदा करना है जिसका पारिभाषिक अर्थ यह है—चूँकि इसके बाद उत्पन्न हुआ इसलिये इसका कारण यही होना चाहिये (After this, therefore on account of this) यह एक साधारण सी गलती है और इस प्रकार अनेक दोषों को जन्म देती है, जैसे, एक बार ऐसा हुआ कि आकाश में धूमकेतु (पुच्छलतारा) के उदय होने पर किसी राजा की मृत्यु हो गई। इससे अन्ध विश्वासी पुरुषों ने यह अनुमान लगा लिया कि धूमकेतु के उदय होने से राजा की मृत्यु होती है। इस दोष का अच्छा उदहरण हमें शेक्सपीयर के जुलिअस सीज़र (Julius Caesar) नामक नाटक में मिलता है। सीजर की धर्मपत्नी कलपूर्निया ने सीज़र को सेनेट में जाने से रोका क्योंकि उसने गत रात्रि में बुरा स्वप्न देखा था और कुछ अशुभ लक्षण भी देखे थे। जब सीज़र ने अपनी धर्मपत्नी से पूछा कि इन अशुभ स्वप्नों और लक्षणों का उसके साथ ही क्यों सम्बन्ध है और अन्य मनुष्यों के साथ क्यों नही ? तब उसकी धर्मपत्नी ने उत्तर दिया—

'जब भिखारी मरते हैं तब धूमकेतु नही दिखाई देते हैं किन्तु राज कुमारों की मृत्यु की सूचना स्वर्गीय वस्तुएँ स्वय देती हैं'।

इसक स्पष्ट अर्थ यही है कि धूमकेतुओं के उदयमें और राजाओं की मृत्यु में कुछ न कुछ अवश्य कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हम अपने दैनिक जीवन में भी इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों के आधार पर अनेक प्रकार के अन्दाजे लगाया करते हैं जो इस प्रकार के दोषों को जन्म देते हैं। यदि कोई दुर्भाग्य पूर्ण घटना उत्पन्न होती है तो प्राय करके हम यह कह देते हैं कि हमने अमुक अशुभ दिन को यात्रा की इस-लिये ऐसा हुआ। या किसी ने चलते समय छींक दिया या रास्ते में किसी

विधवा के दर्शन हुए, इत्यादि। प्राचीन समय में राजा-लोग अपने दरबार में ज्योतिषियों या निमित्त-ज्ञानियों को रक्खा करते थे जो इस प्रकार की घटनाओं का व्याख्यान किया करते थे। स्वप्नों की भी व्याख्या इसी प्रकार हुआ करती थी किन्तु धीरे-धीरे वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ अन्ध-विश्वास समाप्त होते चले गये। किन्तु कुछ अन्धविश्वास अब भी जीवित हैं जिनका आम जनता में प्रचार है। और उनके प्रभाव से पढ़े लिखे मनुष्य भी अछूते नहीं हैं।

(ब) समग्र कारण के लिये केवल एक अवस्था को ही पर्याप्त समझना या दूरवर्ती अवस्था को ही कारण समझ बैठना।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि कारण विध्यात्मक और निषेधात्मक अवस्थाओं के समूह को कहते हैं किन्तु यदि हम किसी एक मुख्य अवस्था को चाहे वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो कारण मान बैठें तो अवश्य ही कारणता का दोष उत्पन्न होगा। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य नसैनी (Ladder) से फिसल गया और मर गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फिसलना मनुष्य की मृत्यु का कई कारणों में से एक कारण है किन्तु साधारण तौर से सब लोग यही समझते हैं कि उसका नसैनी से गिरना ही मृत्यु का कारण है। उसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई सूखे ईन्धन में लगाते हैं तब उसमें आग लग जाती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि केवल जलती हुई दियासलाई का लगाना ही आग पैदा होने का कारण है। जब हम यह मान बैठते हैं कि जलती हुई दियासलाई ही केवल आग पैदा करने वाली है तब हम गलती करते हैं और हमारा तर्क दोष युक्त होता है। कुछ लोग अपनी असफलता का कारण अवसरों के अभाव को ही बतलाया करते हैं, इत्यादि। अतः कारण का ठीक अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम सब अवस्थाओं पर उचित रूप से विचार करें और ऐसी गलती कभी न करें कि अनेक अवस्थाओं में से केवल एक अवस्था को ही कारण मान लें चाहे वह कितनी ही प्रभावक क्यों न हो।

कभी-कभी यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम किसी पूर्ववर्ती अवस्था

को ही किसी कार्य का कारण मान लेते हैं। जैसे, यह कहा जाता है कि रूस पर हिटलर की चढाई करना, उसके पतन का कारण था। यह सम्भव हो सकता है कि हिटलर का रूस पर चढाई करना उसके पतन का एक मुख्य कारण हो, किन्तु केवल यही एक पतन का कारण था, यह मानना सर्वथा ग़लत है। उसके पूर्ण पतन के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी एक ही आकर्षक सफलता का उदाहरण, मनुष्य की उन्नति का कारण कहा जाता है और हम अन्य अवस्थाओं पर बिल्कुल विचार नही करते। किन्तु अन्य अवस्थाएँ भी उन्नति में उतनी ही सहायक होती हैं, जितनी कि वह। अत' यह स्पष्ट है कि दूरवर्ती अवस्था को कारण मानकर जब हम किसी कार्य की व्याख्या करते हैं तो उपर्युक्त दोष उत्पन्न होता है।

(स) जब हम सहवर्ती घटनाओं को आपस में कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित बतलाते हैं तब भी कारणता का दोष उत्पन्न होता है। जैसे, कोई मनुष्य तावीज़ पहन कर किसी दुर्घटना से मुक्ति पा जाता है, जिसके अन्दर अन्य फस जाते हैं, तो वह तावीज़ का पहनना दुर्घटना से निर्मुक्ति का कारण समझता है। किन्तु यह कारणता का दोप है।

(ह) जब हम उमी कारण के सहभूकार्यो को एक दूसरे का कार्य-कारण मान लेते हैं तब भी यह दोष उत्पन्न होता है। जैसे, हम सोचते हैं कि गर्मी के मौसम में अत्यधिक गर्मी का कारण, थर्मामीटर में पारे का चढना है किन्तु इसके विपरीत यह बिलकुल ठीक है कि पारे का चढना और अत्यधिक गर्मी का होना दोनों उसी कारण के सहभूकार्य हैं—अर्थात् तापमान के बढने से ऐसा होता है। इसी प्रकार ज्वार का कारण भाटा कहा जा सकता है और भाटे का कारण ज्वार कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ में दोनों ही उसी कारण अर्थात् चन्द्र के प्रभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के समूह-कार्यो को उसी कारण से उत्पन्न होने से यदि उन दोनों का आपस में कार्य कारण-भाव माना जाता है तो हम कारणता का दोष उत्पन्न करते हैं।

(२) अनियमित सामान्यीकरण के दोष या सामान्यीकरण के दोष

साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम अबाधित अनुभव के आधार पर तर्क करते हैं और इस प्रकार के अनुमान का मुख्य विश्वासक उदाहरणों की संख्या पर तथा हमारे अनुभव के विस्तार पर निर्भर रहता है। किन्तु जन-साधारण कुछ थोड़े से ही उदाहरणों को देखकर जिनका क्षेत्र संकुचित है सामान्यीकरण कर बैठते हैं। इस प्रकार करने से अनियमित-सामान्यीकरण[1] का दोष उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति बनारस जाता है और वहाँ कुछ पंडे लोग ठग लेते हैं। वह इस प्रकार ठगा जाने पर सामान्यीकरण करता है और कहता है "बनारसी लोग सब ठग होते हैं"। इसी तरह कुछ सरकारी नौकरों को भ्रष्टाचारी पाकर यह कहना कि सब सरकारी कर्मचारी भ्रष्टाचारी होते हैं इस प्रकार का सामान्यीकरण है। किसी समय मनुष्यों का विचार था कि हंस सफेद होते हैं किन्तु अब यह पता लग गया है कि हंस अन्य रंगों के भी पाये जाते हैं। ये सब उदाहरण अनियमित सामान्यीकरण के हैं।

यही कारण है कि अन्वयविधि (The method of agreement) कारणता के सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्थापित नहीं कर सकती और इसी हेतु से इसके निष्कर्ष निश्चित नहीं होते किन्तु सम्भवनीय होते हैं। अतः हमें चाहिये कि अन्वयविधि से प्राप्त किये हुए सामान्यीकरणों की सत्यता में सर्वदा सतर्क रहें। अनुभव के आधार पर बनाए सामान्यीकरणों की सत्यता नज़दीक के उदाहरणों में स्वीकार की जा सकती है किन्तु उनके नियमित क्षेत्र के बाहर उनकी सत्यता हमेशा संदिग्ध होती है।

(३) मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान।

मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के दोष तब पैदा होते हैं जब हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मिथ्या प्रयोग करते हैं। इसका विवेचन उपमाजन्य-सामान्यानुमान के अध्याय में अच्छी तरह किया जा चुका है।

(४) तर्कवाद या अतर्क सम्बन्धी दोष

सामान्यानुमान के दोष दो प्रकार के बतलाये थे (१) तर्क-सम्बन्धी

(1) Illicit generalisation

और (२) अतर्क-सम्बन्धी। इनमें से तर्क-सम्बन्धी दोषों का वर्णन हो चुका है। अब हम यहाँ अतर्क-सम्बन्धी दोषों का वर्णन करते हैं। अतर्क-सम्बन्धी दोष तार्किक नियमों के उल्लंघन करने से उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु ये प्रतिज्ञा वाक्यों के अनुचित प्रयोग या प्रदत्त की अशुद्धि, या प्रतिज्ञा वाक्य और निष्कर्ष के मध्य सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव से उत्पन्न होते हैं। अब हम इनके कुछ मुख्य-मुख्य उदाहरणों को उपस्थित करते हैं।

(१) स्वाश्रय दोष

स्वाश्रय दोष (Petitio principii) का वाच्यार्थ यह है—आरम्भ में विवाद के लिये जिस वस्तु को उपस्थित किया गया है उसको ही मानकर बैठ जाना या प्रश्न की भिक्षा माँगना (Begging the Question)। अतः स्वाश्रय दोष उसे कहते हैं जिसमें या तो उस प्रतिज्ञा वाक्य को किसी रूप में मानकर बैठा जाता है जिसको हम सिद्ध करना चाहते हैं या उस प्रतिज्ञा वाक्य को मान लिया जाता है जिसकी सिद्धि केवल उसी के द्वारा हो सकती है।

इसका सबसे सरल रूप वह है जिसमें किसी प्रतिज्ञा-वाक्य को सिद्ध करने के लिये पर्यायवाची शब्द प्रयोग किये जाते हैं जिनको बेन्थम महोदय 'प्रश्नभिक्षापद' (Question-begging epithets) कहा करते हैं। जैसे 'अफीम नशा पैदा करती है' क्योंकि यह मादक गुण रखती है। इस उदाहरण में मादक वस्तु वही है जो नशा पैदा करती है। जब हम किसी बिल का धारा-सभा में निषेध करते हैं क्योंकि यह नियम-रहित नियम है या किसी मनुष्य के चरित्र को गर्हणीय कहते हैं क्योंकि यह अमानवीय है तब यह दोष पैदा होता है। इन उदाहरणों में हम जिस वस्तु को सिद्ध करना चाहते हैं उसे पहले से ही मान बैठते हैं।

कभी-कभी यह दोष बड़ा पेचीदा बन जाता है, उस समय हम इसे चक्रक दोष (Argument in a circle or Circulus in demonstrando) कहते हैं। यह दोष तब उत्पन्न होता है जब तर्क के अन्दर निष्कर्ष एक से अधिक क्रम को पार कर जाता है जिसको कि हमने मान रक्खा है। इस प्रकार प्लैटो आत्मा की अमरता को उसकी [illegible]

हुआ

है और फिर आत्मा की सरलता को उसकी अमरता से सिद्ध करना चाहता है। इसी प्रकार मिल महोदय भी सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रकृति की एकरूपता प्रत्येक सामान्यानुमान में अनुविद्ध रहती है और फिर भी वह यह बतलाना चाहते हैं कि प्रकृति की एकरूपता साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त होती है। निम्नलिखित चक्रक दोष का सुन्दर उदाहरण है—

'हम जानते हैं कि खुदा की सत्ता है।
क्योंकि कुरान हमें ऐसी अनुज्ञा देती है।
जो कुछ कुरान में लिखा हुआ है वह सत्य है।
क्योंकि कुरान खुदा का कलाम है।

अरस्तू महोदय ने इस दोष के ५ प्रकार प्रतिपादन किये हैं। अर्थात् यह दोष ५ रूपों में उपस्थित हो सकता है—

(१) उसी प्रतिज्ञावाक्य को सत्य मान लेना जिसको कि हम सिद्ध करना चाहते हैं। यह दोष पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग करने से होता है। जैसे देश में शिक्षा के प्रचार के लिये धारा-सभा में एक बिल पेश किया गया है क्योंकि तमाम शिक्षा संस्थाओं में इसके द्वारा शिक्षा का मापदंड ऊँचा होगा। इसमें हम जिस बात को सिद्ध करना चाहते हैं उसको पहले से ही सत्य मान लेते हैं।

(२) एक विशेष उदाहरण की सिद्धि के लिये एक सामान्य सिद्धान्त को सत्य मान लेना जिसको स्वयं बिना उस विशेष उदाहरण की सिद्धि के जाने, सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे राम की कायरता का अनुमान उसकी धूर्तता से किया जा सकता है; क्योंकि तमाम धूर्त लोग कायर होते हैं।

(३) सामान्य को सिद्ध करने के लिये (जिसमें विशेष सम्मिलित है) विशेष को सत्य मानना। यह साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान के समान है। इस प्रकार का दोष यह सिद्ध करता है कि साधारण-गणना-द्वारा हम वास्तव में सामान्य वाक्य की सिद्धि कर सकते हैं। क्योंकि कुछ सदस्यों में एक गुण पाया जाता है अतः सब सदस्यों में वह गुण पाया जायगा।

(४) जिस प्रतिज्ञा-वाक्य को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको अनम्य भागों में सत्य मान लेना। यह प्रथम दोष का केवल विशेष रूप है। यह

दोष तब उत्पन्न होता है जब हम एक सामान्य वाक्य को, उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये, उसके भागों में तोडकर उसके प्रत्येक भाग की सत्यता स्वीकार कर लेते हैं। इसको सिद्ध करने की कोशिश इस प्रकार की जाती है कि रोग को अच्छा करने का ज्ञान स्वास्थ्य-कर और अस्वास्थ्य-कर वस्तुओं के ज्ञान का नाम है, अत इसको क्रमशः प्रत्येक का ज्ञान मान लेना।

(५) किसी प्रतिज्ञा-वाक्य को बिना किसी स्वतन्त्र सिद्धि के मान लेना जिसका दूसरे वाक्य के साथ परस्पर सम्बन्ध है और जिसको सिद्ध करना है। उदाहरणार्थ, मोतीलाल जवाहरलाल के पिता थे इसलिये जवाहरलाल मोतीलाल के पुत्र हैं। इलाहाबाद बनारस के पश्चिम में है इसलिये बनारस इलाहाबाद के पूर्व में है।

(२) अर्थान्तर दोष

अर्थान्तरदोष या तर्काज्ञानदोष (Ignoratio Elenchi) का अक्षरशः अर्थ यह है—तर्क के खडन का पूरा अज्ञान। किसी तर्क को खडन करने का अभिप्राय यह है कि उसके सर्वथा विरुद्ध एक वाक्य को स्थापित करना। इसका अर्थ यह है कि यदि हम किसी व्यक्ति के तर्क का खडन करना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि उसके द्वारा उपस्थित किये हुए तर्क के सर्वथा विरुद्ध तर्क उपस्थित करें। यदि हम ऐसा करने में असमर्थ हैं तो इसका अर्थ यह है कि हमें उसके खडन करने का कोई उत्तम ज्ञान नही है।

आजकल तार्किक लोग इसका कुछ विस्तृत अर्थ लेते हैं —"उनके अनुसार अर्थान्तिर दोप का अर्थ है कि जब हम यथार्थ तर्क को छोडकर तर्क करने लगते हैं अर्थात् आवश्यक निष्कर्ष की सिद्धि करने की अपेक्षा हम एक वाक्य को सिद्ध करने लगते हैं जो भूल से इसके लिये समझ लिया जाता है।" इसका अर्थ यह है कि जिस बात को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको अंधेरे में डाल देते हैं और उसके स्थान पर कुछ और ही सिद्ध कर डालते हैं। अर्थान्तिर दोप के कई रूप हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य नीचे दिये जाते हैं —

(१) व्यक्ति के प्रति तर्क (Argumentum ad Hominem) यह एक प्रकार का अर्थान्तर दोष है जिसमें हम प्रतिवादी के विरुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं न कि उसके तर्क के विरुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ मानलो साध्य यह है कि अमुक व्यक्ति ने एक चोरी की है तो हमें सिद्ध करना चाहिये कि उसने चोरी की है। हम यह तो सिद्ध नहीं करते किन्तु यह सिद्ध करने लगते हैं कि वह वास्तव चोर है इसलिये उसने अवश्य चोरी की होगी। यह इस दोष का उदाहरण है। जो वकील एक कमजोर मामले को सिद्ध करना चाहते हैं तब अवश्य ही इस दोष को पैदा करते हैं। एक बार एक अदालत में किसी मुकदमें में प्रतिवादी के लिये एक बैरिस्टर साहब के लिये निम्नलिखित संक्षिप्त मसौदा तय्यार कर भेजा था—

'मामले की परवा न करो केवल वादी के अवगुणों पर आक्रमण करो काम सिद्ध हो जायेगा। कनिङ्घम महोदय ने निम्नलिखित विलक्षण उदाहरण दिया है —

Mr Kiefe O' kiefe
I see by your brief O brief
That you are a thief O' thief

इसका कि की कौक की चोरी करने से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के तर्क ने जूरी के दिलों में हंसी उत्पन्न की और उन्होंने शीघ्र प्रतिवादी के पक्ष में निर्णय दे दिया।

इसी प्रकार का एक देशी उदाहरण भी है।—

अरे, सजना मोर
तेरी बात कहूं को और
तू है चोरों का चोर।

इसमें 'सजन' नामक व्यक्ति के विरुद्ध ही कहा गया है। चोरी सिद्ध करने की कोई कोशिश नहीं की गई है अतः यह अर्थान्तर दोष का उदाहरण है।

लोक के प्रति तर्क—(Argumentum ad populum) यह

भी एक अर्थान्तर दोष का रूप है। इसमें हम भावना, पक्ष, दया आदि के लिये प्रार्थना करते हैं, तर्क को सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नही किया जाता। इसको "छज्जे के प्रति प्रार्थना (Appeal to the gallery) भी कहते हैं क्योंकि इसमें जनता के भावों को उकसाया जाता है। यह तरीका प्रचारकों का शस्त्र कहा जाता है। मार्क अन्योनी का जूलियम सीजर की मृत्यु पर शोक प्रदर्शन करना इसी प्रकार का उदाहरण है। जब वह कहता है —

'मित्रो ! रोमनो ! देशवासियो ! अपना ध्यान मेरी तरफ करो,
मैं सीजर को दफनाने को आया हूं न कि उसकी प्रशशा करने के लिये,
. . . .
मैं, जो कुछ ब्रूटस ने कहा है उसका खडन करने के लिये नही खडा हूं।
किन्तु मैं यहाँ जो कुछ जानता हूं उसे बतलाना चाहता हूं।
आप सब लोग उसे किसी दिन सकारण प्यार करते थे।
लेकिन किस कारण से आज तुम उसके विलाप को रोक रहे हो।
अरे न्याय ! तुम दुष्ट पशुओं के पास भाग गये हो।
और मनुष्य अपनी बुद्धि खो बैठे हैं, मेरे साथ चले चलो।
मेरा हृदय सीजर के कफन के सन्दूक में निहित है।
और मुझे विश्राम लेना चाहिये जब तक कि वह लौटकर नही आता है'।

यह सारा व्याख्यान केवल जनता की समवेदना को प्राप्त करने का उपाय है।

(३) अज्ञान के प्रति तर्क (Argumentum ad ignoratium) यह भी एक अर्थान्तर दोष का रूप है जिसमें सिद्धि का वजन अपने को छोडकर प्रतिवादी पर फेंक दिया जाता है यदि प्रतिवादी तर्क को असिद्ध नही कर सकता, तो उसकी असमर्थता को ही हम सिद्धि समझ लेते हैं। इस दोष का नाम इसलिये पडा है क्योंकि इसमें हम प्रतिवादी के अज्ञान का लाभ उठाते हैं।

(४) आप्त के प्रति तर्क (Argumentum ad verecundium) यह भी एक अर्थान्तर दोष का विशेष रूप है। इसमें विशेष रूप से तर्क को सिद्ध न करते हुए आप्तत्व के प्रति प्रार्थना की जाती है। मध्य युग में

इस प्रकार की तर्क-प्रणाली मध्यकाल में प्रचलित थी जब कि धर्म का साम्राज्य था और यदि कोई बात बाइबिल के विरुद्ध होती थी तो उसे बुरा समझा जाता था। इसी आशय के अनुसार विकास के सिद्धान्त (Theory of Evolution) का शुरू-शुरू में बड़े जोरों से विरोध किया गया था क्योंकि बाइबिल में सृष्टवाद का समर्थन किया गया है। इत्यादिक देशों में अब भी गणित के विरुद्ध बातोंका निषेध किया जाता है।

(५) युक्ति के साथ तर्क (Argumentum ad baculum) इसको तर्क कहना तर्क का अपमान करना है। इसमें प्रतिवादी को सम झाने के लिये शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इसको यदि यह कहा जाय कि यह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' सत्य तर्क है तो अत्युक्ति नहीं। इसको भेड़ का सेमने के प्रति तर्क भी कहते हैं। इसका तब प्रयोग किया जाता है जब तर्क और नीति दोनों असफल हो जाते हैं और मुद्दे को बल से सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

बहुप्रश्न दोष ((Plures Introgationes or fallacy of many questions)

यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम प्रतिवादी से 'हाँ' या 'ना' में स्पष्ट उत्तर चाहते हैं। यथार्थ में इसमें वादी पहले ही से सोच लेता है कि प्रतिवादी क्या उत्तर देगा ? जैसे किसी व्यक्ति से पूछा जाय—क्या तुमने अपनी मां को पीटना छोड़ दिया है ?—यदि वह इसका विधि में उत्तर देता है तो इसका अर्थ होगा कि तुम पहले अपनी मां को पीटा करते थे। और यदि निषेधात्मक उत्तर देता है तो इसका अर्थ यह है कि तुम अपनी मां को अब भी पीटते हो। उत्तर दाता दोनों प्रकार से फँसता है। इसी प्रकार—क्या तुमने शराब पीना छोड़ दिया है ? क्या तुमने झूठ बोलना छोड़ दिया है ? क्या वह समाज वादी है या प्रतिक्रिया वादी ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर भी बहुप्रश्न के दोष के उदाहरण हैं। इन सब प्रश्नों में दो विकल्प हैं जिनके उत्तर देने पर दोनों प्रकार से प्रतिवादी फँसता है। इसको अभिज्ञप्ति सोत्तर-प्रश्न का दोष भी कहते हैं।

(४) विपरिणाम दोष (Fallacy of the consequent or Non sequitor)

विपरिणाम दोष का अर्थ है कि परिणाम ठीक नही है। इसको गलत परिणाम का दोष (The fallacy of the Consequent) भी कहते हैं क्योंकि इसमें हम हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु का, निष्कर्ष में, वाक्य में इसके हेतुमद् का विधान करके, विधान करते हैं। जैसे,

"यदि वर्षा हुई है तो मैदान भीगा है,
मैदान भीगा है
∴ वर्षा हुई है।"

इस प्रकार वहुप्रश्न का दोष तव उत्पन्न होता है जव हम हेतुमद् को हेतु के साथ परिवर्तन के योग्य समझते हैं।

(५) मिथ्या कारण (False cause or Non-causa Pro-causa) का दोष।

यह वह दोष है जिसमें ऐसे तर्क के वाक्य की सत्यता स्वीकार कर ली जाती है जिसका निष्कर्ष के साथ कोई सम्वन्ध नही होता। अरस्तू भी इसका यही अर्थ करता है। उसने इसके ऐसे उदाहरण उपस्थित किये हैं जिनमें हम मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष (Reductio ad impossibile) निकाल लेते हैं या जिन्हें हम प्रतिलोम सिद्धि (Indirect proof) कहते हैं। इसमें हम एक वाक्य की असत्यता सिद्ध करते हैं यह दिखलाकर कि इसकी सत्यता से मूर्खतापूर्ण वातें सिद्ध होती हैं या हम एक वाक्य की सिद्धि करते हैं यह दिखलाकर कि इसकी असत्यता की स्वीकारता मूर्खता पूर्ण वातों को सिद्ध करती हैं। मिथ्याकारण का दोष तव उत्पन्न होता है जव मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष हमारे माने हुए वाक्यों से नही उत्पन्न होते हैं, किन्तु कुछ वेकार वाक्यों से उत्पन्न होते हैं जिनको किसी-न-किसी प्रकार तर्क में शामिल कर लिया जाता है। यहाँ मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष प्राथमिक कल्पना के आधार पर सिद्ध किया जाता है। जॉयमे महोदय का निम्नलिखित उदहरण उल्लेखनीय है। 'यदि हम सॉफिस्ट के प्रतिवादी को यह कहते हुए पाते हैं कि घातक के लिये मृत्यु दण्ड उचित है तो उसके विरुद्ध सॉफिस्ट तर्क कर सकता है।

जो इस प्रकार है—यह कहना भूलतापूर्ण है क्योंकि यदि यह मान लें कि मृत्यु दंड घातक के लिये उचित है और दंड हमें हमेशा रोधक-नीति के आधार पर ही नियमित करना चाहिये तो इससे हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि जेबकतरे के लिये भी मृत्यु दंड उचित है। यहाँ पर मूल कथन का, प्राप्त निष्कर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त से यही तात्पर्य निकलता है कि दंड का न्याय इसी आधार पर निर्भर है कि मनुष्यों को अपराध करने से किस प्रकार रोका जाय। यह वह कथन है जिसका घातक के लिये मृत्यु दंड देने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जिस अर्थ में अरस्तू ने इस दोष का वर्णन किया है उसे हम सामान्यानुमानीय दोष कह ही नहीं सकते। यद्यपि आज-कल हम इसको सामान्यानुमानीय दोषों में शामिल कर लेते हैं और इसको मिथ्या कारण का दोष कहा जाता है। यथार्थ में यह दोष वाक्य के समर्थन से सम्बन्ध रखता है न कि उदाहरण के प्रदर्शन से। हम इस दोष को तब पैदा करते हैं जब हम एक मिथ्याकारण को कारण मान बैठते हैं। यह दोष यथेष्ट-तर्क के सिद्धान्त[1] के न मानने से उत्पन्न होता है।

अभ्यास प्रश्न—

(१) दोष किसे कहते हैं ? सामान्यानुमानीय दोषों की तालिका दो।

(२) अप्रत्यक्षीकरण और दुष्ट-प्रत्यक्षीकरण के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(३) मिथ्या-सामान्यी-करण का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। यह दोष किस प्रकार होता है ?

(४) व्याप्यदोष किसे कहते हैं ? इसके कितने दोष हैं ? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(५) अर्थान्तर दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसके कितने प्रकार हैं ? प्रत्येक का लक्षण दो।

(६) बहु प्रश्न दोष का स्वरूप क्या है ? यह दोष कब उत्पन्न होता है ? उदाहरण देकर समझाओ।

---

(1) The Principle of sufficient Reason.

(७) विपरिणाम दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(८) मिथ्या कारण दोष का स्वरूप क्या है ? जायन्स ने उसका क्या उदाहरण दिया है ?

(९) निम्नलिखित तर्कों की परीक्षा करो —

(१) इङ्गलिस्तान के लोग धनवान है क्योंकि वे परिश्रमी हैं ।

(२) यदि धन को रखने में न्याय है तो न्यायी मनुष्य अवश्य चोर होना चाहिये । क्योंक जिस प्रकार की कुशलता धन को रखने में आवश्यक होती है उसी प्रकार की कुशलता उसको चुराने में आवश्यक होती है ।

(३) ज्योंही मैं आज सुबह अपने कमरे में पढ़ने के लिये बैठा त्योंही मेरा पड़ोसी हारमोनियम बजाने लगा । वास्तव में वह मुझसे डाह रखता है ।

(४) यह पेटेन्ट दवाई बड़ी लाभप्रद है क्योंकि सब प्रमाण-पत्र इसकी प्रशसा करते हैं ।

(५) हमें युद्ध नही करना चाहिये क्योंकि खून बहाना अच्छा नही होता ।

(६) अफीम नींद लाती है क्योंकि यह मादक वस्तु है ।

(७) किसी देश की राजधानी उसका हृदय होता है, अत राजधानी का बढना बीमारी से खाली नही है ।

(८) स्त्रियों ने आज तक मनुष्यों की बराबरी नही की है । इसलिये स्त्रियाँ मनुष्यों से हीन हैं ।

(९) आत्मा अवश्य ही सारे शरीर में फैला हुआ है क्योंकि इससे प्रत्येक अग सचेतन कहलाता है ।

(१०) वह मनुष्य अवश्य ही अच्छा होना चाहिये क्योंकि मुझे उसके कार्य बहुत अच्छे मालूम होते हैं ।

(११) यह मनुष्य अवश्य ही चोर होना चाहिये क्योंकि यह उस कमरे में था जिसमें से घड़ी चुराई गई है और ज्योंही कमरे में मैं घुसा त्योंही वह बाहर निकल आया ।

(१२) जब भिक्षुकों की मृत्यु होती है तब धूमकेतु का उदय नहीं होता है किन्तु जब राजाओं की मृत्यु होती है तब स्वयं से ही उसको घोषणा होती है।

(१३) क्योंकि हम सूर्य को प्रतिदिन डूबते और उगते हुए देखते हैं इसलिये यह डूबता और उगता है।

(१४) क्योंकि ब्याज लेना ठीक है इसलिये पिता से भी ब्याज लेना चाहिये।

(१५) महायुद्ध के बाद अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैली थीं, इसलिये महायुद्ध बीमारियों का कारण है।

(१६) जुआरों ने साम्यवाद के प्रचार को नष्ट कर दिया है, इसलिये मनुष्य अब भारत वर्ष में अच्छी हालत की आशा कर रहे हैं।

(१७) हमें महापुरुषों की मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि 'योग्यतम के अवशेष' के सिद्धान्तानुसार यह ठीक ही हुआ है।

(१८) मत बाढ़ का कारण देवीकोप था क्योंकि जब तक देवता प्रसन्न रहे ऐसा कभी नहीं हुआ। अबकी देवता नाराज हो गये हैं इस लिये बाढ़ आ गई।

(१६) व्यक्ति की तरह किसी देश को भी वृद्धि प्रौढ़ता और नाश से गुजरना चाहिये।

(२) एक महाराज की रक्षा तावीज से हुई। तो क्या तावीज रक्षा का हेतु नहीं है?

(२१) मेरा मित्र अवश्य बुद्धिमान है क्योंकि उसके अन्दर कुछ अद्भुत बातें पाई जाती हैं। संसार में जितने बड़े मनुष्य होते हैं वे सब अद्भुत बातों से परिपूर्ण होते हैं।

(२२) सब चमगादड़ें चिड़ियाँ हैं क्योंकि उनके पर होते हैं।

(२३) शराब नुकसान देनेवाली नहीं है। यदि होती तो डाक्टर इसको पीने के लिये लाभप्रद न बतलाते।

(२४) सब धर्म भगवान या ईश्वर की ओर से जाते हैं जैसे सब नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं।

(२५) विश्वविद्यालय शिक्षा का मदिर है इसलिये इसमें राजनीति के लिये कोई स्थान नही है।

(२६) आम खाने से फुन्सियाँ पैदा होती हैं इसलिये आम नही खाना चाहिये।

(२७) ज्योंही मैं शिमला गया मेरा स्वास्थ्य सुधर गया, इसलिये शिमले को जाना स्वास्थ्य-वृद्धि का हेतु है।

(२८) शिक्षा अशान्ति का कारण है क्योंकि पढे-लिखे आजीविका न मिलने पर मारे-मारे फिरते हैं।

(२९) अमुक प्रोफेसर बडा विद्वान है क्योंकि उसके द्वारा बोले हुए शब्द अच्छे-अच्छे पडितों की समझ में नही आते।

अध्याय १५

१-परिशिष्ट

प्राच्य और पाश्चात्य कारणता का सिद्धान्त

तर्कशास्त्र-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विचार करते हुए कुछ भारतीय तर्क-शास्त्री प्राच्य और पाश्चात्य कारणता के सिद्धान्त पर तुलनात्मक विचार प्रकट करते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि अनादि काल से ही मानव ने जब कभी संसार में परिवर्तन होते हुए देखे होंगे तब से ही उसने सोचा होगा कि ये परिवर्तन क्यों होते हैं ? 'परिवर्तन क्यों होते हैं ?'— इसमें ही कारणता के बीज हैं। यदि विश्व सर्वथा नित्य और स्थिर होता तो सम्भव है कोई व्यक्ति परिवर्तन का विचार ही नहीं करता। किन्तु जब मनुष्य, जन्म मृत्यु, बुढ़ापा विनाश और क्रांतियाँ देखता है तब उसे यह सोचने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि आखिरकार यह सब क्यों होता है ? क्यों का उत्तर कारणता में है—अर्थात् संसार में कोई वस्तु निष्कारण या निष्प्रयोजन नहीं होती है; प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण या प्रयोजन अवश्य होता है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु तीन अवस्थाओं से गुजरती रहती है। वे हैं; उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। अभिप्राय यह है—प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, प्रत्येक वस्तु का व्यय होता है और प्रत्येक वस्तु में नित्यता या ध्रौव्यता पाई जाती है। इसी ब्रह्मा, महेश और विष्णु तत्त्व में एकानेक नित्यानित्य, भावाभाव भेदाभेद आदि अनेक दार्शनिक सिद्धान्त छिपे हुए हैं। यदि विश्व में इस प्रकार अनेकान्त या अवस्थित क्रम नहीं होता तो कारणता के सिद्धान्त की सार्थकता नहीं होती। संसार में प्रत्येक तर्क शास्त्र के निर्माता ने कारणता के सिद्धान्त का महत्व प्रतिपादन किया है और कहा है 'नाकारणं विषयः' अर्थात् कोई वस्तु अकारण नहीं होती।

ग्रीक तार्किक हिरेक्लिटस (Heraclitus) के समय से तथा यूरोपीय तार्किक वेकन (Bacon) के समय से कारणता के सिद्धान्त को लोग महत्व देते आ रहे हैं। मिल ने तो इस पर इतना सुन्दर प्रकाश डाला है कि वह वड़े-वड़े विद्वानों की चर्चा का विषय वन गया है।

वर्तमान युग में जव हम सामान्यानुमान का विवेचन करते हैं तव हम उसके दो आधार तत्व मानते हैं (१) रूपात्मक (Formal) और (२) विपयात्मक (Material)। इनमें रूपात्मक आधार-तत्व दो हैं (१) प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (The Law of Uniformity of Nature) और (२) कारणता का सिद्धान्त (The Law of Causation)। विपयात्मक आधार तत्व के भी दो भेद हैं (१) प्रत्यक्षीकरण (Observation) और (२) प्रयोग (Experiment) इनका विशेष उपयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है। प्रस्तुत प्रकरण में हमें केवल कारणता के सिद्धान्त पर ही प्रकाश डालना है।

कारणता का मुख्य सिद्धान्त मिल महोदय का है। उन्होंने कहा है 'कारण किसी घटना की निरूपाधिक, अपरिवर्तनीय आसन्न पूर्वावस्था है या यह वह अवस्था है जिसमें विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों अवस्थाएं सम्मिलित रहती हैं'। वैज्ञानिक लोग इसी की व्याख्या करते समय कहते हैं कि यह एक शक्ति का पूर्ववर्ती रूप है जो उत्तरवर्ती रूप में परिवर्तित होता रहता है। इस कारणता के सिद्धान्त का हम अपनी पुस्तक के कारणता के सिद्धान्त के प्रकरण में विशद रूप से विवेचन कर चुके हैं।

जहाँ तक भारतीय दृष्टि कोण का सम्वन्ध है, कारणता के सिद्धान्त पर न्याय, जैन और बौद्ध नैयायिकों ने उत्तम प्रकाश डाला है। इस विषय पर गौतम, कणाद, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, माणिक्यनन्दि आदि ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं।

न्याय के अनुसार कारण वह है जो कार्य के नियत पूर्ववर्ती होता है। न्यायशास्त्र के प्रणेता इसके तीन भेद वतलाते हैं। (१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण और (३) निमित्त कारण। समवायी कारण वह

है जिसके साथ कार्य उत्पन्न होता है, जैसे, वस्त्र के कारण तन्तु हैं या घट का कारण मृत्तिका है। असमवायी कारण वह है जो एक ही अर्थ में कार्य या कारण के साथ समवेत होकर रहता है; जैसे वस्त्र का तन्तु संयोग कारण है। निमित्त कारण वह है जो समवायी और असमवायी कारण से सर्वथा भिन्न होता है जैसे, वस्त्र के तुरी, वेम वगैरह कारण हैं। नैयायिकों ने कारण से करण की भेदकता दिखलाई है। वे कहते हैं कि इन तीन कारणों में से जो असाधारण कारण होता है उसे करण कहते हैं।

जैन और बौद्ध नैयायिकों ने कारण का लक्षण देते हुए लिखा है कि कारण वह है जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो सके। जैसे अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये अग्नि धूम का कारण है। बौद्ध लोग सहवर्ती और क्रमवर्ती दोनों अवस्थाओं में कारणता को सम्बन्ध मानते हैं किन्तु जैनों का क्रमवर्ती पदार्थों में ही कार्य कारण भाव होता है। कार्य कारण भाव को निश्चित करने के लिये उन्होंने लिखा है—'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः' अर्थात् कार्य कारण भाव की निश्चिति अन्वय-व्यतिरेक द्वारा होती है। जिसके होने पर जिसका होना पाया जाय उसे अन्वय कहते हैं और जिसके अभाव में जिसका अभाव पाया जाय उसे व्यतिरेक कहते हैं; जैसे अग्नि के होने पर धूम उत्पन्न होता है और अग्नि के अभाव में धूम उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये धूम और अग्नि कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित हैं। इनमें भी व्यतिरेक कार्य-कारण-भाव का अधिक निश्चायक होता है। अन्वय और व्यतिरेक मिल की विधियों से पर्याप्त समानता रखते हैं।

जैनों और बौद्धों के अनुसार कारण तीन प्रकार का है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण और (३) सहकारी कारण। उपादान कारण वह है जिसका कार्य बनता है, जैसे मट्टी घड़े का उपादान कारण है। निमित्त कारण वह है जो कार्य की उत्पत्ति में निमित्त होता है, जैसे घड़े के बनाने में कुम्भकार निमित्त कारण होता है। सहकारी कारण वे हैं जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होते हैं, जैसे घड़े की उत्पत्ति में चक्र, चीवर वगैरह कारण होते हैं।

इन्ही विचारों के समान अरस्तू ने भी कारण का विचार करते हुए चार कारणों का प्रतिपादन किया है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) द्रव्य कारण (Material cause) वह है जिस द्रव्य या पदार्थ से जो कार्य उत्पन्न होता है, जैसे, मूर्ति का कारण पत्थर है।

(२) रूप कारण (Formal cause) वह है जो रूप पदार्थ या द्रव्य को दिया जाता है, जैसे, पत्थर को मूर्ति का रूप दिया गया है।

(३) योग्य कारण (Efficient cause) वह है जो परिश्रम, चतुराई शक्ति आदि कार्य की उत्पत्ति में लगाई जाती है। कभी कभी यह कार्य का कर्ता भी होता है, जैसे, कलाकार मूर्ति का कारण है।

(४) अन्तिम कारण (Formal cause) वह है जो वस्तु में या कार्य में परिवर्तन हुआ है वह किसी लक्ष्य या उद्देश्य को लेकर हुआ है, जैसे, मूर्तिका निर्माण, किसी देवता की प्रतिष्ठा के लिये किया गया है, घड़े का निर्माण, जल भरने के लिये किया गया है।

इनमें द्रव्य और रूप कारण आन्तरिक कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये वस्तु के आन्तर स्वरूप में देखे जाते हैं तथा योग्य और अन्तिम कारण वाह्य कहलाते हैं, क्योंकि ये बाहिर से प्रतीत होते हैं। कहीं कहीं कारण और अवस्थाओं में भेद भी बतलाया है। इन सब विषयों पर हम पुस्तक में ही प्रकाश डाल चुके हैं। पाठक उनका अध्ययन वहीं से कर लें।

२—अभ्यास प्रश्न

(१) प्राच्य और पाश्चात्य कारणता के सिद्धान्तों पर तुलनात्मक विवेचन करो।

(२) न्याय, जैन और बौद्धों के अनुसार कारणता के सिद्धान्त पर विचार प्रकट करो।

(३) अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप लिख कर मिल की विधियों के साथ इनकी तुलना करो।

(४) अन्वय और व्यतिरेक को कार्य-कारण-भाव का नियामक क्यों माना गया है? अपने विचार प्रकट करो।

(५) अन्वय और व्यतिरेक में कौन बलवान है? दोनों का आपेक्षिक महत्त्व प्रतिपादन करो।

(६) अरस्तू के कारणों का विचार करके उनकी भारतीय कारणता के भेदों से तुलना करो।

(७) कारण और करण में भेद बतलाओ।

परिभाषिक शब्दों की सूची

(४) "ज्ञान सुखकारक है।
अज्ञान दुखकारक है।"

(५) 'सत्पुरुष का दर्शन आनन्ददायक है।
असत्पुरुष का दर्शन दुःखदायक है।"

इन उदाहरणों के ऊपर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये विपक्ष अभिमुखीकरण से ये सर्वथा भिन्न हैं। इनमें उसके नियमों का बिलकुल पालन नहीं किया जाता। अभिमुखीकरण में अभिमुखीकृत का उद्देश्य वही रहता है किन्तु यहाँ वे विरोधी पद हैं। अभिमुखीकरण के निष्कर्षवाक्य में प्रतिज्ञावाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है किन्तु यहाँ केवल विरोधी पद है। तथा अभिमुखीकरण में दोनों वाक्यों में एक-सा ही गुण होता है किन्तु यहाँ निष्कर्ष वाक्य का गुण दिये हुये वाक्य से विरुद्ध होता है। ये अनुमान विपक्ष-विषयक अनुमान हैं और इनका आधार ज्ञान और अनुभव है। अतः इनका विशेषानुमान में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है।

(३) विरुद्धभाव (Contraposition) एक प्रकार का अमध्यस्थानुमान है जिसमें एक दिये हुए वाक्य से हम दूसरे वाक्य का अनुमान करते हैं तथा इसका उद्देश्य प्रदत्त विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है। विरुद्धभाव में जिस वाक्य से हम निष्कर्ष निकालते हैं उसे विरुद्ध-भाव्य कहते हैं तथा जो निष्कर्ष निकाला जाता है उसे विरुद्ध-भावित (Contrapositive) कहते हैं।

विरुद्धभाव के अधोलिखित नियम हैं :—

(१) निष्कर्ष का उद्देश्य दिये हुए वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) निष्कर्ष का विधेय दिये हुए वाक्य का उद्देश्य होता है।

(३) गुण बदल दिया जाता है। अर्थात् यदि दिया हुआ वाक्य विधिवाक्य हो तो निष्कर्ष निषेध-वाक्य होगा और यदि दिया हुआ वाक्य निषेध-वाक्य हो तो निष्कर्ष विधि-वाक्य होगा।

(४) यदि कोई पद दिये हुए वाक्य में द्रव्यार्थ में न लिया गया हो तो निष्कर्ष-वाक्य में वह द्रव्यार्थ में नहीं लिया जा सकता। जब इस प्रकार का अयुक्त द्रव्यार्थीकरण नहीं लिया गया है तब निष्कर्ष वाक्य का परिणाम वही रहता है जो दिये हुए वाक्य का है और जब इस प्रकार के अयुक्त द्रव्यार्थीकरण की सम्भावना है तब निष्कर्ष विशेष होता है चाहे दिया हुआ वाक्य समान्य ही क्यों न हो।

यथार्थ में 'विरुद्धभाव' अनन्तरानुमान की मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रथम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है और पश्चात् परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये,

"प्रथम अभिमुखीकरण करो पश्चात् परिवर्तन करो।"
'आ' का विरुद्धभाव 'ए' में होता है। जैसे,

विरुद्ध भाव्य. "सब मनुष्य मरणशील है।" सब 'उ' 'वि' हैं"
विरुद्ध भावित · "कोई अमरण-शील प्राणी मनुष्य नहीं हैं।"
"कोई 'अवि' 'उ' नहीं हैं"

"सब 'उ' 'वि' है।
कोई 'उ' 'अ-वि' नहीं है। (अभिमुखीकृत)
∴ कोई 'अ-वि' 'उ' नहीं है।" (परिवर्तित)

'अ' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो 'ए' मिलता है और 'ए' को परिवर्तित करने पर 'ए' प्राप्त होता है। अतः 'आ' का विरुद्ध भावित 'ए' होगा।

'ए' का विरुद्धभाव 'ई' होता है। जैसे,
विरुद्ध मान्य : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।"—'कोई उ वि' नहीं है'
विरुद्ध मानित "कुछ अपूर्ण जीव मनुष्य हैं।"—'कुछ 'अ-वि' 'उ' है'

'कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
सब 'उ' अवि हैं। (अभिमुखीकृत)
कुछ 'अवि' 'उ' हैं। (परिवर्तित)

इस उदाहरण में दिया हुआ वाक्य सामान्य है किन्तु विरुद्ध मानित विशेष है। क्योंकि यदि हम सामान्य निष्कर्ष निकालना चाहें तो हमें 'अ-वि' उद्देश्य को प्रव्याप्त में लेना पड़ेगा जो अभिमुखीकृत में प्रव्याप्त में नहीं लिया गया है।

'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता। जैसे,
विरुद्ध मान्य : "कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय नहीं हैं"—"कुछ 'उ 'वि' है'
विरुद्ध मानित : "कोई निष्कर्ष नहीं।"—"कोई निष्कर्ष नहीं

कुछ 'उ' 'वि' हैं।
कुछ उ' अवि' नहीं हैं। (अभिमुखीकृत)
नहीं हो सकता।" (परिवर्तित)

यदि 'ई' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो हमें 'ओ' निष्कर्ष मिलता है। तथा 'ओ' का परिवर्तन हो नहीं सकता। अतः 'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता।

'ओ' का विरुद्ध भाव 'ई' में होता है। जैसे,
विरुद्ध मान्य : "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं"
—"कुछ 'उ' 'वि नहीं हैं'
विरुद्ध मानित : "कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"—"कुछ 'अवि' 'उ' हैं'

"कुछ उ 'वि' नहीं हैं
कुछ 'उ' 'अवि है (अभिमुखीकृत)
कुछ 'अवि' उ' हैं" (परिवर्तित)

जब 'ओ' वाक्य को अभिमुखीकृत किया जाय तो हमे 'ई' मिलता है और 'ई' को परिवर्तित किया जाय तो 'ई' मिलता है। अत 'ओ' का परिवर्तन 'ई' में होता है।

सक्षेप में विरुद्धभाव की प्रक्रिया द्वारा 'आ' का 'ए' मे विरुद्धभाव होता है; 'ए' का 'ई' में होता है, 'ओ' का 'ई' मे होता है किन्तु 'ई' का विरुद्धभाव नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रक्रिया के प्रदर्शन से यह स्पष्ट है कि विरुद्धभाव एक मिश्रित प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे जब हम विरुद्धभावित निष्कर्ष निकालते हैं तो पहले हमें अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है और पश्चात् परिवर्तन करना पड़ता है। हमने यहाँ सीधे विरुद्धभाव के उदाहरण दिये हैं किन्तु कुछ तार्किकों की यह आपत्ति है कि सब उदाहरणों में यह सीधा विरुद्धभाव सम्भव नहीं। देखिये, पहले हम सीधे विरुद्धभाव का प्रयोग करते हैं। जैसे,

'आ' "सभी मनुष्य मरणशील हैं="सब 'उ' 'वि' है।
कोई अमरणशील मनुष्य नहीं है" ' कोई 'अवि' 'उ' नहीं है।"
'ओ' "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं="कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।
कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"=कुछ 'अ'--वि' 'उ' हैं।"

इन दोनों उदाहरणों मे सभी नियमों का पालन करके निष्कर्ष निकाला गया है। दिये हुए विधेय का उद्देश्य आत्यन्तिक विरोधी पद है। निष्कर्ष का विधेय, दिये हुए वाक्य का उद्देश्य है। गुण का परिवर्तन कर दिया गया है। तथा निष्कर्ष में कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है जब तक कि वह मूल-वाक्य मे द्रव्यार्थ मे ग्रहण न किया गया हो। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि 'आ' के विरुद्धभावित मे हमें अ+वि मिलता है जो निष्कर्ष का उद्देश्य है और द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। क्योंकि यह पद

व्यत्यय हो सकता है और उसमें भी व्यत्यस्त सर्वदा विशेष ही होना चाहिये।

(४) पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण वही होता है जो व्यत्येय का; किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण व्यत्येयसे भिन्न होता है।

व्यत्यय की प्रक्रिया इस प्रकार है—व्यत्यय विरुद्धभाव की भांति अनन्तरानुमान का एक भिन्न रूप है और इसमें अभिमुखीकरण तथा परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। विरुद्धभाव में हम प्रथम अभिमुखीकरण करते हैं और पश्चात् परिवर्तन करते हैं किन्तु व्यत्यय में ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है। व्यत्यय में हमारा ध्येय इतना ही है कि निष्कर्ष में उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद हो और इस वाक्य को लेकर यदि हम अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया को सूत्रित्व के अनुसार प्रयोग करते चले जाँय तो हमें अभिवाञ्छित निष्कर्ष प्राप्त हो जायगा। यदि अभिमुखीकरण से शुरू करते हुए अभिवाञ्छित निष्कर्ष न निकले तो प्रक्रिया को बंद कर देना चाहिये और दुबारा परिवर्तन से आरम्भ करना चाहिये। तथा यदि परिवर्तन से आरंभ करते हुए निष्कर्ष न निकले तो अभिमुखीकरण से शुरू करना चाहिये।

'आ' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ई' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ओ' में होता है। जैसे

व्यत्येय 'सब मनुष्य मरणशील हैं' — 'सब उ वि' है।"

व्यत्यस्त : "कुछ अमनुष्य अमरणशील नहीं हैं" (पूर्ण) "कुछ 'अ-उ' 'अ वि' है"

,, "कुछ अमनुष्य मरणशील नहीं हैं" (अपूर्ण) 'कुछ अ-उ' वि नहीं है"

पूर्ण प्रक्रिया[1]

१	"सब 'उ'	'वि' है	अभिमुखीकरणीय (व्यत्येय)
२	कोई 'उ'	'अवि' नहीं है	अभिमुखीकृत
३	कोई 'अवि'	'उ' नहीं है	परिवर्तित
४	सब 'अवि'	'अ-उ' हैं	अभिमुखीकृत
५	कुछ 'अ-उ'	'अ-वि' है	परिवर्तित (पूर्ण व्यत्यस्त)
६	कुछ 'अ-उ'	'वि' नहीं हैं"	अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)

यदि हम परिवर्तन से आरम्भ करते तो हमारी उन्नति अभिवाछित निष्कर्ष निकलने के पहले ही रुक जाती। अतः हमने अभिमुखीकरण से आरम्भ किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिमुखीकरण से आरम्भ कर हमें ५वीं अवस्था में पूर्ण व्यत्यस्त मिला है तथा ६ठी अवस्था में अपूर्ण व्यत्यस्त मिला है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि अपूर्ण व्यत्यस्त निकालने में विधेय, द्रव्यार्थ में ले लिया गया है जो मूल वाक्य में द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। तथापि अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई गलती नहीं है और हमारा निष्कर्ष निर्दोष है।

'ए' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ई' में होता है। जैसे,

व्यत्येय : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" = "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।"

व्यत्यस्त "कुछ अ-मनुष्य पूर्ण है" = "कुछ 'अ-उ' 'वि' हैं।" (अपूर्ण)

व्यत्यस्त · "कुछ अ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं" = "कुछ 'अ-उ' 'अवि नहीं हैं।" (पूर्ण)

---

1 Full Process

दिये हुए वाक्य में नहीं है इसलिये हम इसके द्रव्यार्थ के नियम में अपवाद नहीं मान सकते ।।

अन्य उदाहरण हम 'ए' का लें। इसमें सीधे नियमों का पालन करने से हमारा निम्नलिखित परिणाम निकलता है—

(ए) "कोई प्राणी पूर्ण नहीं है— "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
सब अपूर्ण जीव प्राणी हैं"— सब अ वि 'उ है।"

यहाँ निष्कर्ष 'अ-वि' द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है क्योंकि यह पद, दिये हुए वाक्य में नहीं आया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अयुक्त द्रव्यार्थ लिया गया है। तथापि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है—जैसे हमें पहिले अभिमुखीकरण करने से और पश्चात् परिवर्तन करने से प्रतीत होगा।

(ए) 'कोई प्राणी पूर्ण नहीं है—"कोई 'उ 'वि' नहीं है।
सब प्राणी अपूर्ण हैं— सब उ 'अवि है।
कुछ अपूर्ण जीव प्राणी हैं" कुछ 'अवि 'उ' है।"

इससे तथा स्पष्ट है कि यदि हम "सब 'अवि' 'उ है" यह निष्कर्ष निकालें तो अयुक्त द्रव्यार्थ ग्रहण करना पड़ेगा। क्योंकि विरुद्ध भाव के नियमों से ऐसा हो नहीं सकता। इससे प्रतीत होता है कि नियमों को सीधा लगाने से हमें ठीक निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता है। अतः यह कहना पड़ता है कि विरुद्धभाव अनुमान को, परिवर्तन अभिमुखीकरण आदि की तरह, साधारण प्रक्रिया नहीं है किन्तु यह अनन्तरानुमान की मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रथम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया और पश्चात् परिवर्तन की प्रक्रिया करनी पड़ती है।

विरुद्ध भावित, अभिमुखीकृत परिवर्तन से सर्वथा भिन्न है। विरुद्धभाव में हम पहले अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करते हैं और पश्चात् परिवर्तन की प्रक्रिया करते हैं किन्तु अभिमुखीकृत परिवर्तन में

पहले परिवर्तन करना होगा और पश्चात् अभिमुखीकरण करना होगा। जैसे,

'आ' "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।

'ई' कुछ मरणधर्मा जीव मनुष्य हैं।

'ओ' कुछ मरणधर्मा जीव अमनुष्य नहीं है"

यदि विरुद्ध भाव निकाला जाय तो 'सब 'उ' 'वि' हैं' का कोई 'अ-वि' 'उ' नहीं है यह निकलेगा। इसलिये दोनों प्रक्रियाओं में भिन्नता है।

(४) व्यत्यय (Inversion) **एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें एक दिये हुए वाक्य से अन्य वाक्य का निष्कर्ष निकाला जाता है तथा निष्कर्ष का उद्देश्य दिये हुए वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।** जिस वाक्य से इस प्रकार का अनुमान निकालते हैं उसे **व्यत्येय** (Invertend) कहते हैं तथा निष्कर्ष वाक्य को **व्यत्यस्त** (Inverse) कहते हैं। व्यत्यय के दो भेद हैं (१) **पूर्ण** और (२) **अपूर्ण**। पूर्ण-व्यत्यय उसे कहते हैं जिससे व्यत्यस्त का विधेय व्यत्येय के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय वही होता है जो व्यत्येय का।

व्यत्यय के निम्नलिखित नियम हैं।

(१) व्यत्यस्त का उद्देश्य व्यत्येय के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय वही होता है जो व्यत्येय का तथा पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय व्यत्येय के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(३) व्यत्येय का परिमाण सामान्य होता है किन्तु व्यत्यस्त का परिमाण विशेष होता है। केवल सामान्य वाक्यों का ही

व्यत्यय हो सकता है और उसमें भी व्यत्यस्त सर्वदा विशेष ही होना चाहिये।

(४) पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण वही होता है जो व्यत्येय का; किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण व्यत्येयसे भिन्न होता है।

व्यत्यय की प्रक्रिया इस प्रकार है—व्यत्यय विवर्तभाव की भाँति अनन्तरानुमान का एक भिन्न रूप है और इसमें अभिमुखीकरण तथा परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। विवर्तभाव में हम प्रथम अभिमुखीकरण करते हैं और पश्चात् परिवर्तन करते हैं किन्तु व्यत्यय में ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है। व्यत्यय में हमारा ध्येय इतना ही है कि निष्कर्ष में उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद हो और इस लक्ष्य को लेकर यदि हम अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया का व्यतिक्रम के अनुसार प्रयोग करते चले जाँय तो हमें अभिवाञ्छित निष्कर्ष प्राप्त हो जायगा। यदि अभिमुखीकरण से शुरू करते हुए अभिवांछित निष्कर्ष न निकले तो प्रक्रिया को बंद कर देना चाहिये और दुबारा परिवर्तन से आरम्भ करना चाहिये। तथा यदि परिवर्तन से आरंभ करते हुए निष्कर्ष न निकले तो अभिमुखीकरण से शुरू करना चाहिये।

'आ' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ई' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ओ' में होता है। जैसे

व्यत्येय : "सब मनुष्य मरणशील हैं"—"सब 'उ' 'वि' हैं।"

व्यत्यस्त : "कुछ अमनुष्य अमरणशील नहीं हैं" (पूर्ण) 'कुछ 'अ-उ' 'अ-वि' हैं"

"कुछ अमनुष्य मरणशील नहीं हैं" (अपूर्ण) 'कुछ अ-उ' 'वि' नहीं हैं"

पूर्ण प्रक्रिया[1]

१	"सब 'उ'	'वि' है	अभिमुखीकरणीय (व्यत्येय)
२	कोई 'उ'	'अवि' नहीं हैं	अभिमुखीकृत
३	कोई 'अवि'	'उ' नहीं है	परिवर्तित
४	सब 'अवि'	'अ-उ' हैं	अभिमुखीकृत
५	कुछ 'अ-उ'	'अ-वि' है	परिवर्तित (पूर्ण व्यत्यस्त)
६	कुछ 'अ-उ'	'वि' नहीं हैं"	अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)

यदि हम परिवर्तन से आरम्भ करते तो हमारी उन्नति अभिवाञ्छित निष्कर्ष निकलने के पहले ही रुक जाती। अतः हमने अभिमुखीकरण से आरम्भ किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिमुखीकरण से आरम्भ कर हमें ५वीं अवस्था में पूर्ण व्यत्यस्त मिला है तथा ६ठी अवस्था में अपूर्ण व्यत्यस्त मिला है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि अपूर्ण व्यत्यस्त निकालने में विधेय, द्रव्यार्थ में ले लिया गया है जो मूल वाक्य में द्रव्यार्थ मे नहीं लिया गया है। तथापि अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई गलती नहीं है और हमारा निष्कर्ष निर्दोष है।

'प' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ई' मे होता है। जैसे,

व्यत्येय : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" = "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।"
व्यत्यस्त "कुछ अ-मनुष्य पूर्ण है" = "कुछ 'अ-उ' 'वि' हैं।"
(अपूर्ण)
व्यत्यस्त. "कुछ अ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं" = "कुछ 'अ-उ' 'अवि नहीं हैं।" (पूर्ण)

---

1 Full Process

पूर्ण प्रक्रिया

"कोई 'उ' वि नहीं हैं। परिवर्तित (व्यत्येय)
कोई 'वि' 'उ' नहीं हैं। अभिमुखीकृत
सब वि 'अ + उ' हैं। परिवर्तित
कुछ अ + उ' 'वि' हैं। अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)
कुछ 'अ + उ' 'अ-वि' नहीं हैं।" (पूर्ण व्यत्यस्त)

इससे स्पष्ट है कि पूर्णरूप से 'ए' का व्यत्यस्त 'ओ' होता है और अपूर्णरूप से 'ई' होता है। यदि यहाँ हम अभिमुखीकरण से आरम्भ करते तो हमारी उपपत्ति रुक जाती और हम अभिवांछित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते थे।

'ई' का व्यत्यय किसी में नहीं हो सकता। जैसे
व्यत्येय १ 'कुछ मनुष्य न्याय प्रिय हैं = "कुछ 'उ' 'वि' हैं।
व्यत्यस्त कोई निष्कर्ष नहीं।" = कोई निष्कर्ष नहीं।"

पूर्ण प्रक्रिया

प्रथम हम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया का प्रयोग करके देखते हैं—
१ 'कुछ उ' 'वि हैं। व्यत्येय
२ कुछ उ 'अवि' नहीं हैं। अभिमुखीकृत
यह परिवर्तित नहीं हो सकता।" (निष्कर्ष नहीं)

अब परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रयोग करके भी देखते हैं—

१ "कुछ उ' 'वि हैं व्यत्येय
२ कुछ वि' 'उ हैं परिवर्तित
३ कुछ 'वि' 'अ-उ' नहीं हैं अभिमुखीकृत
इसका परिवर्तित नहीं निकल सकता" (निष्कर्ष नहीं)
इससे यह सिद्ध हो गया कि दोनों अवस्थाओं में 'ई' का व्यत्यस्त

निकल ही नहीं सकता। अतः 'ई' का व्यत्यय किसी प्रकार नहीं हो सकता।

'ओ' का व्यत्यय किसी में नहीं हो सकता। जैसे,

व्यत्येय "कुछ मनुष्य न्यायप्रिय नहीं' = कुछ 'उ' वि' नहीं हैं।
व्यत्यस्त "कोई निष्कर्ष नहीं'=कोई परिणाम नहीं।

पूर्णप्रक्रिया

प्रथम हम अभिमुखीकरण से आरम्भ करते है —

१ "कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं (व्यत्येय)
२ कुछ 'उ' 'अ-वि' हैं अभिमुखीकृत
३ कुछ 'अ-वि' 'उ' हैं परिवर्तित
४ कुछ 'अ-वि' 'अ-उ' नहीं हैं अभिमुखीकृत

इसका परिवर्तित नहीं हो सकता" (निष्कर्ष नहीं)
अब हम परिवर्तन का प्रयोग करके देखते हैं —
१ "कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं (व्यत्येय)
इसका परिवर्तन नहीं हो सकता" (निष्कर्ष नहीं)

इस प्रकार दोनों ही हालत में हमें कोई निष्कर्ष नहीं मिलता अत 'ओ' का व्यत्यय नहीं हो सकता।

सक्षेप में पूर्ण व्यत्यय की प्रक्रिया से 'आ' का 'ई' में व्यत्यय होता है और अपूर्ण प्रक्रिया से 'ओ' में होता है। पूर्ण प्रकिया द्वारा 'ए' का 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण प्रक्रिया से 'ई' में होता है। किन्तु 'ई' और 'ओ' का किसी प्रकार व्यत्यय नहीं हो सकता।

(४) चारों प्रकार के अमाध्यमानुमानों की तुलना की तालिका[1]

	परिवर्तन	अभिमुखीकरण	विपर्याय	अपूर्ण व्यत्यय	पूर्ण व्यत्यय
निष्कर्ष का उद्देश्य	=मूल वाक्य का विधेय	=मूल वाक्य का उद्देश्य	=मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद	=मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद	=मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद
निष्कर्ष का विधेय	=मूल वाक्य का उद्देश्य	=मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद	=मूल वाक्य का उद्देश्य	मूल वाक्य का विधेय	मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद
निष्कर्ष का परिमाण	'ए' और 'ई' में समान। 'आ' में भिन्न। 'ओ' में निष्कर्ष का अभाव	समान	'आ' और 'ओ' में समान। 'ए' में भिन्न। 'ई' में निष्कर्ष का अभाव	अपेक्षित सामान्य अपेक्षित विशेष	अपेक्षित सामान्य अपेक्षित-विशेष
निष्कर्ष का गुण	समान	विरुद्ध	विरुद्ध	विरुद्ध	समान

1. Table.

इस तालिका में चारों प्रकार के अनन्तरानुमानों की एक दूसरे के साथ निम्नलिखित दृष्टि-विन्दुओं से तुलना हो सकती है।

(१) निष्कर्ष का उद्देश्य

परिवर्तन में निष्कर्ष का उद्देश्य मूलवाक्य का विधेय होता है। अभिमुखीकरण मे निष्कर्ष का उद्देश्य वही होता है जो मूल वाक्य का उद्देश्य होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है तथा व्यत्यय में निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) निष्कर्ष का विधेय

परिवर्तन में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य का उद्देश्य होता है अभिमुखीकरण में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य का उद्देश्य होता है। तथा पूर्ण व्यत्यय में निष्कर्ष का विधेय मूल-वाक्य के विधेय का आत्यन्त्निक विरोधी पद होता है और अपूर्ण व्यत्यय मे निष्कर्ष का विधेय वही होता है जो मूल वाक्य का विधेय होता है।

(३) निष्कर्ष का परिमाण

परिवर्तन में निष्कर्ष का परिमाण, 'ए' और 'ई' में, मूल वाक्य के समान होता है। 'आ' मे निष्कर्ष विशेप होता है जब कि मूल वाक्य सामान्य होता है। इस तरह कभी परिमाण समान होता है और कभी भिन्न होता है। क्योंकि 'ओ' मे निष्कर्ष का अभाव होता है इसलिये उसमें परिमाण का प्रश्न ही नहीं उठता। अभिमुखीकरण में निष्कर्ष का परिमाण वही होता है जो कि मूल वाक्य का होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का परिमाण 'आ' और 'ओ' में वही होता है जो मूल वाक्य

५—विरोध

विरोध (Opposition) भी एक प्रकार का अनन्तरानुमान है। इसका लक्षण वगैरह पहले बतलाया जा चुका है। फिर भी यहाँ अनुमान की दृष्टि से विचार किया जाता है। **विरोध एक प्रकार का सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में पाया जाता है।** तथा यह अनन्तरानुमान का प्रकार भी है। सम्बन्ध की दृष्टि से विरोध-सूचक चार सम्बन्ध हैं (१) समावेश (२) विरोध (३) उप-विरोध और (४) आत्यन्तिक विरोध। विरोध को जब हम अनुमान का प्रकार मानते हैं तब इसका अर्थ होता है कि एक वाक्य के आधार से दूसरे वाक्य का निष्कर्ष निकालना और वह इन चार प्रकार के सम्बन्धों द्वारा भली भाँति निकाला जा सकता है। अब हम उनके भिन्न भिन्न प्रकारों का विवेचन करते हैं.—

(१) समावेश (Subalternation) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में, जिनके उद्देश्य और विधेय वही हों तथा गुण भी वही हों किन्तु परिमाण में भिन्नता रखते हों, पाया जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' में तथा 'ए' और 'ओ' में पाया जाता है।

इसके निम्नलिखित नियम हैं —

(१) सामान्य की सत्यता तत्संगत विशेष की सत्यता को सिद्ध करती है किन्तु विपरीत अवस्था में नहीं।

(२) विशेष का मिथ्यापन तत्संगत सामान्य का मिथ्यापन सिद्ध करता है किन्तु विपरीत अवस्था में नहीं।

नियम (१) यदि सामान्य सत्य है तो तत्संगत विशेष भी

सत्य होगा। जैसे, यदि 'आ' सत्य है तो 'ई' भी सत्य होगा। उसी प्रकार यदि 'ए' सत्य है तो 'ओ' भी सत्य होगा। यदि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह भी सत्य होगा। उसी प्रकार 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह भी सत्य होगा।

इसका विपरीत नियम सत्य नहीं है। जैसे, यदि विशेष वाक्य 'ई' 'ओ'—सत्य होंगे तो सामान्य वाक्य—'आ', 'ए'—संशयापन्न होंगे। जैसे 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह भी सत्य हो सकता है किन्तु 'कुछ मनुष्य न्याय प्रिय हैं' इसके सत्य होने पर 'सब मनुष्य न्यायप्रिय हैं' यह संशयापन्न है। इससे सिद्ध होता है कि यदि विशेष वाक्य सत्य हों तो सामान्य वाक्य की सत्यता में संदेह रहता है।

नियम (२) यदि विशेष मिथ्या है तो तत्सगत सामान्य अवश्य मिथ्या होगा। जैसे, यदि 'ई' मिथ्या है तो 'आ' भी मिथ्या है और 'ओ' मिथ्या है तो 'ए' भी मिथ्या है। यदि 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह अवश्य मिथ्या होना चाहिये। इसी प्रकार यदि 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'कोई मनुष्य मरणधर्मा नहीं है' यह अवश्य मिथ्या है।

इसका विपरीत नियम (Converse) सत्य नहीं है। जैसे यदि सामान्य वाक्य—'आ' 'ए'—मिथ्या हों तो विशेष वाक्य 'ई' 'ओ' के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसे, 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह भी मिथ्या है किन्तु 'सब मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ

मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह सत्य हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सामान्य वाक्य के मिथ्या होने से विशेष वाक्य संशयापन्न होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है—यदि 'आ' सत्य हो तो 'ई' सत्य होगा। 'ए' सत्य हो तो 'ओ' सत्य होगा किन्तु यदि 'ई' सत्य हो तो 'आ' संशयापन्न होगा, 'ओ' सत्य हो तो 'ए' संशयापन्न होगा। तथा यदि 'ई' मिथ्या हो तो 'आ' मिथ्या होगा, 'ओ' मिथ्या हो तो 'ए' मिथ्या होगा किन्तु यदि 'आ' मिथ्या हो तो 'ई' संशयापन्न होगा, 'ए' मिथ्या हो तो 'ओ' संशयापन्न होगा।

(३) **विरोध (Contrary) सम्बन्ध वह है जो दो सामान्य वाक्यों में, जिनके उद्देश्य और विधेय वही हों, किन्तु गुण में भिन्नता रखते हों, पाया जाता है।** यह 'आ' और 'ए' में रहता है। इसका निम्नलिखित नियम है—

दो वाक्यों में एक की सत्यता दूसरे को मिथ्या बनाती है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

जैसे, 'आ' सत्य है तो 'ए' मिथ्या होगा और 'ए' सत्य है तो "आ' मिथ्या होगा। अगर 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो कोई मनुष्य मरणधर्मा नहीं है' यह मिथ्या होगा। इसी प्रकार यदि "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" यह सत्य है तो "सब मनुष्य पूर्ण हैं" यह मिथ्या होगा।

इसका विपरीत (Converse) नियम सत्य नहीं है। एक का मिथ्या होना दूसरे का सत्य होना नहीं बतलाता। इस प्रकार यदि 'सब मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या है तो 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह सत्य नहीं हो सकता अर्थात् यह भी मिथ्या उसी प्रकार है। किन्तु 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है और तत्सगत 'कोई मनुष्य

पूर्ण नहीं है' यह सत्य है। इससे फलित यह हुआ कि यदि 'आ' मिथ्या हो तो 'ए' संशयापन्न होगा। उसी प्रकार यदि 'ए' मिथ्या हो तो 'आ' संशयापन्न होगा।

संक्षेप में यदि 'आ' सत्य हो तो 'ए' मिथ्या होगा और यदि 'ए' सत्य होगा तो 'आ' मिथ्या होगा। तथा यदि 'आ' मिथ्या होगा तो 'ए' संशयापन्न होगा और यदि 'ए' मिथ्या होगा तो 'आ' संशयापन्न होगा।

(३) उपविरोध (Sub-Contrary) यह वह सम्बन्ध है जो दो विशेष वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य और विधेय हों किन्तु गुण में भिन्न हों, पाया जाता है। 'ई' और 'ओ' वाक्यों में यह रहता है।

इसके निम्नलिखित नियम हैं:—

(१) एक का मिथ्या होना दूसरे का सत्य होना बतलाता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

यदि 'ई' मिथ्या है तो 'ओ' सत्य होगा और यदि 'ओ' मिथ्या है तो 'ई' सत्य होगा। यदि 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह सत्य होगा और यदि 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य होगा।

इसका विपरीत नियम सत्य नहीं। एक का सत्य होना दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नहीं करता। यदि 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह सत्य है तो उसी समय 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं' यह भी सत्य है। किन्तु 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' सत्य है और तत्संगत 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है। इस प्रकार यदि 'ई' सत्य है

तो 'ओ' संशयापन्न है। तथा यह भी बतलाया जा सकता है कि यदि 'ओ' सत्य हो तो 'ई' संशयापन्न होगा।

संक्षेप में, यदि 'ई' मिथ्या हो तो 'ओ' सत्य होगा और यदि 'ओ' मिथ्या हो तो 'ई' सत्य होगा। किन्तु यदि 'ई' सत्य हो तो 'ओ' संशयापन्न होगा और यदि 'ओ' सत्य हो तो 'ई' संशयापन्न होगा।

(४) आत्यन्तिक-विरोध (Contradictory) उन दो वाक्यों में पाया जाता है जिनके उद्देश्य और विधेय वही होते हैं किन्तु वे दोनों गुण और परिणाम से सर्वथा भिन्न होते हैं। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ओ' तथा 'ए' और 'ई' में रहता है। आत्यन्तिक विरोध का निम्नलिखित नियम है :—

एक का सत्य होना अन्य को मिथ्या होना सिद्ध करता है तथा विपरीत रूप से भी।

इस सम्बन्ध के अनुसार दो वाक्यों में यदि एक सत्य होगा तो अन्य अवश्य मिथ्या होगा और यदि एक मिथ्या होगा तो अन्य अवश्य सत्य होगा। दोनों वाक्य एक ही समय सत्य नहीं हो सकते और न मिथ्या ही हो सकते हैं, उनमें से एक अवश्य सत्य होना चाहिये और दूसरा अवश्य मिथ्या होना चाहिये। आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्त (The law of Contradiction) के अनुसार आत्यन्तिक विरोधी दो पदों में से एक अवश्य मिथ्या होना चाहिये तथा मध्यम-योग परिहार के सिद्धान्त (The law of Excluded middle) के अनुसार दो पदों में से एक को अवश्य सत्य होना चाहिये। इस प्रकार आत्यन्तिक विरोध में, विरोध का सम्बन्ध परस्परापेक्ष है—विरुद्ध-पदों का अनुमान एक दूसरे से सरलतापूर्वक निकाला

जा सकता है। अन्य विरोधों में दोनों वाक्य इस प्रकार विरुद्ध नहीं होते जैसे इसमें। इसी हेतु से तार्किकों ने इस विरोध को पूर्ण विरोध माना है।

इस प्रकार आत्यन्तिक विरोध के अनुसार यदि 'आ' सत्य है तो 'ओ' मिथ्या होगा और यदि 'आ' मिथ्या होगा तो 'ओ' सत्य होगा यदि 'ए' सत्य है तो 'ई' मिथ्या होगा और यदि 'ए' मिथ्या है तो 'ई' सत्य होगा यदि 'ई' सत्य है तो 'ए' मिथ्या होगा और यदि 'ई' मिथ्या है तो 'ए' सत्य होगा, तथा यदि 'ओ' सत्य है तो 'आ' मिथ्या होगा और यदि 'ओ' मिथ्या है तो 'आ' सत्य होगा।

माना कि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य मनुष्यधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है और यदि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य मरण-धर्मा नहीं हैं' यह सत्य होगा। यदि 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह सत्य होगा। यदि 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय हैं' यह सत्य है तो 'कोई मनुष्य न्याय-प्रिय नहीं हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय हैं' यह मिथ्या है तो 'कोई मनुष्य न्यायप्रिय नहीं हैं' यह सत्य होगा। यदि 'कुछ विद्यार्थी बुद्धिमान नहीं हैं' यह सत्य है तो 'सब विद्यार्थी बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कुछ विद्यार्थी बुद्धिमान नहीं हैं' यह मिथ्या है तो 'सब विद्यार्थी बुद्धिमान हैं' यह सत्य होगा।

निम्नलिखित तालिका चारों वाक्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न अनुमानों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है :—

न०	दत्त	आ	ए	ई	ओ
१	आ सत्य		मिथ्या	सत्य	मिथ्या
२	आ मिथ्या		संशयापन्न	संशयापन्न	सत्य
३	ए सत्य	मिथ्या		मिथ्या	सत्य
४	ए मिथ्या	संशयापन्न		मिथ्या	संशयापन्न
५	ई सत्य	संशयापन्न	मिथ्या		संशयापन्न
६	ई मिथ्या	मिथ्या	सत्य		सत्य
७	ओ सत्य	मिथ्या	संशयापन्न	संशयापन्न	
८	ओ मिथ्या	सत्य	मिथ्या	सत्य	

५—रीति-परिणाम

रीति परिणाम (Model Consequence)। यह हमें पहले देख चुके हैं कि रीति के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं

का विपरीत नियम सत्य नहीं। यदि एक वाक्य अधिक निश्चयात्मक है तो उसके मिथ्या होने से न्यून निश्चयात्मक वाक्यों के मिथ्या होने का हम अनुमान नहीं कर सकते।

७—सम्बन्ध-रूपान्तर

सम्बन्ध-रूपान्तर (Change of Relation) यह पहले बतलाया जा चुका है कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं (१) निरपेक्ष और (२) सापेक्ष। सापेक्ष वाक्य पुन दो प्रकार के होते हैं (१) हेतुहेतुमद् वाक्य तथा (२) वैकल्पिक वाक्य। **सम्बन्ध-रूपान्तर एक प्रकार का अनुमान है जिसमें एक प्रकार के सम्बन्ध वाक्य से भिन्न प्रकार के सम्बन्ध वाक्य का अनुमान किया जाता है।** इसलिये इस अनुमान के चार रूप हो सकते हैं:—

(१) निरपेक्ष वा नियत वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान।
(२) हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान।
(३) वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान।
(४) हेतुहेतुमद् वाक्य से वैकल्पिक वाक्य का अनुमान।

अब हम प्रत्येक का विचार करते हैं:—

(१) निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान

जब हम निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का या हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान करें तो निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

(क) हेतुहेतुमद् वाक्य का हेतु निरपेक्ष वाक्य के उद्देश्य के समान होता है।

(ख) हेतुहेतुमद् वाक्य का हेतुमद् निरपेक्ष वाक्य के विधेय के सदृश होता है।

(ग) हेतुहेतुमद् वाक्य का परिमाण अपने हेतु के परिमाण पर निर्भर रहता है।

(घ) हेतुहेतुमद् वाक्य का गुण अपने हेतुमद् के गुण पर निर्भर रहता है।

(१) निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान

(आ) "सब 'उ' वि हैं = "यदि 'उ' है तो वि' है।
सब मनुष्य मरणशील हैं"—यदि मनुष्य हैं तो मरणशील है।"

(ए) "कोई उ वि नहीं है —' यदि 'उ' है तो 'वि' नहीं है।
कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है"—यदि मनुष्य हैं तो पूर्णता नहीं है।"

(ई) कुछ उ' 'वि है = 'यदि कुछ हालतों में उ है तो वि' है।
कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं" = यदि कुछ मनुष्य हैं तो वे बुद्धिमान हैं।"

(ओ) कुछ 'उ' 'वि नहीं है— 'यदि कुछ हालतों में 'उ' है तो 'वि नहीं है।
कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं" — यदि कुछ मनुष्य हैं तो वे न्यायप्रिय नहीं है।"

(२) हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान

(आ) यदि 'क' 'ख है तो 'ग 'घ है — "सब 'क' के ख' होने की अवस्थाएँ ग' के घ होने की अवस्थाएँ हैं।
यदि राम आता है तो सोहन आता है।" — सब राम के आने की अवस्थाएँ सोहन के आने की अवस्थाएँ हैं।'

(ए) "यदि 'क' ख' है तो ग' 'घ' नहीं है — "कोई क' के ख' होने की अवस्था ग' के 'घ' होने की अवस्था नहीं है।

	यदि वर्षा होती है तो मैं बाहर नहीं जाता"	=कोई वर्षा होने की अवस्था मेरे बाहर जाने की अवस्था नहीं है।"
(ई)	"यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है	="कुछ 'क' के 'ख' होने की अवस्थाएँ 'ग' के 'घ' होने की अवस्थाएँ हैं।
	यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य निर्धन पैदा होता है तो वह सफल होता है"	=कुछ निर्धन होने की अवस्थाएँ सफल होने की अवस्थाएँ हैं।"
(ओ)	"यदि कुछ अवस्थाओं मे 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है	="कुछ 'क' के 'ख' होने की अवस्थाएँ 'ग' के 'घ' होने की अवस्थाएँ नहीं है।
	यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य परिश्रम करता है तो सफल नहीं होता"	= कुछ परिश्रम करने की अवस्थाएँ सफल होने की अवस्थाएँ नहीं हैं।"

(३) वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् का अनुमान

वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य के अनुमान के विषय में मिल और यूवर्वेग एकमत नहीं है। मिल के अनुसार वैकल्पिक वाक्य के एक विकल्प का मिथ्या होना दूसरे विकल्प की सत्यता का द्योतक होता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं। इस प्रकार मिल महोदय के मत में वैकल्पिक वाक्य 'क' या तो 'ख' है या 'ग' है—से निम्नलिखित दो हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान हो सकता है —

(१) "यदि 'क' 'ग' नहीं है तो 'क' 'ख' है, और

(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'क' 'ग' है"

यूवर्वेग के मत में वैकल्पिक वाक्य के विकल्प का मिथ्या होना दूसरे विकल्प की सत्यता का द्योतक है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

अतः पूर्वेग के अनुसार वैकल्पिक वाक्य 'क' या तो 'ख' या 'ग' है—से निम्नलिखित चार हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान हो सकता है।

(१) "यदि 'क' 'ग' नहीं है तो 'क' 'ख' है।
(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'क' 'ग' है।
(३) यदि 'क' 'ग' है तो 'क' 'ख' नहीं है, और
(४) यदि 'क' 'ख' है तो 'क' 'ग' नहीं है।"

उपर्युक्त उदाहरणों से मिल और पूर्वेग के मतों का भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। पूर्वेग के अनुसार वैकल्पिक वाक्य के विकल्प दो आत्यन्तिक विरोधी वाक्यों के समान हैं किन्तु मिल के अनुसार वे दोनों दो उप-विरोधी वाक्यों के सदृश हैं। उदाहरणार्थ, "वह या तो धार्मिक है या तो अधार्मिक है" इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि दो विकल्प अर्थात् 'वह धार्मिक है' और 'वह अधार्मिक है' ये दोनों एक दूसरे के व्यावर्तक[1] हैं। अतः इससे हम निम्नलिखित ४ हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान कर सकते हैं:—

(१) यदि वह धार्मिक है तो वह अधार्मिक है।
(२) यदि वह अधार्मिक है तो वह धार्मिक है।
(३) यदि वह धार्मिक है तो वह अधार्मिक नहीं है। और
(४) यदि वह अधार्मिक है तो वह धार्मिक नहीं है।"

इस उदाहरण में पूर्वेग का मत सर्वथा ठीक है किन्तु यदि हम यह उदाहरण लें कि 'वह या तो असभ्य है या बदमाश है' इसमें दोनों विकल्प—'या तो असभ्य है और या बदमाश है'—सर्वथा एक दूसरे का व्यावर्तक नहीं हैं और इसलिये इसमें पूर्वेग का मत ठीक नहीं मालूम होता। इस उदाहरण में तो मिल महोदय का ही मत ठीक

---

1 Exclusive.

प्रतीत होता है और यह वैकल्पिक वाक्य निम्नलिखित दो हेतुहेतुमद् वाक्यों के समान होगा :—

(१) "यदि वह असभ्य नहीं है तो बदमाश है और

(२) यदि वह बदमाश नहीं है तो वह असभ्य है"

इन दोनों तार्किकों के मतभेद का निर्णय इस विचार से हो सकता है कि वास्तव मे दोनों विकल्प एक दूसरे के व्यावर्तक हैं या नहीं। यदि वे दोनों परस्पर व्यावर्तक हैं तो यूबर्वेग महोदय का मत ठीक है और यदि नहीं है तो मिल महोदय का मत ठीक है। तथापि हमें मिल महोदय का मत स्वीकार करना चाहिये क्योंकि उनका मत सब अवस्थाओं में ठीक बैठता है। यूबर्वेग का मत कुछ ही अवस्थाओं में सत्य ठहरता है।

हेतुहेतुमद् वाक्य से वैकल्पिक वाक्य का अनुमान

यह तीसरी प्रकिया की सर्वथा विपरीत प्रक्रिया है। यहाँ उसका दुहराना बिलकुल निरर्थक होगा। यूबर्वेग के अनुसार ४ हेतुहेतुमद् वाक्यों से एक वैकल्पिक वाक्य का अनुमान किया जा सकता है तथा मिल के अनुसार २ हेतुहेतुमद् वाक्यों से एक वैकल्पिक वाक्य का अनुमान किया जा सकता है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

(८) निर्धारण-संयोगानुमान

निर्धारण (Determinant) का अर्थ है विशेषण या उसी प्रकार का प्रशसात्मक शब्द जो एक पद के अर्थ को निर्धारित करता है। यह स्पष्ट है कि प्रशसात्मक शब्द, पद से सम्बन्ध नहीं रखता इसलिये द्रव्यार्थ की दृष्टि से यह उस पद के अर्थ को सीमित, सक्षिप्त या निर्धारित कर देता है। **निर्धारण-संयोगानुमान** (Inference by added Determinants) **अनन्तरानुमान का वह प्रकार है जिसमें हम एक दिये हुए वाक्य से एक दूसरे न्यूनतर द्रव्यार्थ के**

वाक्य का, उसके उद्देश्य और विधेय दोनों को उसी प्रकार निर्धारित कर, अनुमान करते हैं। जैसे,

"सब हिन्दू मनुष्य हैं
सब सभ्य हिन्दू सभ्य मनुष्य हैं"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के अनुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों में ही उसी प्रकार निर्धारण किया जाता है। अनुमान तभी सही होगा जब हम देखेंगे कि निर्धारण शब्द उद्देश्य और विधेय दोनों के विषय में उसी प्रकार लगाया गया है। किन्तु यह हमेशा उसी प्रकार के शब्द के प्रयोग करने से ठीक नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही शब्द जब वह उद्देश्य में लगाया जाता है तब भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तथा विधेय में लगाया जाता है तब किसी अन्य ही अर्थ का द्योतक होता है। जब एक ही निर्धारण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तब अनुमान दोषपूर्ण हो जाता है। विशेष रूप से जब निर्धारण शब्द गुणवाचक शब्द होते हैं तब दोषों की अधिक सम्भावना है। जैसे

"दीमक एक जानवर है,
बड़ी दीमक बड़ा जानवर है

यह अनुमान मत्यक्ष रूप से दोषयुक्त है क्योंकि निर्धारण शब्द 'बड़ा' उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ को पैदा करता है। अब हम यहाँ तीन उदाहरण सही अनुमान के देंगे और तीन गलत के। इससे दोनों के भेद का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। सही अनुमान के उदाहरण।—

(१) "अश्व एक जानवर है,
स्वामिभक्त अश्व स्वामिभक्त जानवर है।"

(२) "कविता मस्तिष्क का काम है
"अच्छी कविता अच्छे मस्तिष्क का काम है"

(१) "नेता मनुष्य है।
देशभक्त नेता देशभक्त मनुष्य है"

गलत अनुमान के उदाहरण —

(१) "नाटककार मनुष्य है,
बुरा नाटककार बुरा मनुष्य है"

(२) "गेंडा एक जानवर है,
छोटा गेंडा छोटा जानवर है"

(३) "चींटी एक जानवर है,
बड़ी चींटी बड़ा जानवर है।"

६—मिश्र-भावानुमान

मिश्र भावानुमान (Inference by Complex Conception) एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें हम अधिक मिश्र विचार के अंशों की तरह किसी वाक्य के उद्देश्य और विधेय का प्रयोग करते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध का परिवर्तन नहीं करते। उदाहरणार्थ,

"गाय चतुष्पद जन्तु है।
गाय का सिर एक चतुष्पद जन्तु का सिर है।"

यह अनुमान का प्रकार पूर्व के अनुमान की तरह का है। किन्तु इसमें पहले से कुछ अन्तर है। निर्धारण-संयोगानुमान में विशेषण पद या निर्धारण पद उद्देश्य और विधेय दोनों में जोड़ा जाता है और उनके अर्थ का वह निर्धारण करता है किन्तु मिश्र-भावानुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों ही किसी तीसरे पद के निर्धारण शब्द की भाँति प्रयोग किये जाते हैं। पहले में तो विशेषण पद उद्देश्य और विधेय दोनों में जोड़ा जाता है किन्तु पिछले में उद्देश्य और विधेय दोनों ही निर्धारण पद की तरह प्रयोग किये जाते हैं।

वाक्य का, उसके उद्देश्य और विधेय दोनों को उसी प्रकार निर्धारित कर, अनुमान करते हैं। जैसे,

"सब हिन्दू मनुष्य हैं
सब लम्बे हिन्दू लम्बे मनुष्य हैं"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के अनुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों में ही उसी प्रकार निर्धारण किया जाता है। अनुमान तभी सही होगा जब हम देखेंगे कि निर्धारण शब्द उद्देश्य और विधेय दोनों के विषय में उसी प्रकार लगाया गया है। किन्तु यह हमेशा उसी प्रकार के शब्द के प्रयोग करने से ठीक नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही शब्द जब वह उद्देश्य में लगाया जाता है तब भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तथा विधेय में लगाया जाता है तब किसी अन्य ही अर्थ का द्योतक होता है। जब एक ही निर्धारण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तब अनुमान दोषपूर्ण हो जाता है। विशेष रूप से जब निर्धारण शब्द गुणवाचक शब्द होते हैं तब दोषों की अधिक सम्भावना है। जैसे,

दीमक एक जानवर है
बड़ी दीमक बड़ा जानवर है'

यह अनुमान स्पष्ट रूप से दोषयुक्त है क्योंकि निर्धारण शब्द 'बड़ा' उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ को पैदा करता है। अब हम यहाँ तीन उदाहरण सही अनुमान के देंगे और तीन गलत के। इससे दोनों के भेद का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। सही अनुमान के उदाहरण :—

(१) "अरब एक जानवर है,
स्वामिभक्त अरब स्वामिभक्त जानवर है।"

(२) "कविता मस्तिष्क का कार्य है,
"अच्छी कविता अच्छे मस्तिष्क का कार्य है"

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुमान गलत भी हो सकते हैं। यदि मध्यम विभिन्न विचार, उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं तो अनुमान अवश्य गलत होगा। जैसे

सब गवर्नर मनुष्य हैं।

अधिक संख्यक गवर्नर अधिक संख्यक मनुष्य हैं।'

कुछ और, सही और गलत अनुमानों के उदाहरण दिये जाते हैं जिससे सही और गलत का अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

सही अनुमान के उदाहरण—

(१) "संखिया जहर है।
एक संखिया की मात्रा जहर की मात्रा है।'

(२) "गरीबी पाप का कारण है।
गरीबी का मिटाना पाप का मिटाना है।

(३)"हाथी एक जानवर है।
हाथी का कंकाल एक जानवर का कंकाल है।'

गलत अनुमान के उदाहरण—

(१) 'सब न्यायाधीश वकील हैं।
अधिक संख्यक न्यायाधीश अधिक संख्यक वकील हैं।

(२)"सब हिन्दू शंकरानुयायी हैं।
अधिक संख्यक हिन्दू अधिक संख्यक शंकरानुयायी हैं।

(३) जैन लोग धनी हैं,
अधिक संख्यक जैन लोग अधिक संख्यक धनी हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ अनुमान का लक्षण क्या है? अनन्तरानुमान और सान्तरानुमान में अन्तर उदाहरणपूर्वक बतलाओ।

२ परिवर्तन का लक्षण लिखो। क्या 'आ' का परिवर्तन 'आ' में हो सकता है?

३ अभिमुखीकरण किसे कहते हैं? 'आ' और 'ए' का अभिमुखीकरण करके दिखलाओ।

४ 'ई' और 'ओ' का व्यत्यय क्यों नहीं हो सकता? स्पष्ट उदाहरण देकर समझाओ।

५ विरुद्धभाव किसे कहते हैं? प्रत्येक वाक्य का विरुद्धभाव द्वारा अनुमान निकाल कर बतलाओ।

६ 'आ' और 'ई' की सत्यता और मिथ्यापन से हम अन्य वाक्यों के बारे में, विरोध-सम्बन्ध के आधार पर, क्या कह सकते हैं?

७ सिद्ध कीजिये :—

(१) आत्यन्तिक विरोधी पद एक साथ सत्य नहीं हो सकते।
(२) और विरोधी पद दोनों, किसी की अपेक्षा से मिथ्या हो सकते हैं?

८ अनन्तरानुमान का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि सामान्य-परिवर्तन और परिमित परिवर्तन में क्या अन्तर है?

९ निम्नलिखित वाक्यों से विरुद्धभाव, व्यत्यय और परिवर्तन द्वारा अनुमान निकालिये :—

(क) कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
(ख) कुछ ही मनुष्य उपस्थित न थे।
(ग) ब्राह्मण ही भोजन के लिये आमन्त्रित हैं।
(घ) गोविन्द को छोड़कर लॉजिक की कक्षा में सब होशियार हैं।
(ङ) सब तो पास नहीं हुए।

१ 'आ' और 'ई' वाक्यों को हेतुहेतुमद् वाक्यों में परिवर्तित कीजिये।

११ निर्धारण-संयोगानुमान का लक्षण लिखकर उसके सही और गलत उदाहरण दो। इस प्रकार के अनुमान गलत क्यों होते हैं?

१२. विकल्पानुमान का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसके दोष भी बतलाओ।

१३ न्यून-निश्चयात्मक वाक्य के मिथ्या होने से अधिक-निश्चयात्मक वाक्य के बारे में तुम क्या कह सकते हो? उदाहरण देकर समझाओ।

१४ सम्बन्ध-रूपान्तर से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? कुछ उदाहरण देकर इस अनुमान की प्रक्रिया को समझाओ।

१५. बतलाओ निम्नलिखित अनुमान सत्य हैं या असत्य?

(क) प्रोफेसर एक मनुष्य है
कुछ प्रोफेसर कुछ मनुष्य हैं।

(ख) केवल बच्चे ऐसा व्यवहार करते हैं।
जो ऐसा व्यवहार करते हैं वे बच्चे हैं।

(ग) धर्म से सुख होता है।
सुख से धर्म होता है।

(घ) ईमानदारी बड़ी अच्छी नीति है।
बेईमानी बड़ी बुरी नीति है।

अध्याय १२

सान्तरानुमान

सिलाजिज्म

अनुमान (Inference) के दो भेद बतलाए गये हैं (१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान। विशेषानुमान भी दो प्रकार का है, (१) अनन्तरानुमान और (२) सान्तरानुमान। अनन्तरानुमान का विवेचन गत अध्याय में हो चुका है। अब हम सान्तरानुमान का विवेचन करेंगे।

सान्तरानुमान (Mediate inference) विशेषानुमान का एक प्रकार है जिसमें दो या दो से अधिक दिये हुए वाक्यों से एक साथ मिलाकर निष्कर्ष निकाला जाता है। सान्तरानुमान कई प्रकार के होते हैं। उनमे मुख्य **सिलाजिज्म है**।

सिलाजिज्म (Syllogism) एक सान्तरानुमान का प्रकार है जिसमें दो दिये हुए वाक्यों से मिलाकर निष्कर्ष निकाला जाता है। हिन्दी में यदि हम इसके लिये कोई विशेष शब्द प्रयोग करें तो **अवयव-घटित न्याय** अत्यधिक उपयुक्त होगा। इस हिन्दी शब्द के अधिक लम्बा होने के कारण हमें सिलाजिज्म शब्द का यथावत् प्रयोग करना ही उचित प्रतीत होता है। तथा यह तर्क की अद्भुत प्रक्रिया है जो ग्रीस के लोगों की ही उपज है और अरस्तू इसका जन्मदाता है, अत हमने यही ठीक समझा है कि सिलाजिज्म शब्द का ही प्रयोग किया जाय। यह विशेषानुमान का रूप है अत इसका निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यो मे अधिक व्यापक नहीं हो सकता। यह सान्तरानुमान है क्योंकि

इसमें निष्कर्ष एक वाक्य से न निकाल कर दो वाक्यों से निकाला जाता है। जैसे

"सब मनुष्य मरणशील हैं
नागार्जुन मनुष्य है
नागार्जुन मरणशील है।"

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यह विशिष्ट प्रक्रिया है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं जो इसको अन्य प्रकार के अनुमानों से पृथक करती हैं:—

(१) सिलाजिज्म में निष्कर्ष दो वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला जाता है किसी एक वाक्य से नहीं। निष्कर्ष *सिलाजिज्म में, दोनों वाक्यों का जोड़ नहीं होता; किन्तु दोनों वाक्यों* को एक साथ लेकर उनसे आवश्यक परिणाम के रूप में निकाला जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में जो निष्कर्ष नागार्जुन मरणशील है निकाला गया है वह दोनों वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला गया है किसी एक वाक्य से नहीं। इस कारण से हम 'सिलाजिज्म को अनन्तरानुमान तथा अन्य सामान्यानुमान के रूपों से पृथक् कर देते हैं।

(२) सिलाजिज्म में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। यह पहले कहा जा चुका है कि सिलाजिज्म एक प्रकार का विशेषानुमान है और किसी भी विशेषानुमान के प्रकार में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष 'नागार्जुन मरणशील है' यह प्रतिज्ञा वाक्य 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इससे कम विस्तृत है क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्य तो सर्वजन साधारण है। *यह विशेषता सिलाजिज्म को सामान्यानुमान* (Induction) से पृथक् कराती है क्योंकि सामान्यानुमान में निष्कर्ष सर्वदा प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत होता है

(३) यदि प्रतिज्ञा वाक्य सत्य है तो निष्कर्ष अवश्य सत्य होगा। विशेषानुमान रूपविषयक शास्त्र है। इसमे विषय की चर्चा के लिये स्थान नहीं। यदि रूप सत्य है तो उससे निकाला हुआ निष्कर्ष भी सत्य होगा। हम विशेषानुमान मे प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता पर कभी प्रश्न नहीं उठाते। उनके सत्य होने पर हमारा निष्कर्ष अवश्य ही सत्य होना चाहिये। विशेषानुमान मे सर्वदा प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता स्वीकार की जाती है और उनकी सत्यता के आधार पर हम निष्कर्ष निकाल लेते हैं, इसलिये यह कहा जाता है कि निष्कर्ष की सत्यता प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता पर निर्भर रहती है।

(२) सिलाजिज़्म की रचना

जहाँ तक सिलाजिज़्म की रचना का सम्बन्ध है हमने उपर्युक्त उदाहरण में देखा है कि उसमें तीन वाक्य हैं। अत. यह नियम है कि **सिलाजिज़्म में तीन ही वाक्य होते हैं न अधिक और न न्यून।** इसमें निकाला हुआ वाक्य निष्कर्ष (Conclusion) कहलाता है। तथा जिन दो वाक्यों से निष्कर्ष निकालते हैं उन्हें प्रतिज्ञा वाक्य कहते हैं। अब हम देखेंगे कि प्रत्येक वाक्य में दो पद होते हैं। अत एक सिलाजिज़्म मे छ पद होने चाहिये। किन्तु सम्यक् प्रकार से परीक्षा करने के बाद यह प्रतीत होगा कि सिलाजिज़्म में छः पद नहीं होते अपितु केवल तीन ही पद होते हैं। हाँ, वे तीनों पद दो दो बार प्रयुक्त होते हैं।

ये तीन पद जो सिलाजिज़्म में प्रयुक्त होते हैं उनके अलग-अलग नाम हैं। इन पदों का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमे निष्कर्ष से शुरू करना चाहिये। **निष्कर्ष का विधेय, मुख्य पद** (Major term) **कहलाता है। निष्कर्ष का उद्देश्य अमुख्यपद** (Minor term) **कहलाता है तथा वह पद जो दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है उसे मध्यम पद** (Middle term) **कहते**

हैं। मुख्य पद तथा अमुख्य पद चरम पद (Extremes) भी कहलाते हैं जिससे हम मध्यमपद को उनसे पृथक् कर सकें।

(१) मध्यम पद

मध्यम पद (Middle term) का सिलाजिज्म में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यह दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों मे आता है और दोनों के बीच में सम्बन्ध सूचक है। निष्कर्ष वाक्य ही दोनों चरम पदों मे *सम्बन्ध स्थापित करने की सूचना देता है। अन्यथा* दोनों चरम पद परस्पर अपरचित रहते हैं। दोनों में परिचय या सम्बन्ध स्थापित करना मध्यम पद का काम है। जैसे दो व्यापारी एक दूसरे को सर्वथा नहीं जानते किन्तु दलाल दोनों को एकत्रित कर उनका सौदा करवा देता है। ठीक उसी प्रकार चरम पद अर्थात् मुख्य पद और अमुख्य पद एक दूसरे से सर्वथा असम्बन्धित रहते हैं किन्तु जब मध्यम पद उनके साथ जोड़ दिया जाता है तो यह दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर निष्कर्ष निकलवाने में सहायता करता है। इसका मध्यम पद नाम रखना इसलिये ही सार्थक है। इस प्रकार मुख्य वाक्य मे मुख्य पद के साथ मध्यम पद की तुलना की जाती है और अमुख्य वाक्य में अमुख्य पद के साथ मध्यम पद की तुलना की जाती है और अन्ततः निष्कर्ष वाक्य में मुख्य पद और अमुख्य पद के बीच मे सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। मध्यम पद यहाँ मध्यवर्ती इसलिये कहा जाता है कि यह दोनों का सम्बन्ध सूचक होता है और इसी के बल पर हम प्रतिज्ञा वाक्यों से निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। मध्यम पद की यह विशेषता है कि यह अपना दलाली का काम कर निष्कर्ष में से सर्वथा अलग हो जाता है अर्थात् इसका निष्कर्ष में दर्शन नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो गया कि सिलाजिज्म में हम साक्षात् अर्थात् अनन्तर ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाते किन्तु मध्यम पद के द्वारा पहुँचते हैं

यदि मध्यम पद इस प्रकार चरम पदों के साथ सम्बन्ध स्थापित न करे तो हमें निष्कर्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

जहाँ तक प्रतिज्ञा वाक्यों के स्वरूप का सम्बन्ध है **जिस प्रतिज्ञा वाक्य में मुख्य पद होता है उसे मुख्य वाक्य** (Major Premise) **कहते हैं और जिसमें अमुख्यपद होता है उसे अमुख्य वाक्य** (Minor Premise) **कहते हैं।** उदाहरणार्थ निम्नलिखित सिलाजिज्म में:—

(१) "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
(२) सब नेता मनुष्य हैं।
(३) सब नेता मरणधर्मा हैं।"

'मरणधर्मा' पद मुख्य पद है क्योंकि यह निष्कर्ष का विधेय है। **'नेता'** पद अमुख्य पद है क्योंकि यह निष्कर्ष का उद्देश्य है। तथा **'मनुष्य'** पद जो मुख्य वाक्य और अमुख्य वाक्य दोनों मे आया है किन्तु निष्कर्ष में नहीं आया है वह मध्यमपद है। प्रथम प्रतिज्ञा-वाक्य मुख्य वाक्य है क्योंकि इसमें मुख्य पद आया है और उसकी तुलना मध्यम पद के साथ की गई है। दूसरा प्रतिज्ञा-वाक्य अमुख्य वाक्य है क्योंकि इसमें अमुख्य पद आया है तथा इसकी मध्यम पद के साथ इसमे तुलना की गई है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि नियत[1] तार्किक[2] सिलाजिज्म के स्वरूप मे 'मुख्य वाक्य' पहले आता है 'अमुख्य वाक्य' दूसरे आता है तथा 'निष्कर्ष' तीसरे आता है। यहाँ हम मुख्य वाक्य का निम्नलिखित रूपों में वर्णन कर सकते हैं:—

(१) मुख्य वाक्य वह है जिसमें मुख्य पद आता है।

(२) मुख्य वाक्य वह है जिसमें मुख्य पद की मध्यम पद के साथ तुलना की जाती है।

---

1. Strict 2 Logical

(३) मुख्य वाक्य वह है जो नियत सिलाजिज्म में सर्व प्रथम रक्खा जाता है।

इस तरह अमुख्य वाक्य का भी हम निम्नलिखित रूपों में वर्णन कर सकते हैं :—

(१) अमुख्य वाक्य वह है जिसमें अमुख्य पद आता है।

(२) अमुख्य वाक्य वह है जिसमें अमुख्य पद की मध्यम पद के साथ तुलना की जाती है।

(३) अमुख्य वाक्य वह है जो नियत सिलाजिज्म में दूसरे स्थान पर आता है।

यहाँ यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि मध्यम पद के लिये हम भविष्य में 'म' प्रयोग करेंगे और अमुख्य पद के लिये 'ल' तथा मुख्य पद के लिये 'ब' का प्रयोग किया जायगा।

(४) सिलाजिज्म के प्रकार

सिलाजिज्म दो प्रकार का है—(१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध सिलाजिज्म में अंशरूप[1] वाक्य उसी प्रकार के सम्बन्ध के होते हैं। यदि सभी वाक्य निरपेक्ष या नियत (Categorical) वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध निरपेक्ष या नियत (Pure Categorical) कहलाता है और यदि सब हेतुहेतुमद् वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध हेतुहेतुमद् (Pure Hypothetical) कहलाता है और यदि सब वैकल्पिक वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध वैकल्पिक (Pure Disjunctive) कहलाता है। मिश्र सिलाजिज्म (Mixed Syllogism) में अंशरूप वाक्य भिन्न भिन्न सम्बन्धों के होते हैं। मिश्र सिलाजिज्म तीन प्रकार के होते हैं —

---

1 Constituent.

(१) हेतुहेतुमद् निरपेक्ष, (२) वैकल्पिक-निरपेक्ष, (३) उभयतः-पाश या उभय-सम्भव।

(१) हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष (Hypothetical categorical) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य हेतुहेतुमद् होता है, अमुख्य वाक्य, निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है।

(२) वैकल्पिक-निरपेक्ष (Disjunctive categorical) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है, अमुख्य वाक्य निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष होता है।

(३) उभय सम्भव (Dilemma) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य मिश्र हेतुहेतुमद् वाक्य होता है, अमुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है और निष्कर्ष या तो निरपेक्ष होता है या वैकल्पिक वाक्य होता है।

(५) शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म के सिद्धान्त

सिलाजिज्म के कुछ अटल सिद्धान्त हैं जिनको हम इस प्रकार के तर्क का आधार कह सकते हैं। इसके बिना सिलाजिज्म के द्वारा हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। ये सिलाजिज्म के स्वत. सिद्ध[1] सिद्धान्त कहलाते हैं।

सिद्धान्त (१) दो पद जिनका एक, और उसी एक पद से मेल बैठता है, उनका आपस में भी मेल बैठता है जैसे,

"लोहा सबसे सस्ती धातु है।
लोहा सबसे लाभदायक धातु है।
सबसे सस्ती धातु सबसे लाभदायक धातु है।

इस उदाहरण में 'सबसे सस्ती धातु' और 'सबसे लाभदायक धातु' इन दोनों पदों का 'लोहा' पद के साथ मेल बैठता है अत इन

1 Self-evident.

दोनों का आपस में भी मेल बैठ जायगा। यहाँ मेल पूर्ण अनुरूपता के साथ है किन्तु यह सर्वत्र सम्भव नहीं है। जैसे

सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
नागार्जुन मरणधर्मा है।'

इस उदाहरण में 'मरणधर्मा' और 'नागार्जुन' इन दोनों पदों का मनुष्य के साथ आंशिक मेल बैठता है अतः मरणधर्मा और नागार्जुन' इन दोनों का भी मेल बैठ जाता है।

सिद्धान्त (२) दो पद जिनमें से एक और उसी एक पद से एक का मेल बैठता है और दूसरे का नहीं बैठता, उनका आपस में मेल नहीं बैठ सकता। जैसे

कोई मनुष्य अमर नहीं है।
नागार्जुन मनुष्य है।
नागार्जुन अमर नहीं है।"

इस उदाहरण से 'नागार्जुन पद' का मनुष्य पद के साथ मेल बैठता है किन्तु अमर पद का 'मनुष्य' पद के साथ मेल नहीं बैठता इसलिये नागार्जुन' और अमर' इन दो पदों का आपस में मेल नहीं बैठता। वास्तव में विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि ये दोनों सिद्धान्त अरस्तू के सिद्धान्त के उप-सिद्धान्त हैं। अरस्तू ने सिलाजिज्म के लिये अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन किया है:—

(६) अरस्तू का सिद्धान्त

'सब के विषय में वक्तव्य और किसी के विषय में नहीं' (Dictum de omni et nullo) अर्थात् ऐसा कथन करना जो सबके विषय में लागू हो और किसी के विषय में लागू न हो। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है:—

(१) द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए एक पद के विषय में चाहे विधिरूप से या निषेध रूप से जो कुछ विधान किया गया है वह विधान उसी प्रकार हर एक वस्तु के विषय में, जो उसके अन्तर्गत है, किया जा सकता है।

(२) द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए एक सामान्य के विषय में जो कुछ सत्य है वह उस सामान्य के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के विषय में सत्य हो सकता है तथा जो कुछ एक द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए सामान्य के विषय में सत्य नहीं है वह उस सामान्य के अन्तर्गत व्यक्तियों के विषय में भी सत्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—यह स्पष्ट है कि जो कुछ मनुष्य जाति के विषय में सत्य है वह उस जाति के अन्तर्भूत प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नागार्जुन हो, अक्षपाद हो या समन्तभद्र हो, सत्य होगा तथा जो कुछ सब मनुष्यों के विषय में सत्य नहीं है, वह उस जाति के अन्तर्भूत प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कोई क्यों न हो सत्य नहीं हो सकता। यदि मरणधर्म सब मनुष्य जाति के लिये लागू है तो वह नागार्जुन वगैरह के लिये अवश्य लागू होगा। यदि पूर्णत्व सब मनुष्यों में नहीं पाया जाता तो नागार्जुन वगैरह में पूर्णत्व नहीं पाया जा सकता। इससे मालूम पड़ता है कि यह अरस्तू का सिद्धान्त कितने महत्त्व का है। आगे चलकर यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा कि यह सिद्धान्त केवल प्रथम आकृति (First Figure) न ही सरल विधि से लागू हो सकता है अन्य आकृतियों में सरल विधि से लागू नहीं हो सकता। यही कारण था कि अरस्तू महोदय ने केवल प्रथम आकृति को ही पूर्ण आकृति माना और अन्य आकृतियों को अपूर्ण माना। वास्तव में अरस्तू ने तो केवल तीन ही आकृतियों को अर्थात् प्रथम, द्वितीय और तृतीय को स्वीकार किया था। चतुर्थ आकृति को तो गेलेन (Galen) महोदय ने, जो १३०-२०० ई० पू० हुए हैं, पीछे से उनके

भाग सम्मिलित कर दिया था। अरस्तू के सिद्धान्तानुसार तो द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ—ये तीनों ही आकृतियाँ अपूर्ण माननी चाहिये। क्योंकि जो सिद्धान्त अरस्तू ने निगमविग्रम के लिये स्थिर किया है वह उनमें से किसी में सरल रीति से नहीं लगता। अतः प्रथम आकृति ही शुद्ध और निर्दोष आकृति माननी चाहिये।

(७) लेम्बर्ट के सिद्धान्त

यह पहले बतलाया जा चुका है कि अरस्तू प्रथम आकृति को ही ठीक समझता था। अन्य आकृतियाँ उसके सिद्धान्त के अनुसार ठीक न थीं। क्योंकि उसका सिद्धान्त पहली आकृति में ही सरल रीति से लागू होता था अन्य में नहीं। किन्तु लेम्बर्ट (Lambert) आदि कुछ तार्किक ऐसे हुए हैं जिनका विचार है कि चारों ही आकृतियाँ मौलिक और ठीक हैं और प्रत्येक का नियामक सिद्धान्त पृथक् पृथक् है। अतः अरस्तू के सिद्धान्त के अतिरिक्त लेम्बर्ट ने द्वितीय तृतीय और चतुर्थ आकृति के नियमन के लिये तीन अन्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं और वे ये हैं—

भेद का सिद्धान्त (Dictum de Diverso)। यदि एक पद किसी तीसरे में अन्तर्भूत है और दूसरा उससे पृथक् कर दिया गया है तो वे दोनों आपस में एक दूसरे से पृथक् कर दिये जायँगे।

'निदर्शन का सिद्धान्त (Dictum de Exemplo)। जो पद जिनमें साधारण अंश[1] पाया जाता है और जिनका आपस में आंशिक रूप से मेल है। अर्थात् यदि एक के अन्दर अंश पाया जाता है और दूसरे के अन्दर नहीं पाया जाता तो वे आंशिक रूप से आपस में एक दूसरे से भेद रखते हैं।

---

1 Part.

परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त (Dictum de Reciproco)। वेल्टन (Welton) महोदय ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है। जिस किसी प्रकार किसी पद के विषय में किसी पद की विधि की गई है या सामान्य रूप से निषेध किया गया है, उसी प्रकार उसका विशेष रूप से भी उसी गुण के साथ किसी वस्तु का विधान किया जा सकता है जिसकी विधि उस विधेय के साथ की गई है, तथा जिस किसी प्रकार उसके बारे में सामान्य रूप से किसी विधेय की विधि की गई है उसका उसी प्रकार सामान्य रूप से, जिसका सामान्य रूप से उस विधेय के साथ निषेध किया गया है, निषेध भी किया जा सकता है।

ये तीन नियम प्रथम आकृति को छोड़कर अन्य आकृतियों को प्रमाण कोटि में लाने के उद्देश्य से लेम्बर्ट महोदय ने बनाए हैं। इनके प्रयोग से अवशिष्ट तीन आकृतियों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

(८) निरपेक्ष सिलाजिज्म के साधारण नियम तथा उनके भंग से पैदा होने वाले दोषों का वर्णन

सिलाजिज्म एक प्रकार का सान्तरानुमान है। इसके साधारण नियम निम्नलिखित हैं—

नियम (१) प्रत्येक सिलाजिज्म के तीन और तीन ही पद होने चाहिये।

वास्तव में देखा जाय तो यह सिलाजिज्म का नियम ही नहीं है। इस नियम से तो हम यह निश्चित कर सकते हैं कि अमुक अनुमान सिला-जिज्म है या नहीं। सिलाजिज्म में तीन पद होते हैं (१) मुख्य पद (२) अमुख्य पद और (३) मध्यम पद। इनमें से प्रत्येक पद दो बार आता है। यदि इस नियम का पालन न किया जाय तो चार पद का दोष

(Fallacy of four terms) हो जायगा। तार्किकों ने इसका नाम चतुष्पद दोष रक्खा है। जैसे,

> "सब मनुष्य मरणशील हैं।
> सब हाथी स्थूल जीव हैं।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यहाँ हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। क्योंकि चार पद होने से इनमें कोई मध्यम पद की तरह मुख्य पद और अमुख्य पद के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला नहीं है। इससे भी अधिक रोचक उदाहरण यह है:—

> "मेरा हाथ कुर्सी को छूता है
> कुर्सी जमीन को छूती है
> मेरा हाथ जमीन को छूता है।"

यहाँ पर भी चार पद हैं—मेरा हाथ—जो कुर्सी को छूता है—कुर्सी—जो जमीन को छूती है अतः यहाँ कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस नियम की मुख्य सार्थकता तो यह है कि यह नियम तीनों पदों के विषय में किसी प्रकार के द्वयर्थक शब्दों के प्रयोग को रोकता है। यदि कोई भी पद दो अर्थ में प्रयोग किया जायगा तो वहाँ संदिग्ध-पद-दोष (Fallacy of Equivocation) हो जायगा। यथार्थ में द्वयर्थक या अनेकार्थक शब्द उतने ही पद हैं जितने अर्थों में उनका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक अर्थ एक स्वतंत्र पद का निर्माण करता है। किन्तु तीनों पद संदिग्धार्थ में प्रयुक्त हो सकते हैं और इस प्रकार से तीन प्रकार के पृथक् पृथक् दोषों को जन्म दे सकते हैं। वे ये हैं:—(१) संदिग्ध मुख्य पद (२) संदिग्ध अमुख्य पद और (३) संदिग्ध मध्यम पद। अब प्रत्येक के उदाहरण दिये जायँगे।

संदिग्ध मुख्य पदः—

"कोई धैर्यवान पशु भागता नहीं है।
घोडा धैर्यवान पशु है।
∴ घोडा भागता नहीं है।"

इस उदाहरण में सदिग्ध मुख्य पद (Ambiguous Major) दोष है क्योंकि 'भागता है' पद दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। मुख्य वाक्य मे 'भागता है' का अर्थ है डर से भागना। किन्तु निष्कर्ष मे 'भागना' का अर्थ है सामान्य भागना जैसे 'घोडे भागा करते हैं।' यह दोष मुख्य पद के सदिग्धार्थ से उत्पन्न होता है।

संदिग्ध अमुख्य पदः—

"कोई मनुष्य उडनेवाला नहीं है।
सब द्विज मनुष्य हैं।
कोई द्विज उडनेवाला नहीं है।"

इस उदाहरण में सदिग्ध अमुख्य पद (Ambiguous Minor) का दोष है क्योंकि द्विज पद, दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। अमुख्य वाक्य में द्विज शब्द का अर्थ है 'ब्राह्मण' तथा निष्कर्ष में द्विज शब्द का अर्थ 'पक्षी' है। यहाँ यह दोष अमुख्य पद को सदिग्धार्थ में प्रयोग करने से हुआ है।

संदिग्ध मध्यम पदः—

"सब आचार्य पडित होते है।
यह ब्राह्मण आचार्य हैं।
∴ यह ब्राह्मण पडित है।"

इस उदाहरण मे सदिग्ध मध्यमपद (Ambiguous Middle) का दोष है क्योंकि मध्यम पद आचार्य, दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। मुख्य वाक्य मे तो आचार्य का अर्थ है 'आचार्य, परीक्षा पास' तथा अमुख्य वाक्य में आचार्य का अर्थ है केवल 'कर्म करानेवाला'।

अतः यहाँ मध्यम पद को संदिग्धार्थ में प्रयोग करने से यह उदाहरण दोषयुक्त कहा जाता है।

नियम (२) प्रत्येक सिलाजिज्म में तीन और तीन ही वाक्य होने चाहिये।

यह नियम भी सिलाजिज्म का नहीं है। किन्तु यह निश्चित करता है कि सिलाजिज्म के लिये तीन ही वाक्यों की आवश्यकता है। यदि कम होंगे तो वह अनन्तरानुमान होगा या वाक्य मात्र होगा। यदि अधिक होंगे तो वह अनुमान-माला होगी। अतः यह आवश्यक है कि सिलाजिज्म में तीन ही वाक्य होने चाहिये न कम न अधिक।

नियम (३) मध्यम पद कम से कम वाक्यों में एक बार अवश्य पूर्णार्थ में महण करना चाहिये।

यह पहले दर्शाया जा चुका है कि मुख्य पद और अमुख्य पद के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये मध्यम पद की आवश्यकता है। किन्तु यह सम्बन्ध तबतक स्थापित नहीं हो सकता जब तक मध्यम पद कम-से-कम एक बार पूर्णार्थ में ग्रहण न किया जाय। अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार भी दोनों चरम पद जब तक मध्यम पद के साथ सम्बन्धित न हो जाँय तबतक उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वास्तव में मध्यम पद दोनों का संयोजक है। यदि मध्यम पद के एक भाग की मुख्य पद के साथ तुलना की जाय और उससे सर्वथा भिन्न भाग की अमुख्य पद के साथ तुलना की जाय तो कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जैसे

> "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
> सब हाथी मरणधर्मा हैं।"

इन दो वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस नियम के पालने से अपूर्णार्थी मध्यम पद दोष होता। जैसे

(१) "सब धार्मिक मनुष्य प्रसन्नचित्त होते हैं।
सब धनिक प्रसन्नचित्त होते हैं।
. सब धनिक धार्मिक मनुष्य होते हैं।"

(२) "सब ग्रह गोल है।
चक्र गोल है।
चक्र ग्रह है।"

(३) "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब जानवर मरणधर्मा हैं।
सब जानवर मनुष्य हैं।"

ये तीनों तर्क अद्रव्यार्थी मध्यमपद के दोष से युक्त हैं क्योंकि नियम के अनुसार मध्यमपद कम से कम एक वार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये, और इन तीनों अनुमानों में यह स्पष्ट है कि मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय होने से द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। सामान्य-वाक्य केवल उद्देश्य को द्रव्यार्थ में लेते हैं,' विधेय को नहीं।

नियम ४—कोई भी पद निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता जब तक कि वह प्रतिज्ञा वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया गया हो।

सिलाजिज्म विशेषानुमान का प्रकार है अतः इसमें निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक सामान्य नहीं हो सकता। इसलिये जो पद अपने पूर्ण द्रव्यार्थ में वाक्य में ग्रहण नहीं किया गया है वह निष्कर्ष में पूर्ण द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। **इस नियम** के भंग करने से **अनियमित मुख्यपद** (Illicit Major) **तथा अनियमित अमुख्यपद** (Illicit Major) ये दो दोष उत्पन्न होते है।

अनियमित मुख्यपद के उदाहरण—

(१) "सब हाथी चतुष्पद हैं।
कोई कुत्ते हाथी नहीं हैं।
कोई कुत्ते चतुष्पद नहीं हैं।"

(२) "सब हिन्दू आर्य हैं।
कोई अँगरेज हिन्दू नहीं है।
कोई अँगरेज आर्य नहीं हैं।"

(३) "जो कुछ सोचता है वह सत्तावान् है।
जड़ सोचता नहीं है।
जड़ सत्तावान नहीं है।"

इन सब अनुमानों की परीक्षा करने पर हम देखेंगे कि इनमें मुख्य-पद निष्कर्ष में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है किन्तु मुख्य-वाक्य में वह व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः ये उदाहरण अनियमित मुख्य पद (Illicit Major) के दोष से युक्त हैं।

अनियमित अमुख्यपद के उदाहरण:—

(१) "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
सब मनुष्य जानदार हैं।
सब जानदार पूर्ण नहीं हैं।"

(२) "सब मनुष्य मरणशील हैं।
सब मनुष्य समझदार हैं।
सब समझदार जीव मरणशील हैं।"

(३) "सब जड़ पदार्थों में वजन होता है।
सब जड़ पदार्थ विस्तारवाले होते हैं।
सब विस्तारवाले पदार्थों में वजन होता है।"

नियम ५—दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

किसी निषेधात्मक वाक्य की पर्यालोचना करने से प्रतीत होगा कि निषेधात्मक वाक्य में विधेय का उद्देश्यके साथ निषेध किया जाता है। यदि दोनों ही प्रतिज्ञा-वाक्य निषेधात्मक हों तो इसका अर्थ यह हुआ कि मध्यम-पद का मुख्यपद और अमुख्यपद से कोई सम्बन्ध हीनहीं है। यदि मध्यमपद दोनों से ही सम्बन्धित नहीं है तो इससे यही सिद्ध हुआ कि दोनों पदों अर्थात् मुख्यपद और अमुख्यपद के बीच में कोई साधारण सम्बन्ध नहीं है। निष्कर्ष तभी सम्भव हो सकता है जब कम-से-कम एक चरम पद मध्यमपद के साथ सम्बन्धित हो और उस सम्बन्ध के आधार पर हम चरम पद के साथ चाहे मेल में, चाहे भेद में, किसी परिणाम पर पहुँच सकें। अन्यथा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

निम्नलिखित दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

"कोई मनुष्य चतुष्पद नहीं है।
कोई चतुष्पद समझदार नहीं है।
(कोई निष्कर्ष नहीं)"

"कोई भी भारतीय स्त्री के अपमान को सहन नहीं कर सकता।
रामकृष्ण स्त्री के अपमान को सहन नहीं कर सकता।
रामकृष्ण भारतीय है। (ग़लत निष्कर्ष)"

नियम ६—यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये। तथा निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये एक वाक्य अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये।

नियम ५ हमें यह बतला चुका है कि दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। कम से कम एक वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये जिससे निष्कर्ष निकाला जा सके। नियम ६ यह कहता है कि यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक वाक्य यही द्योतित करता है कि मध्यमपद के साथ

एक चरम पद का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा दूसरा वाक्य जो विध्यात्मक है उसमें मध्यम पद का अन्य चरम पद के साथ सम्बन्ध है। इससे यही ध्वनित होता है कि दोनों चरम पदों[1] का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे,

"कोई पूर्ण मनुष्य मरणधर्मा नहीं है।
सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।"

इस उदाहरण में दो प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक है।

इस नियम का विपरीत नियम भी सत्य है। निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये कम से कम एक प्रतिज्ञा वाक्य अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निष्कर्ष निषेधात्मक है तो इसका अर्थ है कि चरम पदों में कोई सम्बन्ध नहीं। यह तभी हो सकता है जब हम कम से कम एक प्रतिज्ञा-वाक्य को निषेधात्मक रक्खें जिससे यह प्रतीत हो जाय कि मध्यम पद का चरम पदों में से एक के साथ सम्बन्ध नहीं है, और एक विध्यात्मक वाक्य हो जो यह बतलाये कि मध्यम पद का चरम पदों में से एक के साथ कुछ सम्बन्ध है। इसलिये निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये कम से कम एक वाक्य का निषेधात्मक होना आवश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष निषेधात्मक है; इसलिये प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक वाक्य भी निषेधात्मक है।

नियम ७—यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक हों तो निष्कर्ष भी नियम से विध्यात्मक ही होगा। तथा विध्यात्मक निष्कर्ष के लिये यह आवश्यक है कि दोनों ही प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक हों।

---

1 Extremes.

यदि दोनों ही वाक्य विध्यात्मक हों तो इसका अर्थ यह है कि मध्यम-पद का दोनों ही चरम पदों के साथ सम्बन्ध है। इससे हम यही अनुमान कर सकते हैं कि दोनों चरम पदों में आपस में सम्बन्ध है। जैसे,

"सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब राजा मनुष्य हैं।
सब राजा मरणधर्मा हैं।"

इस उदाहरण में दोनों ही प्रतिज्ञा-वाक्य विध्यात्मक हैं, अतः निष्कर्ष भी विध्यात्मक है।

इस नियम का विपरीत नियम भी सत्य होता है। अर्थात् यदि हम निष्कर्ष विध्यात्मक चाहते हैं तो उसके लिये प्रतिज्ञा वाक्यों का विध्यात्मक होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक न हों तो या तो दोनों ही निषेधात्मक होंगे या उनमें से एक निषेधात्मक होगा। यदि दोनों निषेधात्मक हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता (नि० ५)। **यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष नियम से निषेधात्मक होगा** (नि० ६)। इसलिए विध्यात्मक निष्कर्ष के लिये दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य विध्यात्मक ही होने चाहिये। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष विध्यात्मक है। इसलिये दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य भी विध्यात्मक ही हैं। विध्यात्मक दोनों वाक्यों से ही विध्यात्मक निष्कर्ष निकल सकता है।

नियम (८)—यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विशेष हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

इस नियम की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है। मान लिया जाय दोनों वाक्य विशेष हैं तो उनके सम्भवनीय संयोग निम्नलिखित हो सकते हैं—'ई ई', 'ई ओ', 'ओ ई', 'ओ ओ' इनमें से

प्रत्येक संयोग पर विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि इन संयोगों से कोई निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है।

'ई ई'—इस संयोग से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि 'ई' वाक्य में न तो उद्देश्य और न विधेय, व्याप्यार्थ में ग्रहण किये जाते हैं। यदि दोनों ही प्रतिज्ञा वाक्य 'ई' वाक्य हों तो मध्यम पद किसी में भी व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जायगा। नियम १ के अनुसार मध्यम-पद कम से कम एक बार अवश्य व्याप्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि दोनों ही वाक्य 'ई' वाक्य हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता है।

'ई ओ'—यह संयोग भी निष्कर्ष निकालने के लिये निरर्थक है क्योंकि यदि एक वाक्य 'ई' हो और दूसरा 'ओ' तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों वाक्यों में एक पद ही व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है। नियम ३ के अनुसार मध्यम पद एक बार अवश्य व्याप्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। व्याप्यार्थ में ग्रहण किया हुआ यह मध्यम पद हो सकता है। जब एक वाक्य निषेधात्मक है तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। इसलिये निष्कर्ष में विधेय पद व्याप्यार्थ में ग्रहण किया जायगा और वह प्रतिज्ञा-वाक्य में नहीं किया गया है। इसलिये अनियमित[1] मुख्य-पद का दोष होगा। और यदि वह प्रतिज्ञा वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है तो अव्याप्यार्थी मध्यम -पद का दोष होगा।

'ओ ई'—जो तर्क 'ई ओ' के विषय में दिये हैं वही तर्क इस संयोग में भी लगाए जा सकते हैं। यहाँ पर भी अनियमित मुख्य-पद या अव्याप्यार्थी मध्यम-पद का दोष होगा।

'ओ ओ'—इस संयोग से स्पष्ट है कि कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि नियम ५ के अनुसार दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

---

1 Undistributed Middle.

इससे यह सिद्ध हुआ कि दो विशेष वाक्यों से निष्कर्ष निकालना असम्भव है।

नियम ६—यदि एक वाक्य विशेष हो तो निष्कर्ष भी विशेष होगा।

इस नियम की सिद्धि की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिये। यदि एक वाक्य विशेष है तो दूसरा वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। तब सम्भवनीय सयोग निम्नलिखित होंगे। 'आ ई' 'ई आ' 'आ ओ' 'ओ आ' 'ए ई' 'ई ए' 'ए ओ' 'ओ ए'। इन आठ संयोगों में से 'ए ओ' और 'ओ ए' तो दृष्टिपात करने से ही अलग किये जा सकते है क्योंकि दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं (नियम ५)। अवशिष्ट ६ योगों का विचार करना चाहिये।

'आ ई' और 'ई आ'—यदि एक वाक्य 'आ' हो और दूसरा वाक्य 'ई' हो तो इससे यही अर्थ निकला कि केवल एक पद ही द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है और वह मध्यम-पद होना चाहिये। यदि निष्कर्ष सामान्य होता है तो एक या अधिक पद के द्रव्यार्थ में ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ेगी। तथा इससे कई दोषों के होने की सम्भावना है, अतः इसमें निष्कर्ष विशेष ही होना चाहिये।

'आ ओ' और 'ओ आ'—यदि एक वाक्य 'आ' हो और दूसरा वाक्य 'ओ' हो तो इसका अर्थ यह है कि दोनों वाक्यों में केवल दो पद ही द्रव्यार्थ में लिये गये हैं। इन दोनों पदों में से एक मध्यम-पद होना चाहिये। यहाँ निष्कर्ष में, द्रव्यार्थ में ग्रहण करने के लिये, एक पद ही बचा। क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से केवल इसका विधेय ही द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा सकता है। यह दिखलाया जा चुका है कि एक ही पद द्रव्यार्थ में लेने के लिये बचा है

और वह मुख्य पद हो सकता है। अतः अमुख्य पद के प्रम्यार्थ में न ग्रहण करने से यह निश्चित है कि निष्कर्ष विशेष ही होगा।

'ए ई' 'ई ए'—इन दो वाक्यों में केवल दो पद ही प्रम्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं। इनमें एक तो मध्यम-पद होना चाहिये तथा दूसरा मुख्य-पद होना चाहिये। क्योंकि निष्कर्ष को निषेधात्मक होना है; इसलिये निष्कर्ष में उद्देश्य प्रम्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् निष्कर्ष कोई हो सकता है तो वह 'ओ' होगा और वह विशेष वाक्य है। वहाँ तक 'ई ए' का सम्बन्ध है हम इसका नियम १० में विचार करेंगे क्योंकि इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

इस नियम से यह भी स्पष्ट है यदि निष्कर्ष सामान्य हो तो दोनों प्रतिज्ञा-वाक्यों का सामान्य होना आवश्यक है क्योंकि यदि एक भी वाक्य विशेष होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही विशेष होगा। अतः सामान्य निष्कर्ष के लिये प्रतिज्ञा-वाक्यों का सामान्य होना अत्यावश्यक है।

इस नियम का विपरीत नियम सत्य नहीं है—अर्थात् यदि निष्कर्ष विशेष हो तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिज्ञा-वाक्यों में से एक वाक्य नियम से विशेष होना चाहिये। यह हो सकता है कि दोनों वाक्य सामान्य हों और निष्कर्ष विशेष हो।

नियम १०—विशेष मुख्य-वाक्य से तथा निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

यदि अमुख्य-वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य-वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये और निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये जब निष्कर्ष निषेधात्मक है तो इसका अर्थ है कि मुख्य-पद प्रम्यार्थ में ग्रहण किया गया है। चूँकि मुख्य-वाक्य विधिवाचक विशेष वाक्य है अतः उसमें कोई पद प्रम्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिये यदि हम उसमें निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चय से अनियमित

मुख्यपद का दोष होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि 'ई ए' से हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

परीक्षा करने पर यह प्रतीत होगा कि अन्तिम चार नियम प्रथम छः नियमों से निकले हुए उपनियम (Corollaries) हैं। इन चार नियमों का उल्लंघन करने से अन्य नियम भी उल्लंघित हो जाते हैं। अतः तार्किक लोग प्रथम छः नियमों को प्रधान नियम मानते हैं तथा अन्य चार नियमों को अप्रधान नियम मानते हैं।

संक्षेप में सब नियमों के बारे में यह कहा जा सकता है कि प्रथम २ नियम तो सिलाजिज़्म की बनावट से सम्बन्ध रखते हैं। तीसरा और चौथा नियम पदों को द्रव्यार्थ मे ग्रहण करने से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवाँ, छठा और सातवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के गुण से सम्बन्ध रखते हैं। आठवाँ और नवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के परिमाण से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तिम दसवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के गुण और परिमाण दोनों से सम्बन्ध रखता है।

(६) सिलाजिज़्म की आकृति

आकृति (Figure) सिलाजिज़्म का वह रूप है जिसका निर्णय, वाक्यों में चरम पदों के साथ मध्यमपद के सम्बन्ध द्वारा, उसके स्थान से किया जाता है।

यह हम जान चुके हैं कि मध्यम-पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है किन्तु इसका स्थान सब सिलाजिज़्मों में एक-सा नहीं होता। उक्त दो प्रतिज्ञा वाक्यों में मध्यम-पद के स्थान की दृष्टि से चार योग बन सकते हैं। अतः तार्किकों ने सिलाजिज़्म की चार आकृतियाँ स्वीकार की हैं।

प्रथम आकृति (First figure)—

(१) प्रथम आकृति में मध्यम-पद मुख्य-वाक्य में उद्देश्य होता है तथा अमुख्य-वाक्य में विधेय होता है। जैसे

म वि

उ म

उ वि
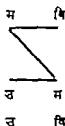
(२) द्वितीय आकृति (Second figure)—

द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में विधेय के रूप में आता है। जैसे

वि म

उ म

उ वि
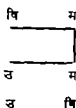
(३) तृतीय आकृति (Third figure)—

तीसरी आकृति में मध्यम पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में उद्देश्य के स्थान में आता है। जैसे

म वि

म उ

उ वि
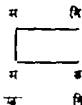
(४) चतुर्थ आकृति (Fourth figure)—

चौथी आकृति में मध्यम-पद मुख्य वाक्य में विधेय रहता है और अमुख्य-वाक्य में उद्देश्य रहता है। जैसे

उ वि
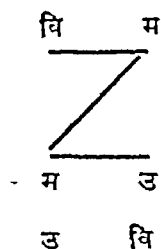
(१०) सिलाजिज्म की अवस्था

अवस्था (Mood) के भाषा में अनेक अर्थ हैं किन्तु तर्क-शास्त्र में इसका, विशेष अर्थ में, प्रयोग किया गया है। अवस्था सिलाजिज्म का वह रूप है जिसका निर्णय, वाक्यों के अङ्गी-भूत गुण और परिमाण के द्वारा किया जाता है। यह हम जानते हैं कि वाक्य ४ प्रकार के ही हैं और सिलाजिज्म में केवल दो ही प्रतिज्ञा-वाक्य होते हैं। इसीलिये गणित की प्रक्रिया के अनुसार सम्भवनीय केवल १६ अवस्थाएँ पहली आकृति में हो सकती हैं। तथा क्योंकि आकृतियाँ ४ हैं इसलिये १६ × ४ = ६४ सम्भवनीय अवस्थाएँ हो सकती हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१ आ आ	५ ए आ	६ ई आ	१३ ओ आ
२ आ ए	६ ए ए	१० ई ए	१४ ओ ए
३ आ ई	७ ए ई	११ ई ई	१५ ओ ई
४ आ ओ	८ ए ओ	१२ ई ओ	१६ ओ ओ

१६ × ४ = ६४

इस प्रकार यदि वाक्यों के गुण और परिमाण का विचार किया जाय और निष्कर्ष का ध्यान न दिया जाय तो प्रत्येक आकृति में १६ तथा चारों आकृतियों में ६४ अवस्थाएँ हो सकती हैं। जो तार्किक लोग अवस्था का विस्तृत अर्थ ग्रहण करते हैं वे केवल दो वाक्यों के गुण और परिमाण का ही विचार नहीं करते किन्तु उनके साथ-साथ निष्कर्ष का भी विचार करते हैं। उनके अनुसार ६४ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था की ४ अवस्थाएँ और हो सकती हैं। इस प्रकार ६४×४=२५६ अवस्थाएँ होंगी।

इनके अतिरिक्त कुछ तार्किक ऐसे हैं जो कहते हैं कि हम केवल सत्य अवस्थाओं को मानने के लिये तय्यार हैं और असत्य अवस्थाओं को हम अवस्थाओं के नाम से पुकारने के लिये तय्यार ही नहीं हैं। अभी हम निर्णय करेंगे कि कौन-सी सत्य अवस्थाएँ हैं और कौन-सी मिथ्या। इस प्रकार निर्णय करने पर केवल १९ अवस्थाएँ सत्य सिद्ध होती हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

आ आ, ए आ, आ ई—प्र आकृति।

ए आ आ ए, ए ई आ ओ—द्वि आकृति।

आ आ, ई आ, आ ई ए आ ओ आ, ए ई—तृ आकृति।

आ आ आ ए, ई आ, ए आ ए ई—च आकृति।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त १९ सत्य अवस्थाओं में से ए आ और ए ई साधारण अवस्थाएँ हैं जो सब आकृतियों में पाई जाती हैं और सत्य निष्कर्ष पैदा करती हैं। यदि हम तीनों वाक्य का विचार करें तो २४ सत्य अवस्थाएँ होंगी। वे निम्नलिखित हैं :—

आ आ आ आ आ ई, ए आ ए ए आ ओ, आ ई ई ए ई ओ—प्र आकृति।

ए आ ए, ए आ ओ आ ए ए, आ ए ओ, ए ई ओ, आ ओ ओ—द्वि आकृति।

आ आ ई, ई आ ई, आ ई ई, ए आ ओ, ओ आ ओ, ए ई ओ—तृ० आकृति।

आ आ ई, आ ए ए, आ ए ओ, ई आ ई, ए आ ओ, ए ई ओ—च० आकृति।

यहाँ पर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि ए आ ओ और ए ई ओ सब आकृतियों में सत्य अवस्थाएँ हैं।

(११) सत्य अवस्थाओ का निर्णय

यह हम बतला चुके है कि अवस्था से हमारा अभिप्राय सिलाजिज्म के उस रूप से है जिसका निर्णय वाक्यों के गुण और परिमाण से किया जाता है। प्रत्येक आकृति में १६ अवस्थाएँ होती हैं। वे निम्नलिखित हैं —

आ आ	ए आ	ई आ	ओ आ
आ ए	ए ए	ई ए	ओ ए
आ ई	ए ई	ई ई	ओ ई
आ ओ	ए ओ	ई ओ	ओ ओ

इन पर दृष्टपात करने से तथा सिलाजिज्म के १० नियमों का ध्यान रखने से हमें प्रतीत होगा कि ए ए, ए ओ, ओ ए और ओ ओ योगों से किसी आकृति में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि इनमें दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं (नि० ५)। तथा ई ई, ई ओ और ओ ई से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता क्योंकि दोनों वाक्य विशेष हैं (नि० ८)। इसी प्रकार ई ए से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि (नियम १०) के अनुसार विशेष मुख्य वाक्य तथा निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस प्रकार सम्भवनीय १६ अवस्थाओं में से ८ तो किसी आकृति में कोई निष्कर्ष नहीं निकालतीं। अब हमें यह देखना है कि अवशिष्ट

आठ—आ आ, आ ए, आ ई, आ ओ, ए आ ए ई, ई आ और ओ आ में से किस आकृति में कौन सत्य होती है और कौन मिथ्या। सर्व प्रथम पहली आकृति की सत्य अवस्थाओं पर विचार करेंगे।

(१२) प्रथम आकृति की सत्य अवस्थाएँ और नियम

यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रथम आकृति में मध्यम पद मुख्य-वाक्य में उद्देश्य होता है तथा अमुख्य-वाक्य में विधेय होता है।

१ आ आ सब 'म' 'वि' हैं। या सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब 'उ' 'म' हैं। आ सब नेता मनुष्य हैं।
सब 'उ' 'वि' हैं। आ सब नेता मरणधर्मा हैं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य विध्यात्मक हैं इसलिये निष्कर्ष भी विध्यात्मक ही होना चाहिये। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है निष्कर्ष 'आ' निकालने से हम कोई सिलाजिज्म के नियम का भंग नहीं करते क्योंकि अमुख्य-पद, जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह अमुख्य-वाक्य में भी द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। अतः आ आ से 'आ' निष्कर्ष प्रथम आकृति में निकलता है और यह अवस्था बार्बारा (Barbara) कहलाती है।

२ आ ए सब 'म' 'वि' हैं। 'आ'
कोई 'उ' म नहीं है। 'ए'
(कोई निष्कर्ष नहीं)। ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। क्योंकि दोनों में से एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। जब निषेधात्मक निष्कर्ष होगा तब उसका विधेय द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जायगा जो कि मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः अनियमित मुख्य-पद का दोष होगा। इसलिये 'आ ए' प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं हो सकती।

३ आ ई   सब 'म' 'वि' हैं।   आ   सब मनुष्य समझदार हैं।
  कुछ 'उ' 'म' हैं।   ई   कुछ जानवर मनुष्य हैं।
  . कुछ 'उ' 'वि' हैं।   ई   कुछ जानवर समझदार हैं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य विध्यात्मक हैं और एक वाक्य विशेष है अतः निष्कर्ष विशेष ही होना चाहिये अर्थात् 'ई' होना चाहिये। मध्यम पद मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है। निष्कर्ष मे कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'आ ई' से प्रथम आकृति में 'ई' सत्य निष्कर्ष मिलता है और यह सत्य अवस्था दारीई (Darii) कहलाती है।

४. आ ओ   सब 'म' 'वि' हैं।   आ
  कुछ 'उ' 'म' नहीं।   ओ
  (कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक ही होगा। जब निष्कर्ष निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष का विधेय द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जायगा। किन्तु निष्कर्ष का विधेय अर्थात् मुख्य पद मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है अतः 'आ ओ' प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं हो सकती।

५ ए आ   कोई 'म' 'वि' नहीं हैं।   ए   कोई जानदार अमर नहीं है।
  सब 'उ' 'म' हैं।   आ   सब मनुष्य जानदार है।
  . कोई 'उ' 'वि' नहीं है।   ए   कोई मनुष्य अमर नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निष्कर्ष 'ए' निकालते हैं तो किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं होता। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है तथा निष्कर्ष में जो मुख्य पद और

मनुष्य-पद प्रत्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं वे अपने अपने प्रतिज्ञा वाक्यों में प्रत्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार ए आ' से प्रथम आकृति में 'ए' रूप निष्कर्ष निकाला गया है। इसको केलारेन्ट (Celarent) अवस्था कहते हैं।

ये ए ई कोई म' 'वि' नहीं है। ए कोई चतुष्पद मनुष्य नहीं है।
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई कुछ जानवर चतुष्पद हैं।
कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ कुछ जानवर मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये और एक विशेष-वाक्य है अतः निष्कर्ष विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होता। मध्यमपद तो मुख्य वाक्य मे प्रत्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है और मुख्य-पद जो निष्कर्ष में प्रत्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह मुख्य वाक्य में भी प्रत्यार्थ में ग्रहण किया गया है। अतः ए ई' से 'ओ' निष्कर्ष प्रथम आकृति में सही निकाला गया है और इसे फेरीओ अवस्था (Ferio) कहते हैं।

ओ ई आ कुछ 'म' 'वि' हैं।
सब 'उ' 'म हैं।
(निष्कर्ष नहीं)

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि मध्यम-पद किसी भी वाक्य में एक बार भी प्रत्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'ई आ' से हम कोई निष्कर्ष प्रथम आकृति में नहीं निकाल सकते।

ओ आ कुछ म' 'वि' नहीं हैं। ओ
सब 'उ' म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि मध्यम पद किसी भी वाक्य में एक बार भी द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। इस प्रकार 'ओ आ' से प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं बन सकती।

इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम आकृति में केवल चार योग ही सत्य निष्कर्ष पैदा कर सकते है और वे निम्नलिखित है:—

१ आ आ आ बारबारा (Barbara)
२ ए आ ए केलारेण्ट (Celarent)
३ आ ई ई दारीई (Darii)
४ ए ई ओ फेरीओ (Ferio)

उपर्युक्त सत्य अवस्थाओं को सिद्धियों से निम्नलिखित नियम प्रथम आकृति के होते हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक समझना चाहिये :—

(१) मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिए।

(२) अमुख्य वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये।

(१) मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। यदि मुख्य वाक्य सामान्य न हो तो यह विशेष होगा। प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य में मध्यम-पद उद्देश्य है। यदि वह विशेष हो तो मध्यम-पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जायगा। नियम ३ के अनुसार मध्यम पद कम से कम एक बार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। यदि यह मुख्यपद में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है तो अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। प्रथम आकृति मे मध्यम पद अमुख्य वाक्य में विधेय होता है और उसे यहाँ अवश्य ही द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। यह तब हो सकता है जब अमुख्य वाक्य निषेधात्मक हो क्योंकि केवल निषेधात्मक वाक्य ही अपने विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण करते हैं। यदि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होना चाहिये। अतः मुख्य वाक्य

अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये। यह हम पहले मान चुके हैं कि मुख्य वाक्य विशेष है और हमें अब यह प्रतीत होता है कि वह विध्यात्मक होना चाहिये। मुख्य वाक्य यदि विशेष विध्यात्मक वाक्य होता है तो वह मुख्यपद को व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं करता जो निषेधात्मक निष्कर्ष में व्याप्य में ग्रहण किया गया है। यदि हम यह मान लें कि मुख्य वाक्य विशेष है तो अनियमित मुख्य-वाक्य का दोष हो जायगा। अतः मुख्य वाक्य विशेष नहीं हो सकता। वह सामान्य ही होना चाहिये।

(२) अमुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये।

यदि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक न होगा तो वह निषेधात्मक होगा। यदि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होगा और मुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये। प्रथम आकृति में मुख्य पद मुख्य वाक्य में विधेय है जो विधिवाचक होने के कारण वहाँ व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु निष्कर्ष निषेधात्मक होने के कारण मुख्य-पद वहाँ व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यह मानने पर कि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक है तो अनियमित-मुख्य-पद का दोष हो जायगा। अतः अमुख्य वाक्य आवश्यक ही विध्यात्मक होना चाहिये।

यह हम पहले बतला चुके हैं कि अरस्तू ने प्रथम आकृति को ही ठीक और सही आकृति माना। इसकी कुछ विशेषतायें हैं। उन्हें बतलाते हैं:—

(१) अरस्तू का सिद्धान्त— 'सबके लिये और किसीके लिये नहीं" इस आकृति में ही बड़ी आसानी से लागू होता है।

(२) प्रथम आकृति में ही केवल 'आ' वाक्य का निष्कर्ष निकलता है अन्य में नहीं।

(३) प्रथम आकृति में ही चारों प्रकार के वाक्य अर्थात् आ ए ई औ सिद्ध होते हैं।

(४) प्रथम आकृति में न तो मुख्यपद और न अमुख्यपद अपने स्थान परिवर्तन की हानि उठाता है क्योंकि अमुख्यपद तो उद्देश्य है और मुख्यपद विधेय है—वाक्य में भी और निष्कर्ष में भी।

ये विशेषताएँ हैं जिनके कारण अरस्तू ने इसको ही सत्य और सबसे उत्तम आकृति माना है।

(१३) द्वितीय आकृति की सत्य अवस्थाएँ और नियम

द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय होता है। अब हम द्वितीय आकृति में ८ अवस्थाओं के सत्यासत्य का निर्णय करेंगे।

(१) **आ आ**—सब 'वि' 'म' हैं। आ
सब 'उ' 'म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं है। क्योंकि मध्यम पद इसमें द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अत 'आ आ' से द्वितीय आकृति में कोई सत्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

(२) **आ ए** सब 'वि' 'म' हैं। आ सब धातुएँ तत्व हैं।
कोई 'उ' 'म' नहीं है। ए कोई मिश्र तत्व नहीं हैं।
कोई उ' 'वि' नहीं है। ए कोई मिश्र धातुएँ नहीं हैं।

यहाँ इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम 'ए' निष्कर्ष निकालें तो सिलाजिज्म का कोई नियम भग नहीं होता, क्योंकि मध्यम पद तो अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है। मुख्य पद और अमुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं वे अपने वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किये जा चुके हैं। अतः 'आ ए' से द्वितीय आकृति में 'ए' सत्य निष्कर्ष निकाला गया है तथा इसे **कामेस्ट्रेस** (Camestres) सत्य अवस्था कहते हैं।

(३) आ ई सब 'वि' 'म' हैं।　　आ
　　कुछ 'ठ' 'म' हैं।　　ई -
　　(कोई निष्कर्ष नहीं)　×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि मध्यम-पद दोनों ही वाक्यों में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'आ ई' कोई निष्कर्ष द्वितीय आकृति में, पैदा नहीं कर सकता है।

(४) आ ओ सब 'वि' 'म' हैं।　　आ सब मनुष्य चतुष्पद हैं।
　　कुछ 'ठ' 'म' नहीं हैं।　ओ कुछ जानवार चतुष्पद नहीं हैं।
　　कुछ 'ठ' 'वि' नहीं है। ओ　कुछ जानवार मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष अवश्य ही विशेष और निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का कोई नियम भंग नहीं होता। क्योंकि मध्यम पद अमुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में लिया गया है और जो निष्कर्ष का विधेय व्याप्यार्थ में लिया गया है वह भी मुख्य वाक्य मे व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिये 'आ ओ' से द्वितीय आकृति में 'ओ' सत्य निष्कर्ष निकालता है। इसे बारोको (Baroco) सत्य अवस्था कहते हैं।

(५) ए आ कोई 'वि' 'म' नहीं है। ए कोई पूर्णजीव मरण धर्मा नहीं है।
　　सब 'ठ' 'म' है। आ सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
　　सब 'ठ' 'वि' नहीं है। ए　कोई मनुष्य पूर्ण जीव नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। 'ए' निष्कर्ष निकालने के लिये हमें मध्यम-पद, मुख्य-पद और अमुख्य-पद को व्याप्यार्थ में लेना चाहिये। मध्यम-पद तो मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा मुख्य-पद और अमुख्य-पद भी अपने-अपने वाक्यों में व्याप्यार्थ में ग्रहण किये गये

हैं। इस प्रकार 'ए आ' से द्वितीय आकृति मे 'ए' सत्य निष्कर्ष निकलता है। इसे **केसारे** (Cesare) सत्य अवस्था कहते हैं।

(६) ए ई कोई 'वि' 'म' नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई कुछ जीव पूर्ण है।
. कुछ 'उ' वि' नहीं हैं। ओ कुछ जीव मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक प्रतिज्ञा वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। तथा एक वाक्य विशेष है अतः विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का एक भी नियम भंग नहीं होता। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में लिया गया है और मुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिये 'ए ई' से द्वितीय आकृति में 'ओ' निष्कर्ष सत्य निकलता है। इस अवस्था को **फेस्तीनो** (Festino) कहते हैं।

(७) ई आ कोई 'वि' 'म' नहीं है। ई
सब 'उ' 'म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में मध्यम पद दोनों वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है, अतः कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

ओ आ कुछ 'वि' 'म' नहीं हैं। ओ
सब 'उ' 'म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण मे एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है, इसलिये निष्कर्ष भी विशेष और निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निषेधात्मक विशेष निष्कर्ष होगा तो वह विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण करेगा और वह मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'ओ आ' से द्वितीय आकृति में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस प्रकार द्वितीय आकृति में केवल ४ योग ही सत्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं और वे निम्नलिखित हैं :—

(१) ए आ ए केसारे (Cesare)
(२) आ ए ए कामेस्ट्रेस (Camestres)
(३) ए ई ओ फेस्टीनो (Festino)
(४) आ ओ ओ बारोको (Baroco)

द्वितीय आकृति के विशेष नियम निम्नलिखित हैं :—

१ मुख्य वाक्य सामान्य ही होना चाहिये।

२. दोनों वाक्यों में से एक वाक्य निषेधात्मक होना चाहिये।

नियम १—यदि मुख्य वाक्य सामान्य न हो तो वह विशेष होगा। द्वितीय आकृति में मुख्य-पद मुख्यवाक्य में उद्देश्य है। यदि मुख्य पद विशेष हो तो मुख्य-पद प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया जाएगा। इसलिये वह निष्कर्ष में भी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि निष्कर्ष में वह विधेय पद है। अतः निष्कर्ष अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये क्योंकि केवल विध्यात्मक वाक्य ही अपने उद्देश्य को प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं करते। जब निष्कर्ष विध्यात्मक होगा तो दोनों प्रतिज्ञा वाक्य भी विध्यात्मक ही होने चाहिये जिससे कि उनके विधेय प्रव्याप्त में ग्रहण किये जा सकें। द्वितीय आकृति में दोनों वाक्यों में मध्यम पद विधेय होता है। इसलिये वह एक बार भी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः यदि मुख्य वाक्य को विशेष बनाया जाय तो अप्रव्याप्त मध्यम-पद का दोष होगा। इस हेतु से मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम २—द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय है। यह हम जानते हैं कि विधि वाक्य अपने विधेय को कभी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं करते किन्तु मध्यम-पद को कम से कम एक बार

अवश्य ही द्रव्यार्थ मे ग्रहण करना चाहिये। अतः यह आवश्यक है कि दोनों मे से एक निषेधात्मक वाक्य हो।

(१४) तृतीय आकृति की सत्य अवस्थाएँ और नियम

तृतीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में उद्देश्य होता है। अब हम ८ अवस्थाओं का इसमें विचार करते हैं और देखते हैं कि कौन-कौन सत्य सिद्ध होती हैं।

(१) आ आ सब 'म' 'वि' है। आ सब मनुष्य समझदार हैं।
सब 'म' 'उ' है। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
. कुछ 'उ' 'वि' है। ई . कुछ मरणशील समझदार हैं।

इस उदाहरण में दोनो वाक्य विधिवाचक हैं इसलिये निष्कर्ष भी विध्यात्मक ही होना चाहिये। यदि हम 'आ' निष्कर्ष निकालते हैं तो हमें अमुख्य पद को अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण करना पड़ेगा और यह वहाँ द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः इस योग से 'आ' निष्कर्ष निकालना असम्भव है। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालें तो सिलाजिज़्म के किसी नियम का भग नहीं होता। क्योंकि मध्यम-पद तो दोनों वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा निष्कर्ष में कोई पद अयुक्त रीति से द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है अतः 'आ आ' से हमें तृतीय आकृति में 'ई' निष्कर्ष मिलता है। यह सत्य अवस्था दाराप्ति (Darapti) कहलाती है।

(२) आ ए सब 'म' 'वि' हैं। आ
कोई 'म' 'उ' नहीं हैं। ए
(कोई निष्कर्ष नहीं) ;

इस उदाहरण मे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। जब

निषेधात्मक निष्कर्ष होगा तो वह विधेय को व्याप्यार्थ में ग्रहण करेगा जो कि मुख्य-पद है और वह मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः इस योग से कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं।

(३) आ ई ई सब 'म' 'वि' है। आ सब बीमारियाँ दुखद हैं।
 कुछ 'म' 'उ' है। ई कुछ बीमारियाँ रोकने योग्य हैं।
 कुछ 'उ' 'वि' है। ई कुछ रोकने योग्य वस्तुएँ दुखद हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है तथा दोनों वाक्य विधिवाचक हैं। अतः निष्कर्ष विशेष विधि वाचक वाक्य होगा। जब हम इस योग से 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तब सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होता क्योंकि मध्यम-पद तो एक बार मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में लिया ही जा चुका है। तथा निष्कर्ष में किसी पद को अनुचित रीति से व्याप्यार्थ में लिया ही नहीं गया है। इससे सिद्ध हुआ कि 'आ ई' से हमें सत्य निष्कर्ष 'ई' मिलता है। इस ढंग अवस्था को डार्तीसी (Datisi) कहते हैं।

(४) आ ओ सब 'म' 'वि' है। आ
 कुछ 'म' 'उ' नहीं है। ओ
 (कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं। यदि कोई निष्कर्ष निकाला भी जाय तो वह निषेधात्मक होगा और इस कारण निष्कर्ष का विधेय जो कि मुख्य पद है उसे व्याप्यार्थ में लेना पड़ेगा। किन्तु यह मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में नहीं लिया गया है। अतः इस योग से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(५) ए आ कोई 'म' वि नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
 सब 'म' उ' है। आ सब मनुष्य समझदार है।

∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ओ ∴ कुछ समझदार जीव पूर्ण नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम 'ए' निष्कर्ष निकालें तो अमुख्य पद निष्कर्ष मे द्रव्यार्थ में हो जायगा और यह अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया नहीं गया है। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालें तो किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं होता है। तथा मध्यम-पद दोनों वाक्यों मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। मुख्य पद जो निष्कर्ष मे द्रव्यार्थ में लिया गया है वह मुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार 'ए आ' से हम 'ओ' निष्कर्ष तृतीय आकृति में निकाल सकते हैं। इस सत्य अवस्था को **फेलाप्टोन** (Felapton) कहते हैं।

(६) ए कोई 'म' 'वि' नहीं है। ए कोई आक्रामक युद्ध न्यायपूर्ण नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं। ई कुछ आक्रामक युद्ध सफल होते हैं।
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ ∴ कुछ सफल बातें न्यायपूर्ण नहीं होती हैं।

इस उदाहरण में क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है और दूसरा विशेष वाक्य है इसलिये यदि कोई निष्कर्ष हो सकता है तो वह निषेधात्मक विशेष हो सकता है। जब हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का कोई नियम भग नहीं होता क्यों कि मध्यम-पद तो मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है तथा मुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह भी मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। अत. तृतीय आकृति में 'ए ई' से 'ओ' सत्य अवस्था निकल सकती है इसको **फेरीसोन** (Ferison) कहा जाता है।

(७) ई क्या कुछ 'म' 'वि' हैं। ई   कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं।
सब 'म' 'उ' हैं। आ   सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ 'उ' 'वि' हैं। ई   कुछ मरणशील जीव बुद्धिमान हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है इसलिये निष्कर्ष भी विशेष होगा। और दोनों वाक्य विधिवाचक हैं अतः निष्कर्ष विध्यात्मक ही होगा। यदि हम इससे 'ई' निष्कर्ष निकालें तो हम सिलाजिज्म का कोई नियम भंग नहीं करते। अतः यह सिद्ध है कि तृतीय आकृति में 'ई आ' से ई निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसे तार्किक लोग डीसामीस (Disamis) कहते हैं।

(८) क्यो क्या कुछ 'म' 'वि' नहीं हैं। ओ कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।   आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ   कुछ मरणशील जीव बुद्धिमान नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष नियम से 'ओ' ही होगा। जब हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होता। इस तरह 'ओ आ' से हमें 'ओ' निष्कर्ष मिलता है। इसे बोकार्डो (Bocardo) कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीय आकृति में छः योग सत्य आकृतियाँ प्रदान करते हैं और वे निम्नलिखित हैं:—

(१) आ आ ई दाराप्ती (Darapti)
(२) ई आ ई डीसामीस (Disamis)
(३) आ ई ई दातीसी (Datisi)
(४) ए आ ओ फैलाप्टोन (Felapton)
(५) ओ आ ओ बोकार्डो (Bocardo)
(६) ए ई ओ फेरीसोन (Ferison)

तृतीय आकृति के निम्नलिखित विशेष नियम हैं जिनका विशेष-रूप से अध्ययन करना चाहिये :—

(१) अमुख्य वाक्य अवश्य विधिवाचक होना चाहिये।

(२) निष्कर्ष अवश्य विशेष होना चाहिये।

नियम १—**अमुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये।** यदि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक न हो तो यह निषेधात्मक होना चाहिये। यदि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये और निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। तृतीय आकृति में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में विधेय है। क्योंकि मुख्य वाक्य विध्यात्मक है अत. मुख्य-पद तो द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है, किन्तु मुख्य-पद निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है क्योंकि वह निषेधात्मक है। इसलिये यदि हम अमुख्य वाक्य को निषेधात्मक रखते हैं तो **अनियमित[1]-मुख्य-पद का दोष होता है।** अत. यह आवश्यक है कि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक ही होना चाहिये।

नियम २—**निष्कर्ष अवश्य विशेष होना चाहिये।** तृतीय आकृति में अमुख्य-पद अमुख्य वाक्य में विधेय होता है। विशेष नियम १ के अनुसार अमुख्य-पद विध्यात्मक है। विध्यात्मक वाक्य इसके विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करता। अत अमुख्य-पद अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है और इसीलिये निष्कर्ष में भी द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। अमुख्य-पद निष्कर्ष का उद्देश्य है और केवल विशेष वाक्य ही अपने उद्देश्यों को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करते। इसलिये यह आवश्यक है कि निष्कर्ष

---

1 Illicit major

विधेय ही होना चाहिये। अन्यथा हम अनियमित-अमुख्य-पद[1] का दोष पैदा करेंगे।

चतुर्थ आकृति की सत्य अवस्थायें और नियम

यह हम जानते हैं कि चतुर्थ आकृति में मध्यम-पद मुख्य वाक्य में विधेय होता है तथा अमुख्य वाक्य में उद्देश्य होता है। अब यहाँ हम विचार करेंगे कि कौन-कौन आठ अवस्थाओं में से इस आकृति में सत्य हो सकती हैं :—

(१) आ आ सब 'वि' 'म' हैं। आ सब मनुष्य जानवर हैं।
           सब 'म' 'उ' हैं। आ सब जानवर मरणशील हैं।
           सब 'उ' 'वि' हैं। ई सब मरणशील वस्तु मनुष्य हैं।

इस उदाहरण में दोनों ही वाक्य विध्यात्मक हैं इसलिये निष्कर्ष विध्यात्मक ही होगा। यदि हम 'आ' निष्कर्ष निकालते हैं तो अमुख्य-पद निष्कर्ष में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया जायगा जब कि यह अमुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का उल्लंघन नहीं होता। अतः 'आ आ' से सत्य निष्कर्ष 'ई' ही निकल सकता है और इस अवस्था को ब्रामानटीप (Bramantip) कहते हैं।

(२) आ ए सब 'वि' 'म' हैं। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
           कोई 'म' 'उ' नहीं है। ए कोई मरणशील पूर्ण नहीं है।
           कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ए कोई पूर्ण जीव मनुष्य नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक होने से निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। 'ए' निष्कर्ष निकालने में सिलाजिज्म का कोई नियम खंडित नहीं होता। इसलिये 'आ ए' से हम 'ए' निष्कर्ष निकाल सकते

---

1. Illicit minor

है। चतुर्थ आकृति में इस अवस्था को **कामेनेज़** (Camenes) कहते हैं।

(३) आ ई सब 'वि' 'म' हैं। आ
कुछ 'म' 'उ' हैं। ई
(. कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण मे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। क्योंकि मध्यम-पट एक भी वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है।

(४) आ ओ सब 'वि' 'म' है। आ
कुछ 'म' 'उ' नहीं हैं। ओ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि इसमें भी मध्यम-पद एक बार भी द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है।

(५) ए आ कोई 'वि' 'म' नहीं हैं। ए कोई चतुष्पद मनुष्य नहीं है।
सब 'म' 'उ' है। आ सब मनुष्य जानवर हैं।
कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ . कुछ जानदार चतुष्पद नहीं हैं।

इस उदाहरण में क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम इस योग से 'ए' निष्कर्ष निकालें तो हमें अमुख्य-पद को द्रव्यार्थ में लेना होगा जो अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। यदि हम इससे 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो हम किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं करते हैं। अतः 'ए आ' से चतुर्थ आकृति मे 'ओ' निष्कर्ष निकलता है। इस सत्य अवस्था को **फेसापो** (Fesapo) कहते हैं।

(६) ए ई सब 'पि' 'म' नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
कुछ 'म' 'ठ' है। ई कुछ पूर्ण जीव समझदार जीव हैं।
कुछ 'ठ' 'पि' नहीं है। ओ कुछ समझदार जीव मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है और दूसरा विशेष वाक्य है अतः निष्कर्ष विशेष वाक्य निषेधात्मक होगा। 'ओ' निष्कर्ष निकालने में हम सिलाजिस्म के किसी नियम का भंग नहीं करते। इसलिये ए ई से चतुर्थ आकृति में हम केवल 'ओ' निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं। इस सत्य अवस्था को फ्रेसीसोम (Fresison) कहा जाता है।

(७) ई आ कुछ 'पि' 'म' है। ई कुछ जानदार मनुष्य हैं।
सब 'म' 'ठ' है। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ 'ठ' 'पि' है। ई कुछ मरणशील जीव जानदार हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है और दोनों वाक्य विधिवाचक हैं; अतः निष्कर्ष अवश्य ही विधिवाचक विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तो हम सिलाजिस्म के किसी नियम का उल्लंघन नहीं करते। इसलिये 'ई आ' से हमें चतुर्थ आकृति में 'ई' निष्कर्ष मिलता है। और इस सत्य अवस्था को डीमारीस (Dimaris) कहा जाता है।

(८) आ ओ कुछ 'पि' 'म' नहीं है। ओ
सब 'म' 'ठ' है। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि एक

वाक्य निषेधात्मक है। अत. निष्कर्ष भी निषेधात्मक ही होना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि निष्कर्ष मे मुख्य-पद को द्रव्यार्थ में लेना पड़ेगा जो मुख्य वाक्य मे नहीं लिया गया है। अत इस योग से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थ आकृति में निम्नलिखित सत्य अवस्थाएँ हैं।

(१) आ आ ई ब्रामान्टीप (Bramantip)
(२) आ ए ए कामेनेज़ (Camenes)
(३) ई आ ई डीमारीस (Dimaris)
(४) ए आ ओ फेसापो (Fesapo)
(५) ए ई ओ फ्रेसीसोन (Fresison)

चतुर्थ आकृति के विशेष नियम निम्नलिखित हैं। इनका ध्यान-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये :—

(१) यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो अमुख्य वाक्य सामान्य होना चाहिये।

(२) यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये।

(३) यदि दोनों में से कोई निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम १—चतुर्थ आकृति में मध्यम पद मुख्य वाक्य में विधेय होता है। अतः यदि मुख्य वाक्य विध्यात्मक हो तो उसका विधेय द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। मध्यम-पद कम से कम एक बार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ आकृति में मध्यम-पद अमुख्य वाक्य का उद्देश्य है। विशेष वाक्य अपने उद्देश्यों को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करते। अत. यदि हमें मध्यम-पद को द्रव्यार्थ

में ग्रहण करता है तो अमुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो अमुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम २—यदि अमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये। चतुर्थ आकृति में अमुख्य पद अमुख्य वाक्य में विधेय होता है। यदि अमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो अमुख्य पद अन्वार्थ में नहीं लिया जा सकता और वह निष्कर्ष में भी अन्वार्थ में नहीं लिया जा सकता। यहाँ निष्कर्ष अमुख्य-पद का उद्देश्य है और विशेष वाक्य अपने उद्देश्यों को अन्वार्थ में ग्रहण नहीं करते। अतः निष्कर्ष इस अवस्था में अवश्य ही विशेष होना चाहिये।

नियम ३—यदि दोनों में से एक भी वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये। यदि दोनों में से एक वाक्य निषेधात्मक है तो निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होगा। और उसका विधेय अन्वार्थ में ग्रहण किया जायगा। अर्थात् मुख्य पद अन्वार्थ में ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ आकृति में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में उद्देश्य है और यह हम जानते हैं कि केवल सामान्य वाक्य ही अपने उद्देश्यों को अन्वार्थ में ग्रहण करते हैं। अतः इस अवस्था में मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

संक्षेप में चार आकृतियों की अवस्थाओं के पर्यालोचन के बाद यह निश्चित हो चुका है कि यदि हम अवस्था (Mood) से यही समझते हैं कि यह एक प्रकार का सिलाजिज़्म का रूप है जो अङ्गीभूत प्रतिज्ञा वाक्यों के गुण और परिमाण से निश्चित किया जाता है तो हम ६४ सम्भवनीय अवस्थाओं में से केवल ११ अवस्थाओं में सत्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक आकृति में सम्भवनीय अवस्थाएँ १६ होती हैं; उनमें से प्रथम

आकृति में चार अवस्थाएँ ठीक हैं, द्वितीय आकृति मे चार अवस्थाएँ ठीक हैं, तृतीय आकृति में छः अवस्थाएँ ठीक हैं और चतुर्थ आकृति मे पाँच अवस्थाएँ ठीक होती हैं।

(१६) सिलाजिज्म के अन्य प्रकार

उपर्युक्त विवेचन ने सिलाजिज्म के कुछ अन्य प्रकार भी हमे बतलाए हैं और वे निम्नलिखित हैं —

(१) मौलिक (Fundamental)
(२) निर्बल (Weakened)
(३) सबल (Strengthened)

मौलिक (Fundamental) **सिलाजिज्म वह है जिसमें कोई भी पद आवश्यकता से अधिक द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया गया हो।** अर्थात् जिसमें चरम पदों में से कोई पद, वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया हो जब तक कि निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया हो। तथा मध्यमपद जिसमें एक बार से अधिक द्रव्यार्थ मे ग्रहण न किया गया हो। सिलाजिज्म के नियमानुसार मध्यमपद कम से कम एक बार द्रव्यार्थ में अवश्य ग्रहण करना चाहिए और निष्कर्ष में कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिये जब तक कि वह प्रतिज्ञा वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया जाय। इस दृष्टि से यदि हम १६ अवस्थाओं पर विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि दाराप्ती (Darapti) तृ० आ० फेलाप्टोन तृ० आ० और फेसापो (Fesapo) च० आ० में मध्यमपद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा एक अवस्था में अर्थात् ब्रामानटीप (Bramantip) च० आ० में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है किन्तु निष्कर्ष में द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि दाराप्ती, फेलाप्टोन और फेसापो में मध्यम पद आवश्यकता से अधिक द्रव्यार्थ में ग्रहण

किया गया है और ब्रामानटीप में मुख्य-पद व्यर्थ में व्याप्ति में ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार व्याप्ति में ग्रहण करना निष्कर्ष के लिये आवश्यक नहीं है। यदि मध्यम-पद दो बार के सिवाय एक बार ही दारासी फेलाप्टोन और फेसापो में ग्रहण किया गया होता तब भी पर्याप्त था और यदि ब्रामानटीप में मुख्य पद न भी व्याप्ति में ग्रहण किया होता तब भी हमें यथेष्ट निष्कर्ष मिल ही जाता।

इस प्रकार १६ सत्य अवस्थाओं में से १५ अवस्थाएँ मौलिक (Fundamental) हैं और केवल ४ अर्थात् दारासी फेलाप्टोन ब्रामानटीप और फेसापो अमौलिक हैं क्योंकि इनमें पदों का व्याप्ति में ग्रहण करना आवश्यकता से अधिक है जिसकी, सत्य निष्कर्ष निकालने मे कोई आवश्यकता नहीं है।

निर्बल (Weakened) सिलाजिज्म वह है जिसमें हम विशेष निष्कर्ष निकालते हैं यद्यपि प्रतिज्ञा वाक्यों के अनुसार सामान्य निष्कर्ष निकल सकता है। इसको समाविष्ट अवस्था भी कहते हैं। उदाहरणार्थ हम देख चुके हैं कि 'आ आ' के योग से प्रथम आकृति में 'आ निष्कर्ष निकलता है और इस अवस्था को बारबारा कहते हैं। जहाँ 'आ' निष्कर्ष निकलता है वहाँ 'ई' भी निकल सकता है क्योंकि सामान्य के सत्य में विशेष का सत्य अन्तर्भूत रहता है। इसी प्रकार जहाँ निष्कर्ष 'ए' निकाला जाता है वहाँ 'ओ' भी निकल सकता है। इस प्रकार जहाँ कहीं सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है वहाँ विशेष निष्कर्ष भी निकल सकता है। इसलिये जहाँ सामान्य प्रतिज्ञा वाक्यों से विशेष निष्कर्ष निकाला जाता है वह सिलाजिज्म का निर्बल रूप कहलाता है क्योंकि इस अवस्था में निष्कर्ष निर्बल हो गया है।

यह हम पहले देख चुके हैं कि २४ अवस्थाओं में से केवल १६

अवस्थाएँ ऐसी हैं जो सत्य हैं। इन १६ में से केवल ५ अवस्थाएँ हैं जिनमें सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है। वे हैं (१) बारबारा (२) केलारेण्ट (५) केसारे (४) कामेस्ट्रेस (५) कामेनेज़। ये सब सिलाजिज़्में निर्बल बनाई जा सकती हैं यदि इनसे विशेष निष्कर्ष निकाला जाय। इनके निर्बल रूप ये होंगे:—(१) बारबारी (Barbari) आ आ ई (२) केलारोन्ट (Celaront) ए आ ओ (३) केजारो (Cesaro) ए आ ओ (४) कामेस्ट्रोज़ (Camestres) आ ए ओ और (५) कामेनोज़ (Camenos) आ ए ओ। तृतीय आकृति में सारे निष्कर्ष विशेष है अत उसमें कोई निर्बल रूप हो ही नहीं सकता। जितने निर्बल रूप हैं वे सब प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ आकृतियों मे ही पाए जाते हैं।

सबल (Strengthened) सिलाजिज़्म वह है जिसमें प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक वाक्य आवश्यकता से अधिक सबल होता है। यद्यपि निष्कर्ष उससे कम बलवाले ही वाक्य से निकल सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि दो में से एक वाक्य सामान्य के स्थान पर विशेष हो तब भी निष्कर्ष सही निकल सकता है। जैसे, दाराप्ती (Darapti)

सब 'म' 'वि' हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।
कुछ 'उ' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में मुख्य वाक्य जो सामान्य है यदि उसके स्थान पर विशेष वाक्य रख दिया जाय तो वही निष्कर्ष सरलता से निकल सकता है। जैसे

कुछ 'म 'वि' हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।
. कुछ 'उ' 'वि' हैं।

इस अवस्था का दूसरा नाम रखा गया है और उसे डीसामीस (Disamis) कहते हैं। इसी प्रकार इस उदाहरण में भी दिये हुए अमुख्य वाक्य के स्थान पर जो कि 'आ' वाक्य है यदि हम तत्संगत 'ई' वाक्य ले लें तो भी वही निष्कर्ष निकल आयगा। इसको हम दाटीसी (Datisi) कहेंगे।

इससे स्पष्ट है कि ये सब सिलाजिज्म्स जो मौलिक नहीं हैं अर्थात् दाराप्ती फेलाप्टोन ब्रामान्टीप और फेसापो उनको सबल बनाया गया है। दाराप्ती का परीक्षण हम अभी कर चुके हैं। फेलाप्टोन (ए आ) में मुख्य वाक्य जो कि 'ए' वाक्य है आवश्यकता से अधिक बलवान है जिसकी निष्कर्ष के लिये आवश्यकता नहीं। यदि मुख्य वाक्य 'ओ' भी हो तो वही निष्कर्ष निकल सकता है। यह होगा बोकार्डो (Bocardo)। ब्रामान्टीप में भी मुख्य 'आ' है उसके स्थान में हम सरलतापूर्वक 'ई' वाक्य ले सकते हैं और वह होगा डीमारीस (Dimaris)। तथा फेसापो में अमुख्य वाक्य जो 'आ' है उसके स्थान पर 'ई' लिया जा सकता है और वह होगा फ्रेसीसोन (Fresison)। इससे यह सिद्ध हो गया कि सबल वाक्यों को बदल कर उनके स्थान पर निर्बल वाक्य रखने से भी वही निष्कर्ष निकल सकता है।

यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त ४ अवस्थाओं के अतिरिक्त जो कि सबल सिलाजिज्म हैं सब समाविष्ट अवस्थाएँ भी केवल कामेनीस को छोड़कर सबल सिलाजिज्म हैं। यहाँ तक कि कामेनीस का सम्बन्ध है इसमें कोई वाक्य अनावश्यक रूप से बलवान नहीं बनाया गया है जिसकी कि आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि उसके स्थान पर हम तत्संगत विशेष वाक्य ग्रहण करते हैं तो निष्कर्ष भी नहीं निकलेगा। जैसे

सब 'वि' 'म' हैं। आ
कोई 'म' 'उ' नहीं है। ए कामेनोज़
∴ कुछ 'उ' वि' नहीं है। ओ (Camenos)

इस उदाहरण में यदि हम मुख्य वाक्य में 'आ' के स्थान में 'ई' वाक्य लें या अमुख्य वाक्य में 'ए' के स्थान पर 'ओ' लें तो हम देखेंगे कि कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। अत: कामेनोज को सबल सिलाजिज्म कहना युक्त नहीं है।

यह ध्यान देना चाहिये कि कामेनोज में अमुख्य पद 'उ' अनावश्यक रीति से द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है। यह अमुख्य वाक्य में तो द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है किन्तु निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है इसलिये इसे मौलिक सिलाजिज्म नहीं कहा जा सकता। मौलिक सिलाजिज्म मे कोई भी पद अनावश्यक रूप से द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जाता। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कामेनोज मौलिक सिलाजिज्म नहीं माना जा सकता किन्तु इसको सबल सिलाजिज्म कह सकते हैं।

अवशिष्ट समाविष्ट अवस्थाएँ अर्थात् बारबारी (आ आ ई—प्र० आ०) केलारोण्ट (ए आ ओ—प्र० आ०) केसारो (ए आ ओ—द्वि० आ०) सब सबल सिलाजिज्म हैं। बारबारी में अमुख्य वाक्य निर्बल बनाया जा सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—आ ई ई-प्र० आ०—दारीई। केलारोण्ट में अमुख्य वाक्य को निर्बल किया जा सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—ए ई ओ—फेरिओ। केसारो में अमुख्य वाक्य 'ई' हो सकता है और फिर भी निष्कर्ष 'ओ' ही निकाला जा सकता है—ए ई ओ—फेस्तीनो। तथा कामेस्ट्रोस में अमुख्य वाक्य 'ओ' हो सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—आ ओ ओ—बारोको।

इस प्रकार यदि हम सब समाविष्ट अवस्थाओं का विचार करें तो हम कह सकते हैं कि सबल सिलाजिज्म आठ प्रकार की हैं:—

बारबारी केलारोपटन—प्र आ
केसारो कामेस्टोस—द्वि आ
डाराप्टी फेलाप्टोन—तृ आ
बामालिप फेसापो—च० आ

यदि फिर हम समाविष्ट अवस्थाओं को विचार में लें अर्थात् वे अवस्थाएँ जो मौलिक नहीं हैं। ये संख्या में ५ हैं:—डाराप्टी फेलाप्टोन, बामाल्पिप, फैसापो और कामेनोस।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि एक सिलाजिज्म इसलिये सबल कहलाती है क्योंकि दोनों में से एक वाक्य इसका सबल कर दिया जाता है तथा अन्य सिलाजिज्म निर्बल इसलिये कहलाती हैं क्योंकि इसका निष्कर्ष निबल होता है। सबल सिलाजिज्म में दोनों में से एक वाक्य निबल बनाया जा सकता है तथा निर्बल सिलाजिज्म में निष्कर्ष अधिक सबल भी हो सकता है।

(१७) शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म तथा शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म।

अब निरपेक्ष या नियत सिलाजिज्म के बयान के अनन्तर शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म तथा शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म का बयान करते हैं। जिसमें तीनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं उसे शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म कहते हैं। उसी प्रकार शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म उसे कहते हैं जिसमें तीनों हेतुहेतुमद् वाक्य हों तथा शुद्ध वैकल्पिक उसे कहते हैं जिसमें तीनों ही वाक्य वैकल्पिक हों।

जहाँ तक शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म का सम्बन्ध है उसमें तीनों ही वाक्य हेतुहेतुमद होते हैं। यह हम कह चुके हैं कि हेतुहेतुमद वाक्यों में उसी प्रकार गुण और परिमाण का भेद पाया जाता है जैसा कि

निरपेक्ष वाक्य में। अत यह सर्वथा सम्भव है कि हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म के उतने और वैसे ही रूप हो सकते हैं जितने कि निरपेक्ष सिलाजिज्म के। उदाहरणार्थ,

यदि क ख है तो ग घ है।
यदि घ ङ है तो क ख है।
∴ यदि घ ङ है तो ग घ है।

शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म के बारे में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें तीनों ही वाक्य वैकल्पिक होते हैं और सब वैकल्पिक वाक्य विधिवाचक ही होते हैं। अत जो नियम गुण से सम्बन्ध रखते हैं उनका यहाँ बिलकुल उपयोग नहीं होता है। तथा शुद्ध वैकल्पिक वाक्य इतने दुर्लभ हैं कि उनके विशेष विवेचन करने की आवश्यकता ही नहीं। इसके अतिरिक्त शुद्ध हेतुहेतुमद् तथा वैकल्पिक वाक्यों से बनाए हुए अनुमानों के रूप व्यवहार में भी कम आते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ सिलाजिज्म क्या है स्पष्ट समझाइये। सिलाजिज्म की रचना क्या है? इसके कितने भेद हैं?

२ अरस्तू का सिलाजिज्म के विषय में मूल सिद्धान्त क्या है? इसका स्पष्ट विवेचन करो। यह प्रथम आकृति के लिये ही क्यों उपयुक्त समझा गया है?

३. सिलाजिज्म मध्यम पद का क्या स्थान है? मध्यम पद का कम से कम एक बार द्रव्यार्थ मे ग्रहण करना क्यों आवश्यक है?

४. सिलाजिज्म के कितने अवयव होते हैं? उनके नाम क्या हैं और क्यों?

५ सिलाजिज्म में कितने पद प्रयुक्त होते हैं? यदि कम या ज्यादा प्रयोग किये जायँ तो क्या आपत्ति होगी?

६. सिलाजिज्म के विषय में लेम्बर्ट के क्या सिद्धान्त हैं? उनका स्पष्ट विवेचन करो।

७ संक्षेप में सिलाजिज्म के नियमों का उदाहरणपूर्वक वर्णन करो।

८. सिद्ध करो :—

(क) दो निषेध वाक्यों से कोई निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता।

(ख) यदि एक वाक्य विशेष हो तो निष्कर्ष अवश्य विशेष होगा।

(ग) दो विशेष वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

(घ) विशेष मुख्य वाक्य से और निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

९. आकृति और अवस्था का लक्षण लिखकर यह बतलाओ कि कितनी अवस्थाएँ सत्य होती हैं? अरस्तू के प्रथम आकृति को ही क्यों सत्य माना?

१० यदि किसी सिलाजिज्म के वाक्य गलत हैं तो क्या उनसे निकाला हुआ निष्कर्ष भी गलत होगा? उदाहरण देकर समझाओ।

११ निम्नलिखित को उदाहरण देकर समझाओ —
सौराइटीज़, मामानद्वीप, बारोको दाराप्ती और वीसोन।

१२ सिद्ध करो कि प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये', द्वितीय आकृति में, "दोनों वाक्यों में से एक वाक्य निषेधात्मक होना चाहिये' और चतुर्थ आकृति में, 'यदि अमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये"।

१३ मौलिक, निर्बल और सबल सिलाजिज्म किन्हें कहते हैं? प्रत्येक का उदाहरण देकर समझाओ।

१४ शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

१५ शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म किन्हें कहते हैं? उनका व्यवहार-जगत् में क्यों विशेष उपयोग नहीं होता?

१६ उन अवस्थाओं को बतलाओ जिनमें 'मो' वाक्य का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

१७ प्रथम आकृति के नियमों को सिद्ध करो।

अध्याय १३

१—रूपान्तरकरण

रूपान्तरकरण (Reduction) का शाब्दिक अर्थ है रूप का परिवर्तन कर देना। कुछ तार्किक लोग इस शब्द को बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयोग करते हैं—अर्थात् रूपान्तरकरण का अर्थ है कि किसी भी आकृति की अवस्थाओं को अन्य आकृतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन कर देना। इस लक्षण के अनुसार तो किसी भी आकृति के रूप, अन्य-अन्य आकृतियों के रूपों में बदले जा सकते हैं अर्थात् प्रथम आकृति की अवस्थाओं को द्वितीय मे और द्वितीय की अवस्थाओं को तृतीय मे और तृतीय की अवस्थाओं को चतुर्थ में परिवर्तन किया जा सकता है।

किन्तु तर्कशास्त्री लोग साधारण रूप से रूपान्तरकरण का अर्थ बहुत सकुचित रूप में करते हैं। उनके अनुसार रूपान्तरकरण का अर्थ है द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में बदल देना। यह हमे विदित ही है कि अरस्तू ने प्रथम आकृति को ही पूर्ण आकृति माना था और उसका सिद्धान्त 'सबके लिए और किसी के लिए नहीं' भी प्रथम आकृति मे ही ठीक रूप से लागू होता है। यह सिद्धान्त या तो अनुलोम विधि से या प्रतिलोम विधि से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आकृतियों में सर्वथा लागू नहीं होता है—इसी हेतु से उसे अपूर्ण कहा जाता है। यदि किसी प्रक्रिया से अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की

अवस्थाओं में परिवर्तित कर दिया जाय तो अरस्तू के सिद्धान्त को उनमें भी लागू किया जा सकता है। वास्तव में रूपान्तरकरण की प्रक्रिया से द्वितीय तृतीय, चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं की अपूर्णता दूर की जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं—क्योंकि प्रथम आकृति को छोड़कर अन्य आकृतियों में अरस्तू का सिद्धान्त नहीं लगता। अतः अन्य आकृतियों को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित कर हम उन्हें पूर्ण बना सकते हैं और कह सकते हैं कि उनमें निकाले हुए निष्कर्ष प्रथम आकृति के निष्कर्षों के समान हैं और उपयुक्त हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुख्य उद्देश्य रूपान्तरकरण का द्वितीय तृतीय और चतुर्थ आकृतियों की क्षमता सिद्ध करना है। अतः रूपान्तरकरण का निर्दोष लक्षण यह होगा कि रूपान्तरकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित करना होता है तथा सिद्ध करना होता है कि अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाएं भी सत्य और सही हैं।

२—रूपान्तरकरण के भेद

यह रूपान्तरकरण २ प्रकार से होता है :—(१) अनुलोम विधि से और (२) प्रतिलोम विधि से।

(१) अनुलोम विधि से रूपान्तरकरण (Direct Reduction) वह प्रक्रिया है जिसमें अपूर्ण आकृतियों की अवस्थायें अनुलोम विधि से प्रथम आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित कर दी जाती हैं। इस प्रक्रिया में परिवर्तन (Conversion) अभिमुखीकरण (Obversion) और विरुद्ध भाव (Contra position) या वाक्यों का परिवर्तन आदि विधियों की आवश्यकता पड़ती है। इसको अनुलोम इसलिये कहते हैं क्योंकि दिया हुआ निष्कर्ष

वाक्यों से निकाला जाता है और वह भी जो सिलाजिज्म में दिये हुए वाक्य हैं उनसे निकाला जाता है।

(२) प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण (Indirect Reduction) वह प्रक्रिया है जिसमें पूर्ण आकृति की सहायता से सिद्ध किया जाता है कि अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं के निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरुद्ध वाक्य असत्य हैं, इसलिये निर्दिष्ट निष्कर्ष सत्य होने चाहिये।

३—रूपान्तरकरण की आवश्यकता

अरस्तू के समय में अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं की सत्यता को सिद्ध करने के लिये रूपान्तरकरण ही एक उपाय था, किन्तु आजकल तो अन्य भी बहुत से उपाय माने गये हैं। हम आजकल सिलाजिज्म के साधारण नियमों को लगाकर देख सकते हैं कि अमुक अवस्था ठीक है या नहीं। तथा सिलाजिज्म के विशेष नियमों को लगाकर भी देखा जा सकता है कि सिलाजिज्म सत्य है या नहीं। अत जैसी रूपान्तरकरण की आवश्यकता अरस्तू के समय में थी वैसी आजकल नहीं है। आजकल हम इसे बहुतों में से एक प्रक्रिया समझते हैं जिसके द्वारा अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। यद्यपि इसका महत्त्व घट गया है तथापि इसे सर्वथा अयुक्त नहीं समझा जा सकता। वास्तव में अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित करने से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न आकृतियों की अवस्थाएँ भिन्न भिन्न होनेपर भी वे सब एक ही विशुद्ध आकृति की अवस्थाएँ हैं और सब एक ही नियम के अलग अलग रूप हैं, अत रूपान्तरकरण से हम सिलाजिज्म के तर्क की एकता स्थापित करते हैं।

सांकेतिक श्लोक[1]

लगभग १३वीं शताब्दी में स्कूलमेनों (Schoolmen) ने सब अवस्थाओं को कंठस्थ करने के लिये कुछ श्लोक तैयार किए थे जिनकी सहायता से उन्हें बहुत सरलता से याद किया जा सकता है। ये श्लोक मिथ्या शब्दों से बनाए हुए हैं जिनके द्वारा हमें ये संकेत मिलते हैं कि हम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रथम आकृति में ४ सत्य अवस्थाएँ हैं, ४ द्वितीय आकृति में हैं, ६ तृतीय आकृति में हैं तथा ५ चतुर्थ आकृति में हैं। निम्नलिखित ४ पंक्तियों का श्लोक, प्रत्येक पंक्ति के द्वारा प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ आकृतियों को क्रमानुसार प्रकट करते हैं :—

१ बारबारा केलारेण्ट दारीई फेरीओ
२ केसारे कामेस्त्रीस फेस्तीनो बारोको
३ दाराप्ती दीसामीस दातीसी फेलाप्टोन
बोकार्डो फेरीसोन
४ ब्रामान्टीप कामेनीस डीमारीस फीसापो
फ्रेसीसोन

Barabara Celarent Daru Ferio
Cesare Camestres Festino Baroco
Darapti Disamis Datisi Felapton
Bocardo Ferison
Bramantip Camenes Dimares Festino
Fresison

---

1 Mnemonic lines.

इनमें कुछ सांकेतिक अक्षर हैं उनको हमें समझना चाहिये। प्रत्येक शब्द में ३ स्वर हैं। पहला स्वर मुख्य वाक्य के लिये अभिप्रेत है, दूसरा स्वर दूसरे वाक्य के लिये, तथा तीसरा स्वर तीसरे वाक्य के लिये है। इस प्रकार स्वर इन शब्दों में क्रमशः मुख्य वाक्य, अमुख्य वाक्य तथा निष्कर्ष को द्योतित करते हैं। प्रत्येक शब्द एक अवस्था का प्रतीक है। जैसे बारबारा में 'आ आ आ' तीन स्वर हैं। फेलारेण्ट में 'ए आ ए' तीन स्वर हैं, इत्यादि। इनमें तीनों स्वर तीन वाक्यों के द्योतक हैं।

प्रथम आकृति की अवस्थाओं के शुरू के चार वर्ण अंग्रेजी भाषा के हैं वे निम्नलिखित हैं :—

१ ब (B)
२ क (C)
३. द (D)
४ फ (F)

यहाँ केवल बारोको और बोकादों को छोड़कर अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं के शुरू के वर्ण यह बतलाते हैं कि वह अवस्था प्रथम आकृति में उसी वर्ण से शुरू होनेवाली अवस्था में बदल सकती है। जैसे, 'ब' ब्रामान्टीप में यह बतलाता है कि इसको बारबारा में परिवर्तन करना है। 'क' केसारे में यह बतलाता है कि यह फेलारेण्ट में बदलना है। 'द' दाराती में यह द्योतित करता है कि इसको दारीई में बदलना है। तथा 'फ' फेस्तीनो में यह बतलाता है कि इसको हमें फीरीओ में बदलना है, इत्यादि।

'स' (S) पहले आए कुछ स्वर के अनुसार उस वाक्य के साधारण परिवर्तन को बतलाता है।

'प' (P) पहले आए हुए स्वर के अनुसार उस वाक्य के परिमित परिवर्तन को बतलाता है।

जब 'स' और 'प' तीसरे स्वर के बाद आते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि नवीन सिलाजिज्म के *निष्कर्ष* को आवश्यकतानुसार चाहे *साधारण रीति से या परिमित रूप से परिवर्तन करना है।*

म' (M) विपर्यास बतलाता है अर्थात् वाक्यों को अदल-बदल कर डालना चाहिये। दी हुई सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य नवीन सिलाजिज्म का प्रथम आकृति में अमुख्य वाक्य हो जाता है और दी हुई *सिलाजिज्म का अमुख्य वाक्य,* नवीन सिलाजिज्म का प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य हो जाता है।

क' (K) पूर्वगत वाक्य का अभिमुखीकरण बतलाता है। अतः क स' दोनों दो प्रक्रियाओं के द्योतक हैं अर्थात् पहले अभिमुखीकरण करना चाहिये पश्चात् साधारण परिवर्तन करना चाहिये—यानी विकल्प करना चाहिये। स क' भी इसी प्रकार दो प्रक्रियाओं का द्योतक है अर्थात् पहिले साधारण परिवर्तन करना चाहिये और पश्चात् अभिमुखीकरण करना चाहिये। यदि 'स क' तृतीय स्वर के बाद आयें तो इसका अर्थ यह है कि नवीन सिलाजिज्म का निष्कर्ष साधारण रीति से प्रथम परिवर्तित करना चाहिये और पश्चात् उसका अभिमुखीकरण करना चाहिये।

'क (C) बतलाता है कि सिलाजिज्म प्रतिलोम से परिवर्तित होगा। बारोको और बोकार्डो ही दो ऐसी सिलाजिज्म हैं जिनमें वह 'क' (C) आता है। अन्य तार्किकों ने उनको प्रतिलोम विधि से परिवर्तित किया है। यह सम्भव है कि इनको अनुलोम विधि से भी परिवर्तित किया जा सकता है तब इनको फाक्सोको (Faksoko) और डोक्सा

मोस्क या डोक्साम्रोस्क (Doksamosk or Doksamrosk) क्रमानुसार कहा जावेगा। इनके अतिरिक्त अन्य वर्ण 'र' वगैरह निरर्थक हैं और केवल उच्चारणार्थ प्रयोग किये गये हैं।

५—अपूर्ण अवस्थाओं का अनुलोम रूपान्तरकरण

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाएँ

	(१) केसारे (Cesare)		**केलारेण्ट** (Celarent)	
ए	कोई 'वि' 'म' नहीं।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
आ	सब 'उ' 'म' हैं।		सब 'उ' 'म' हैं	आ
ए	कोई 'उ' 'वि' नहीं है।		कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	ए

	(२) कामेस्ट्रेस (Camestres)		(**केलारेण्ट** Celarent)	
आ	सब 'वि' 'म' है		कोई 'म' 'उ' नहीं है।	ए
ए	कोई 'उ' 'म' नहीं है।		सब 'वि' 'म' हैं।	आ
ए	कोई 'उ' 'वि' नहीं है।		कोई 'वि' 'उ' नहीं है।	ए
			परिवर्तन से	
			कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	

	(३) फेस्तीनो (Festino)		**फीरीओ** (Ferio)	
ए	कोई 'वि' 'म' नहीं है।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
ई	कुछ 'उ' 'म' हैं।		कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	.	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

	बारोको (Baroco)=**फाक्सोको** (Faksoko)		**फीरीओ** (Ferio)	
आ	सब 'वि' 'म' हैं।	क स	कोई 'अ-म' 'वि' नहीं है।	ए
ओ	कुछ 'उ' 'म' नहीं हैं।	क	कुछ 'उ' 'अ-म' नहीं हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है	ओ

(२) तृतीय आकृति की अवस्थाएँ

	(१) दाराप्ती (Darapti)		दारीई (Darii)	
आ	सब 'म 'वि है।		सब 'म' 'वि है।	आ
आ	सब 'म' 'उ' है।	प	कुछ उ' 'म' है।	ई
ई	कुछ 'उ' 'वि' है।		कुछ 'उ' 'वि है।	ई

	(२) दीसामिस (Disamis)		दारीई (Darii)	
ई	कुछ 'म' 'वि' है।		सब 'म 'उ' है।	आ
आ	सब 'म 'उ' है।		कुछ 'वि' म' है।	ई
ई	कुछ 'उ वि' है।		कुछ 'वि 'उ' है।	ई
			परिवर्तन से	
			कुछ 'उ' 'वि है।	

	(३) दातीसी (Datisi)		दारीई (Darii)	
आ	सब म 'वि है।		सब म' वि' है।	आ
ई	कुछ 'म उ' है।	स	कुछ उ' म' है।	ई
ई	कुछ 'उ' 'वि' है।		कुछ 'उ' 'वि है।	ई

(४) फेलाप्टोन (Felapton)		फेरीओ (Ferio)
कोई 'म' वि' नहीं है।		कोई म 'वि' नहीं है।
सब म' 'उ' है।	प	कुछ 'उ म है।
कुछ 'उ' वि' नहीं है।		कुछ उ' वि नहीं है।

(५) बोकार्दो (Bocardo) दोक्सामोस्क (Doksamosk)

		दारीई (Darii)	
ओ	कुछ म' 'वि' नहीं है।	सब म' उ है।	आ
आ	सब म' 'उ नहीं है।	कुछ 'अवि' म है।	ई
ओ	कुछ उ' वि नहीं है।	कुछ 'अवि 'उ' है।	ई
		परिवर्तन से	
		कुछ 'उ' अवि है।	
		अभिमुखीकरण से	
		कुछ उ' 'वि' नहीं है।	

(६) फेरीसोन (Ferison)

ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' है। स
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

फेरीओ (Ferio)

कोई 'म' 'वि' नहीं है। ए
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई
कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ओ

(३) चतुर्थ आकृति की अवस्थाएँ

(१) ब्रामान्टीप (Bramantip)

आ सब 'वि' 'म' है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।

बारबारा (Barbara)

सब 'म' 'उ' है। आ
सब 'वि' 'म' है। आ
कुछ 'वि' 'उ' है। आ
परिवर्तन से
कुछ 'उ' 'वि' है।

(२) कामेनेज. (Camenes)

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ए कोई 'म' 'उ' नहीं हैं।
ए कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं।

फेलारेण्ट (Celarent)

कोई 'म' 'उ' नहीं है। ए
सब 'वि' 'म' हैं। आ
कोई 'वि' 'उ' नहीं हैं। ए
परिवर्तन स
कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं।

(३) दीमारीस (Dimaris)

ई कुछ 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।

दारीई (Darii)

सब 'म' 'उ' हैं। आ
कुछ 'वि' 'म' हैं। ई
कुछ 'वि' 'उ' हैं। ई
परिवर्तन से
कुछ 'उ' 'वि' है।

(४) फेसापो (*Fesapo*) → फेरीओ (*Ferio*)

ए	कोई 'वि' 'म' नहीं है।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
आ	सब 'म' 'उ' हैं।	प	कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

(५) फ्रेसीसोन (*Fresison*) → फेरीओ (*Ferio*)

ए	कोई 'वि' 'म' नहीं है।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
ई	कुछ 'म' 'उ' हैं।	स	कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

(६) अपूर्ण अवस्थाओं का प्रतिलोम रूपान्तरकरण

रूपान्तरकरण को हम प्रतिलोम विधि से करना तब कहते हैं जब हम प्रथम आकृति में एक नया सिलाजिज्म बनाते हैं जो मूल निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य की असत्यता को सिद्ध कर मूल निष्कर्ष की सत्यता को प्रतिस्थापित करता है। यदि मूल निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मिथ्या सिद्ध होता है तो मूल निष्कर्ष सिद्ध हो जायगा। इसको **मूर्खतापूर्ण परिवर्तन** (Reductio ad absurdum) भी कहते हैं क्योंकि यह इस कल्पना से आरम्भित होता है कि *दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य सही है;* किन्तु वास्तव में इस प्रकार की कल्पना असत्य या मूर्खतापूर्ण ठहरती है। इसको **असंभवनीय परिवर्तन** (Reductio ad impossible) भी कहते हैं।

यद्यपि प्रतिलोम रूपान्तरकरण का प्रयोग 'बारोको' (Baroco) और 'बोकार्डो' (Bocardo) के लिये ही आविष्कृत किया गया था किन्तु आजकल हम इसका प्रयोग किसी भी अपूर्ण अवस्थाओं के लिये कर सकते हैं। अब हम यहाँ प्रत्येक अपूर्ण अवस्था का रूपान्तरकरण प्रतिलोम विधि से करेंगे।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाएँ—

(१) केसारे (Cesare)

ए   कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ   सब 'उ' 'म' हैं।
ए   कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि मान लिया जाय कि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कुछ 'उ' 'वि' है' (ई) अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर और मूल वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर हम एक नया सिलाजिज्म बनाते हैं। जैसे,

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है। (मूल वाक्य)
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं। (मूल का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ओ कुछ 'उ' 'म' नहीं है। (नवीन निष्कर्ष)

यह 'फेरीओ' है। यह सत्य अवस्था प्रथम आकृति की है। क्योंकि इसमें 'वि' मध्यम पद है और वह मुख्य वाक्य में उद्देश्य है और अमुख्य वाक्य में विधेय है। अब यह स्पष्ट है कि यह नया निष्कर्ष मूल का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है जिसको सिलाजिज्म के नियमानुसार अवश्य ही सत्य मानना चाहिये। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि नवीन निष्कर्ष है अवश्य ही मिथ्या होगा। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है ? यह मिथ्यापन तर्क की प्रक्रिया के कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो सत्य अवस्था 'फेरीओ' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल वाक्य में है। अतः इसका मिथ्या होना नवीन अमुख्य वाक्य के कारण है। या दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी पद जो कि मूल का निष्कर्ष है वह सत्य है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दिये हुए वाक्य के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य का हमने अमुख्य वाक्य के स्थान पर लिया है और मुख्य वाक्य को मूल सिलाजिज्म से ले लिया है। यदि इसके विरुद्ध हम दिये हुए सिलाजिज्म के निष्कर्ष को मुख्य वाक्य के स्थान में रक्खें और अमुख्य वाक्य को मूल सिलाजिज्म में से लें तो हमको प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं मिल सकती। प्रतिलोम रूपान्तर में तथा अनुलोम रूपान्तर में दिये हुए सिलाजिज्म को प्रथम आकृति के सिलाजिज्म में परिवर्तित कर देना चाहिये। अतः दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य प्रतिलोम रूपान्तर में या तो मुख्य वाक्य या अमुख्य वाक्य के स्थान में रक्खा जा सकता है जिससे कि इसको लेकर और दिये हुए सिलाजिज्म में से दूसरा वाक्य लेकर प्रथम आकृति में सत्य अवस्था बन जाय। कभी कभी ऐसा भी संभव है कि दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य इच्छानुसार चाहे मुख्य वाक्य के, चाहे अमुख्य वाक्य के, स्थान में लिया जा सकता है क्योंकि दोनों उदाहरणों में दिये हुए सिलाजिज्म में से एक वाक्य को लेकर उसके साथ दूसरे को जोड़ कर हम प्रथम आकृति में एक सत्य अवस्था तैय्यार करते हैं।

(२) कामेस्ट्रेस (Camestres)

आ   सब 'बि' 'म' हैं।
ए   कोई 'उ' 'म' नहीं है।
ए   कोई 'उ' 'बि' नहीं है।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष म हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर और मूल सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं:—

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ई कुछ 'उ 'वि' है।
ई . कुछ 'उ' 'म' हैं।

यहाँ 'वि' को मध्यम पद मानकर 'दारीई' नया सिलाजिज्म बनाया गया है। यह नवीन निष्कर्ष मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है जिसे हमें सत्य समझना चाहिये। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है? यह मिथ्यापन तर्क प्रणाली का परिणाम तो नहीं हो सकता जो कि 'दारीई' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही मुख्य वाक्य है, इसलिये उसे तो सत्य ही मानना चाहिये। अतः नवीन निष्कर्ष का मिथ्या होना अमुख्य वाक्य के मिथ्या होने के कारण कहा जा सकता है। इस प्रकार नवीन अमुख्य वाक्य को असत्य सिद्ध करने से इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि मूल का निष्कर्ष है उसे सत्य समझना चाहिये।

(३) फेस्तीनो (Festino)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
ई कुछ 'उ' 'म' हैं।
ओ ' कुछ 'उ' 'म' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अवश्य सत्य होगा। उसको अमुख्य वाक्य बनाकर और मूल सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में नया सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं :—

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ए . कोई 'उ' 'म' नहीं है।

यहाँ 'बि' को मध्यम-पद मानकर 'फेसारियट' नवीन सिलाजिज्म तैय्यार किया गया है। इसमें नवीन निष्कर्ष मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है अतः सत्य नहीं हो सकता। यह नवीन निष्कर्ष मिथ्या क्यों है ? इसका मिथ्या होना तर्क की प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता जो कि 'फेसारियट' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जो मूल वाक्य में है। अतः इसका मिथ्या होना नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि मिथ्या सिद्ध हो चुका है; अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि निष्कर्ष है अवश्य सत्य होना चाहिये।

(४) बारोको (Baroco)

आ	सब 'बि' 'म' हैं।	सब घोड़े चतुष्पद हैं।
ओ	कुछ 'उ' 'म' नहीं है।	कुछ जानदार चतुष्पद नहीं हैं।
ओ	कुछ 'उ' 'बि' नहीं हैं।	कुछ जानदार घोड़े नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य सत्य होना चाहिये। अर्थात् सब 'उ' 'बि' हैं या सब जानदार घोड़े हैं यह सत्य होना चाहिये। इसके अमुख्य वाक्य बनाने पर और मूल सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं :—

आ	सब 'बि' 'म' हैं।	सब घोड़े चतुष्पद हैं।
आ	सब उ 'बि' हैं।	सब जानवर घोड़े हैं।
आ	सब 'उ' 'म' हैं।	सब जानवर चतुष्पद हैं।

यह तर्क 'बारबारा' है और 'बि' इनमें मध्यम पद है। नया निष्कर्ष जो कि मूल अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या है। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है। इसका मिथ्या होना तर्क प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता क्योंकि यह बारबारा है और न

इसका मिथ्या होना नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल सिलाजिज्म मे है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या प्रतीत होता है। अतः इसका जो आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, वह सत्य होना चाहिये।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि प्रतिलोम विधि से द्वितीय आकृति की अवस्थाओं का प्रथम आकृति की अवस्थाओं में रूपान्तर करने मे हमे दिये हुए निष्कर्ष का केवल आत्यन्तिक विरोधी पद नवीन सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य के स्थान में, सत्य अवस्था बनाने के लिये, लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति की अवस्थाएँ

(१) दाराप्ती (Darapti)

आ सब 'म' वि' है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ई . कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नया सिलाजिज्म प्रथम आकृति में बनाते हैं:—

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'केलारेण्ट' है। यह नवीन निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का विरोधी वाक्य है, इसलिये मिथ्या होना चाहिये। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है?

यह मिथ्यापन तर्क की प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता

क्योंकि वह 'फेलारेंट' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। अतः यह अवश्य नवीन मुख्य वाक्य के कारण होना चाहिये जो इस प्रकार मिथ्या सिद्ध हो चुका है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(२) दीसामीस (Disamis)

ई कुछ म' 'वि' है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ई कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष मिथ्या हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में बनाते हैं :—

ए कोई 'उ' 'वि नहीं है।
आ सब म' 'उ' है।
ए कोई 'म' 'वि नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ मध्यम पद है और यह अवस्था 'सेलारेन्ट' है। यह नया निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, अतः यह मिथ्या होना चाहिये। इसका मिथ्या होना किसी तर्क-प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि यह 'सेलारेन्ट है और न यह नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जो कि मूल में है। अतः नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य—अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये

(३) दातीसी (Datısı)

आ सब 'म' 'वि' हैं।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम एक नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं :—

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'म' 'वि' नहीं हैं।

इसमें 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'फेरीओ' है तथा नवीन निष्कर्ष जो मूल सिलाजिज्म के मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या होना चाहिये। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है ? यह किसी तर्क-प्रणाली का तो दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वह 'फेरीओ' है जो कि प्रथम आकृति की सत्य अवस्था है। और न अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। अत. इसकी असत्यता नवीन मुख्य वाक्य के कारण है—जिसकी इस प्रकार मिथ्या सिद्धि होने पर—उसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(४) फेलाप्तोन (Felapton)

ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि इस उदाहरण में दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य सब उ 'वि हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। अब हम इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर एक नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं:—

आ सब उ 'वि हैं।
आ सब म' 'उ' हैं।
आ सब 'म' वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ मध्यम पद है और सिलाजिज्म 'बारबारा' है। नवीन निष्कर्ष जो कि मूल सिलाजिज्म के मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या होना चाहिये। इसकी असत्यता किसी तर्क प्रणाली के कारण नहीं हो सकती था कि 'बारबारा' है और न अमुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। इसलिये इसका मिथ्यापन अवश्य ही नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि सत्य मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि मूल का निष्कर्ष है अवश्य सत्य होना चाहिये।

(५) बोकार्डो (Bocardo)

ओ कुछ 'म' वि' नहीं हैं। कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं।
आ सब म उ हैं। सब मनुष्य मृत्युशील हैं।
आ कुछ उ' वि हैं। कुछ मृत्युशील बुद्धिमान नहीं हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य "सब 'वि हैं" अर्थात् "सब मृत्युशील बुद्धिमान हैं" यह सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा दिये हुए

अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम नवीन सिलाजिज्म बनाते हैं.—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
आ . सब 'म' 'वि' है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था प्रथम आकृति में बारबारा है। यह नवीन निष्कर्ष जो मूल सिलाजिज्म के मुख्य-वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, अवश्य मिथ्या होना चाहिये। इसका मिथ्या होना तर्क प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता क्योंकि वह 'बारबारा' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि वही है जो मूल सिलाजिज्म मे हैं, इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत. इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(६) फेरीसोन (Ferison)

ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, "सब 'उ' 'वि' है" अवश्य सत्य होगा। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिये हुए वाक्यों में से अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैयार करते हैं.—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'म' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'दारीई' है।

इस अवस्था के निष्कर्ष को परिवर्तित कर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष मिलता है:—

कुछ 'म' 'उ' हैं।

यह वाक्य 'कुछ 'म' 'उ' हैं' मिथ्या है क्योंकि मूल अमुख्य वाक्य का यह आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन कोई तर्क की प्रणाली की असत्यता के कारण नहीं है और न परिवर्तन के कारण है, क्योंकि परिवर्तन के किसी नियम का भंग नहीं किया गया है। अत इसका मिथ्यापन 'कुछ 'उ' 'म' हैं' इस वाक्य के मिथ्या होने के कारण है। इसलिये नवीन शिलाविम्ब का 'कुछ उ' 'म' है' यह निष्कर्ष गलत है। इसके मिथ्या होने का कारण क्या है। इसके मिथ्यापन का कारण मुख्य वाक्य तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो वही है जो मूल वाक्य में है और न इसका कारण तर्क प्रणाली ही हो सकता है क्योंकि यह प्रथम आकृति की दा री ई अवस्था है इसलिये इसका मिथ्यापन नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जिसको हम मिथ्या सिद्ध कर चुके हैं। अत इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मूल निष्कर्ष-अवश्य सत्य होना चाहिये।

(३) दीमारीस (Dimaris)

ई कुछ 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिया हुआ अमुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति के नवीन शिलाविम्ब तैय्यार करते हैं।

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

आ सब 'म' 'उ' हैं।

ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण मे 'उ' मध्यम पद है और अवस्था केलारेण्ट है इसको भी परिवतित करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

कोई 'वि' 'म' नहीं है।

नये निष्कर्ष का यह परिवतित रूप मिथ्या है क्योंकि यह दिये हुए मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। नवीन निष्कर्ष की असत्यता नवीन मुख्य वाक्य की असत्यता के कारण से है। इसकी असत्यता तर्क की प्रणाली से नहीं पैदा हुई है क्योंकि वह प्रथम आकृति में 'केलारेण्ट' अवस्था है, तथा नवीन अमुख्य वाक्य वही है जो मूल सिलाजिज्म में था। इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत मूल का निष्कर्ष, जो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है सत्य होना चाहिये।

(४) फेसापो (Fesapo)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।

आ सब 'म' 'उ' हैं।

ओ . कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं :—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।

आ सब 'म' 'उ' हैं।

आ सब 'म' 'वि' हैं।

यह नवीन निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य होने के कारण मिथ्या है। इसका मिथ्या होना किसी तर्क प्रमाली के कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि यह 'दारीई' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जैसा कि मूल अमुख्य वाक्य है। अतः नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मल का निष्कर्ष सत्य है।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जब हम तृतीय आकृति की अवस्थाओं का रूपान्तर करते हैं तब हमें प्रथम आकृति में सत्य अवस्था लाने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य नये सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य बनाना पड़ता है।

(१) चतुर्थ आकृति की अवस्थायें—

(१) ब्रामान्टीप (Bramantip)

आ सब 'वि' म हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ उ' वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ 'वि' नहीं है सत्य नहीं हो सकता। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम एक नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं।

ए कोई उ 'वि' नहीं हैं।
आ सब 'म' उ' हैं।
ए कोई 'म' 'वि नहीं हैं।

यह सैलारेन्ट है और इसमें मध्यम पद उ' है। इसका परिवर्तित कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है—

कोई 'वि' म नहीं है।

इस उदाहरण में 'कोई 'वि' 'म' नहीं है यह मूल मुख्य वाक्य का विरोधी वाक्य है और यह मिथ्या होना चाहिये। यह वाक्य जो मिथ्या सिद्ध किया गया है वह नवीन निष्कर्ष का परिवर्तित रूप है। अत, इसका मिथ्या होना या तो परिवर्तन के नियमों को भग करने के कारण से है या परिवर्त्य के असत्य होने के कारण से है। किन्तु यहाँ परिवर्तन के नियम ठीक तौर से पालन किये गये हैं, इसलिये परिवर्त्य अर्थात् नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। यदि नवीन निष्कर्ष मिथ्या है तो इसके मिथ्या होने का कारण क्या है? इसका मिथ्या होना तर्क की प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता जो कि 'केलारेण्ट' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो वही है जो कि मूल निष्कर्ष है। वह मिथ्या सिद्ध हो चुका है, इसलिये इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये। अतः सिद्ध है कि दिया हुआ सिलाजिज्म ठीक है।

(२) कामेनेस (Camenes)

आ   सब 'वि' 'म' हैं।
ए   कोई 'म' 'उ' नहीं है।
ए   . कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य "कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। इसको अमुख्य वाक्य बनाकर और दिये हुए मुख्य वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर हम सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं —

आ   सब 'वि' 'म' हैं।
ई   कुछ 'उ' 'वि' हैं।
ई   कुछ 'उ' 'म' हैं।

इस उदाहरण में 'वि' मध्यम पद है और 'दा री ई' अवस्था है।

इस अवस्था के निष्कर्ष को परिवर्तित कर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष मिलता है:—

कुछ 'म' 'उ' हैं।

यह वाक्य 'कुछ 'म 'उ' हैं' मिथ्या है क्योंकि मूल अमुख्य वाक्य का यह आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन कोई तर्क की प्रणाली की असत्यता के कारण नहीं है और न परिवर्तन के कारण है, क्योंकि परिवर्तन के किसी नियम का भंग नहीं किया गया है। अतः इसका मिथ्यापन 'कुछ उ 'म' है' इस वाक्य के मिथ्या होने के कारण है। इसलिये नवीन सिलाजिज़्म का 'कुछ उ' म' है' यह निष्कर्ष ग़लत है। इसके मिथ्या होने का कारण क्या है? इसके मिथ्यापन का कारण मुख्य वाक्य तो हो नहीं सकता क्योंकि यह तो वही है जो मूल वाक्य में है और न इसका कारण तर्क प्रणाली ही हो सकता है क्योंकि यह प्रथम आकृति की दा री ई अवस्था है। इसलिये इसका मिथ्यापन नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जिसको हम मिथ्या सिद्ध कर चुके हैं। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, मूल निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(३) दीमारीस (Dimaris)

ई कुछ 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' उ' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' वि' नहीं हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिया हुआ अमुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति के नवीन सिलाजिज़्म तैय्यार करते हैं।

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था केलारेण्ट है इसको भी परिवर्तित करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

. कोई 'वि' 'म' नहीं है।

नये निष्कर्ष का यह परिवर्तित रूप मिथ्या है क्योंकि यह दिये हुए मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। नवीन निष्कर्ष की असत्यता नवीन मुख्य वाक्य की असत्यता के कारण से है। इसकी असत्यता तर्क की प्रणाली से नहीं पैदा हुई है क्योंकि वह प्रथम आकृति में 'केलारेण्ट' अवस्था है, तथा नवीन अमुख्य वाक्य वही है जो मूल सिलाजिज्म में था। इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत मूल का निष्कर्ष, जो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है सत्य होना चाहिये।

(४) फेसापो (Fesapo)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं :—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
आ सब 'म' 'वि' हैं।

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।	(मूल मुख्य वाक्य)
आ सब 'उ' 'वि' है।	(दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ऐ कोई 'उ' 'म' नहीं है।	फेसारेस्ट के अनुसार
ए कोई म' उ नहीं है।	परिवर्तन द्वारा

यह अन्तिम वाक्य 'कोई 'म' उ नहीं है' मूल के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है और इसलिये मिथ्या है। इसके मिथ्यापन का कारण क्या है? इसका मिथ्यापन परिवर्तन के कारण तो हो नहीं सकता। अतः 'कोई 'उ' 'म' नहीं है' यह वाक्य मिथ्या है। इसकी असत्यता किसी गलत तर्क-प्रणाली से नहीं हो सकती क्योंकि यह फेसारेस्ट है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण ही सकती है क्योंकि यह वही है जो कि मूल में मुख्य वाक्य है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म बना सकते हैं चाहे हम उसे मुख्य वाक्य बनावें या अमुख्य वाक्य बनावें, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में दिये हुए सिलाजिज्म में उनको जोड़कर हम प्रथम आकृति में नवीन अवस्थाओं को तैय्यार करते हैं और उनसे उनकी सत्यता सिद्ध की जाती है।

संक्षेप में याद करने के लिये हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाओं को और कामैनेज (च मा) को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अमुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति का और चतुर्थ आकृति की अवस्थाओं को (कामेनेज को छोड़कर) प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(३) 'फेसापो' और 'फ्रेसीसोन' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य या तो मुख्य वाक्य के रूप में या अमुख्य वाक्य के रूप में लिया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१ रूपान्तरकरण किसे कहते हैं? तर्कशास्त्र में इसका क्या अर्थ ग्रहण किया जाता है? उदाहरण देकर समझाओ।

२ अनुलोम-विधि से और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करने से क्या अभिप्राय है? दोनों विधियों का एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

३, निम्नलिखित तर्कों का प्रथम आकृति में रूपान्तरकरण करो।—

(क) कोई तारे ग्रह नहीं है।
सब तारे जीवित पदार्थ हैं।
. कुछ जीवित पदार्थ तारे नहीं है।

(ख) सब सेनेट के सदस्य मनुष्य हैं।
सब सेनेट के सदस्य दार्शनिक नहीं हैं।
. सब मनुष्य दार्शनिक नहीं हैं।

(ग) सब सूर्य स्वतः प्रकाश हैं।
कुछ तारे स्वतः प्रकाश नहीं हैं।
कुछ तारे सूर्य नहीं हैं।

४ निम्नलिखित के उदाहरण दो और उनको अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो:—

इस उदाहरण में मध्यम पद 'उ' है और अवका प्रथम आकृति में 'बारबारा' है। इसको परिवर्तित कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

कुछ 'वि' 'म' हैं।

इसमें 'कुछ 'वि' 'म' हैं' यह वाक्य मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी है अतः इसको मिथ्या होना चाहिये। यह वाक्य जो मिथ्या सिद्ध किया गया है नवीन निष्कर्ष का परिवर्तित रूप है। अतः इसका मिथ्यापन या तो परिवर्तन के नियमों का उल्लंघन करने से होना चाहिये या परिवार्य के मिथ्यापन से होना चाहिये। किन्तु हम देखते हैं कि यहाँ परिवर्तन के नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है। इसलिये परिवार्य 'सब 'म' 'वि' हैं' जो कि नवीन निष्कर्ष है, असत्य है। यदि नवीन निष्कर्ष मिथ्या है तो इसके मिथ्या होने का क्या कारण है? यह तर्क-प्रणाली से पैदा हुआ तो नहीं प्रतीत होता जो कि बारबारा है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जो कि मूल का अमुख्य वाक्य है। अतः इसका मिथ्या होना नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जिसको मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है। इसलिये मूल शिलाविक्य का निष्कर्ष जो इसका आत्यन्तिक विरोधी पद है अवश्य सत्य होना चाहिये। इस हेतु से, दिया हुआ शिलाविक्य सत्य होना चाहिये।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दिये हुए निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर भी हम प्रथम आकृति में सत्य शिलाविक्य बना सकते हैं।

(५) फ्रेसीसोम (Fresison)

प कोई 'वि' 'म' नहीं है।
ई कुछ म' 'उ हैं।
ओ कुछ 'उ' वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इस आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर और दिये हुए अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं।

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई ∴ कुछ 'म' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था प्रथम आकृति में 'दा री ई' है। इसको परिवर्तित कर यह निष्कर्ष निकाला गया है।

कुछ 'वि' 'म' हैं।

यह अन्तिम वाक्य मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन परिवर्त्य के मिथ्यापन से तो हो सकता नहीं क्योंकि उसमें परिवर्तन के सब नियमों का पालन किया गया है। इसलिये नवीन निष्कर्ष मिथ्या होना चाहिये। इस नवीन निष्कर्ष की असत्यता तर्क-प्रणाली से तो पैदा नहीं हुई है क्योंकि वह 'दा री ई' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि वह भी वही है जो कि मूल का अमुख्य वाक्य है। यह नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत: इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो दिया हुआ निष्कर्ष है वह अवश्य सत्य होना चाहिये। 'फ़े सिसोन' को हम चाहें तो दूसरी प्रकार से भी प्रतिलोम विधि द्वारा सत्य सिद्ध कर सकते हैं। इसके लिये हम दिये हुए निष्कर्ष 'सब 'उ' 'वि' हैं' के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को नवीन सिलाजिज्म का अमुख्य वाक्य मानकर और मुख्य वाक्य को (कोई 'वि' 'म' नहीं है) दिये हुए सिलाजिज्म से लेकर निम्नलिखित सिलाजिज्म बनाते हैं:—

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।	(मूल मुख्य वाक्य)
आ सब 'उ 'वि है।	(दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ऐ कोई 'उ' म' नहीं है।	केसारेवट के अनुसार
ए कोई 'म' 'उ नहीं है।	परिवर्तन द्वारा

यह अन्तिम वाक्य 'कोई म' उ नहीं है मूल के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है और इसलिये मिथ्या है। इसके मिथ्यापन का कारण क्या है? इसका मिथ्यापन परिवर्तन के कारण तो हो नहीं सकता। अतः 'कोई 'उ' 'म' नहीं है' यह वाक्य मिथ्या है। इसकी असत्यता किसी गलत तर्क-प्रणाली से नहीं हो सकती क्योंकि यह 'सेसारेवट' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि यह वही है जो कि मूल में मुख्य वाक्य है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि *दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक* विरोधी वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म बना सकते हैं चाहे हम उसे मुख्य वाक्य बनायें या अमुख्य वाक्य बनायें, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में दिये हुए सिलाजिज्म से उनको जोड़कर हम प्रथम आकृति में नवीन अवस्थाओं को तैय्यार करते हैं और उनसे उनकी सत्यता सिद्ध की जाती है।

संक्षेप में याद करने के लिये हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाओं को और 'बमेमेस' (च र्था) को *प्रतिलोम विधि* से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अमुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति की और चतुर्थ आकृति की अवस्थाओं को (कामेनेज़ को छोड़कर) प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(३) 'फेसापो' और 'फ़ेसीसोन' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य या तो मुख्य वाक्य के रूप में या अमुख्य वाक्य के रूप में लिया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१ रूपान्तरकरण किसे कहते हैं? तर्कशास्त्र मे इसका क्या अर्थ ग्रहण किया जाता है? उदाहरण देकर समझाओ।

२. अनुलोम-विधि से और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करने से क्या अभिप्राय है? दोनों विधियों का एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

३, निम्नलिखित तर्कों का प्रथम आकृति में रूपान्तरकरण करो।—

(क) कोई तारे ग्रह नहीं है।
सब तारे जीवित पदार्थ हैं।
कुछ जीवित पदार्थ तारे नहीं है।

(ख) सब सेनेट के सदस्य मनुष्य हैं।
सब सेनेट के सदस्य दार्शनिक नहीं हैं।
∴ सब मनुष्य दार्शनिक नहीं हैं।

(ग) सब सूर्य स्वतः प्रकाश हैं।
कुछ तारे स्वतः प्रकाश नहीं हैं।
∴ कुछ तारे सूर्य नहीं हैं।

४. निम्नलिखित के उदाहरण दो और उनको अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो:—

दारासी, फारोको, बोकार्डो और सोसोन ।

५. किसी अपूर्ण आकृति की २ अवस्थाओं को लो और उनका अनुलोम और प्रतिलोम विधि से प्रथम आकृति में रूपान्तर करण करो ।

६ निम्नलिखित तर्क का अनुलोम विधि से:—

सब धातुएँ तत्त्व हैं ।
कोई मिश्र पदार्थ तत्त्व नहीं है ।
कोई मिश्र पदार्थ धातु नहीं है ।

और निम्नलिखित तर्क को प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करो –

कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं ।
सब मनुष्य समझदार हैं ।
कुछ समझदार जीव बुद्धिमान नहीं हैं ।

७ वह तरीका बतलाओ जिससे अवस्थाओं की सत्यता का निर्णय किया जाता है । बोकार्डो का अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो ।

८. कामेस्ट्रेस में एक सिलाजिज्म बनाओ और उसको अनुलोम और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरित करो ।

९. अनुलोम और प्रतिलोम रूपान्तरकरण की विधियों में कौन सी प्रशस्त है ? अपना अभिमत प्रकट करो ।

१ मूर्खतापूर्ण परिवर्तन (Reductio ad absurdum) का क्या अभिप्राय है ? इसको असम्भवनीय परिवर्तन (Reductio ad impossible) क्यों कहते हैं ? समझाओ ।

अध्याय १४

१—मिश्र सिलाजिज़्म

मिश्र सिलाजिज्म (Mixed Sylogism) वह है जिसके अङ्गीभूत वाक्य एक ही सम्बन्धवाले नहीं होते हैं। इसके तीन उपभेद हैं —(१) हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष अथवा केवल हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म (२) वैकल्पिक-निरपेक्ष अथवा केवल वैकल्पिक सिलाजिज्म और (३) उभयतः पाश (उभयसम्भव)।

२—हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज़्म

हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष (Hypothetical-Categorical) सिलाजिज्म एक प्रकार का मिश्र सिलाजिज्म है जिसमें मुख्य वाक्य हेतुहेतुमद्, अमुख्य वाक्य निरपेक्ष और निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। इसको केवल हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म भी कहते हैं —

इस सिलाजिज्म के निम्नलिखित नियम हैं —

(१) हेतु के विधान से हेतुमद् का विधान किया जा सकता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

(२) हेतुमद् के निषेध से हेतु का निषेध किया जा सकता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

पहले प्रकार के सिलाजिज्म को **विधायक** (Constructive) या **विधि-प्रकार** (Modus Ponens) और दूसरे प्रकार के सिलाजिज्म को **विनाशक** (Destructive) या **निषेध प्रकार** (Modus Tollens) कहते हैं।

(१) विधि प्रकार या विधायक—

एक हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज्म को विधायक या विधि प्रकार का कहते हैं जब हम अमुख्य वाक्य में मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करके निष्कर्ष में मुख्य वाक्य के हेतुमद् का विधान करते हैं। जैसे—

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।
यदि सूर्य निकलता है तो प्रकाश होता है।
'क' 'ख' है 'ग' 'घ' है।
सूर्य निकलता है प्रकाश होता है।

(२) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है।
यदि विद्यालय बंद है तो राम नहीं आता है।
'क' 'ख' है 'ग' 'घ' नहीं है।
विद्यालय बंद है राम नहीं आता है।

(३) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' है।
यदि बिल्ली नहीं आती है तो चूहे खेलते हैं।
'क' 'ख' नहीं है 'ग' 'घ' है।
बिल्ली नहीं आती है चूहे खेलते हैं।

(४) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' नहीं है।
यदि अध्यापक नहीं है तो पढ़ाई नहीं होती है।
'क' 'ख' नहीं है 'ग' 'घ' नहीं है।
अध्यापक नहीं है पढ़ाई नहीं होती है।

(२) निषेध प्रकार या विनाशक—

एक हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को विनाशक या निषेध प्रकार का कहते हैं जब हम अमुख्य वाक्य में मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निषेध करके, निष्कर्ष में मुख्य वाक्य के हेतु का निषेध करते हैं। जैसे:—

(१) यदि क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है	यदि सूर्य निकलता है तो प्रकाश होता है।
'ग' 'घ' नहीं है ∴ 'क' 'ख' नहीं है	प्रकाश नहीं होता है ∴ सूर्य नहीं निकलता है।
(२) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है	यदि विद्यालय बद है तो राम नहीं आता है।
'ग' 'घ' है . 'क' 'ख' नहीं है	राम आता है . विद्यालय बद नहीं है।
(३) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' है	यदि बिल्ली नहीं आती है तो चूहे खेलते हैं।
'ग' 'घ' नहीं है ' 'क' 'ख' है	चूहे नहीं खेलते हैं . बिल्ली आती है।
(४) यदि' क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' नहीं है	यदि अध्यापक नहीं है तो पढ़ाई नहीं होती है।
'ग' 'घ' है 'क' 'ख' है	पढ़ाई होती है अध्यापक है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि विधि प्रकार या विधायक और निषेध-प्रकार या विनाशक रूप, अमुख्य वाक्य के या निष्कर्ष के गुण से सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु केवल इससे रखता है कि अमुख्य वाक्य में हम हेतु का विधान करते है या मुख्य वाक्य में हेतुमद् का निषेध करते हैं, वह हेतु या हेतुमद् चाहे कुछ भी क्यों न हो।

(१) दोष —

यदि हम इन उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करते है तो हम या तो हेतुमद् के विधान का दोष अथवा हेतु के निषेध का दोष पैदा करते हैं। जैसे—

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है। यदि वह आता है तो मैं जाऊँगा।

'क' 'ख' नहीं है   'ग' 'घ' नहीं है।   वह नहीं आता है नहीं जाऊँगा।

यह सिलाजिज्म मिथ्या है और इस दोष का नाम हेतु का निषेध है। क्योंकि अनुबन्ध वाक्य में हमने हेतु का निषेध किया है और उसके बल पर हमने निष्कर्ष में हेतुमद् का निषेध किया है यह नियम के विरुद्ध है। यदि हम इस हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में बदल दें तो इसका रूप इस प्रकार होगा :—

सब अवस्थायें 'क' की 'ख' होती हुई 'घ' की अवस्थायें होती हुई 'ग' की अवस्थायें हैं।

यह अवस्था 'ख' की अवस्था होती हुई 'क' की अवस्था नहीं है।

यह अवस्था 'घ' की अवस्था होती हुई 'ग' की अवस्था नहीं है

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि मुख्य पद 'घ' होती हुई 'ग' की अवस्थायें मुख्य वाक्य में व्याप्त में न लेकर निष्कर्ष में व्याप्त में लिया गया है। इसलिये इसमें अनियमित मुख्यपद का दोष होता है। इससे स्पष्ट है कि हेतु के निषेध का दोष शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में अनियमित मुख्य पद के बराबर है।

(२) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है   यदि वर्षा होती है तो सुभिक्ष होता है।

'ग' 'घ' है   'क' 'ख' है   सुभिक्ष होता है   वर्षा होती है।

यह सिलाजिज्म दोषयुक्त है और दोष का नाम हेतुमद् का विधान

है, क्योंकि अमुख्य वाक्य में हमने निष्कर्ष का विधान किया है और उसीके बलपर हमने निष्कर्ष मे हेतु का विधान किया है जो नियम के विरुद्ध है।

यदि हम इस हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में, मुख्य वाक्य को निरपेक्ष के रूप मे बदलकर रख दें तो इसका रूप इस प्रकार होगा :—

(३) शुद्ध निरपेक्ष

सब अवस्थाएँ 'क' की 'ख' होती हुई, 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्थाएं हैं।

यह अवस्था 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्था है।

. यह अवस्था 'ग' की होती हुई 'क' की अवस्था है।

इससे स्पष्ट है कि मध्यम पद 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्था को किसी भी वाक्य मे द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। इसलिये यह अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष आता है। इससे स्पष्ट है कि हेतुमद् के विधान का दोष और अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष निरपेक्ष सिलाजिज्म मे बराबर है।

(४) निरपेक्ष सिलाजिज्म में परिवर्तन

हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को, शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में बदला जा सकता है और यह मुख्य वाक्यों को निरपेक्ष वाक्य में परिवर्तन करने से इस प्रकार हो सकता है। जैसे,

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।	'क' की सब अवस्थाएँ 'ख' होती हुई, 'घ' होती हुई 'ग' की अवस्थाएं हैं
'क' 'ख' है।	यह 'ख' होती हुई 'क' की अवस्था है।

ग' 'घ' है।	'घ' होती हुई यह ग' की अवस्था है।
यदि वह आता है तो मैं आता हूं	उसकी सब आने की अवस्थाएँ मेरे आने की अवस्थाएँ हैं।
वह आता है।	यह उनके आने की अवस्था है।
मैं आता हूं।	यह उनके आने की अवस्था है।

५—वैकल्पिक-निरपेक्ष सिलाजिज्म

वैकल्पिक निरपेक्ष सिलाजिज्म (Disjunctive-Categorical) वह है जिसमें मुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है अमुख्य वाक्य निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष होता है। इसे केवल वैकल्पिक सिलाजिज्म भी कहते हैं।

इस प्रकार के सिलाजिज्म का निम्नलिखित नियम है:—

नियम—वैकल्पिक मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को अमुख्य वाक्य में निषेध करने से हम मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प का निष्कर्ष में विधान कर सकते हैं। वास्तव में एक की असत्यता अन्य की सत्यता का द्योतक है। जैसे,

(१) या तो क ख है या 'ग' घ' है।	या तो वह चोर है या वह सत्पुरुष है।
क 'ख नहीं है।	वह चोर नहीं है।
'ग' 'घ' है।	वह सत्पुरुष है।
(२) या तो क' ख' है या ग' 'घ है।	या तो वह पापी है या वह धर्मात्मा है।

'ग' 'घ' नहीं है।	वह धर्मात्मा नहीं है।
'क' 'ख' है।	∴ वह पापी है।

यूबर्वेग वगैरह कुछ ऐसे तार्किक भी हैं जो इसके विपरीत नियम को भी सत्य मानते हैं अर्थात् **मुख्य वाक्य के एक विकल्प का अमुख्य वाक्य में विधान करने पर हम दूसरे विकल्प का निष्कर्ष में निषेध भी कर सकते है।** जैसे,

(१) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह विद्वान् है या वह मूर्ख है।
'क' 'ख' है।	वह विद्वान है।
∴ 'ग' 'घ' नहीं है।	वह मूर्ख नहीं है।
(२) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह हिंसक है या वह अहिंसक है।
'ग' 'घ' है।	वह अहिंसक है।
'क' 'ख' नहीं है।	वह हिंसक नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय नियम सत्य है केवल उस अवस्था में जब विकल्प एक दूसरे के व्यवच्छेदक[1] हों (परिहारक हों) जैसे कि आत्यन्तिक विरोधी पद। अत साधारण रीति से पहले दो रूप (जिनमें एक विकल्प का निषेध करने पर जब हम दूसरे का विधान करते है) सत्य हैं, तथा तृतीय और चतुर्थ रूप केवल अपवाद रूपों मे सत्य हो सकते हैं।

६—उभयतः पाश (उभयसम्भव)

उभयत पाश का स्वरूप—उभयत. पाश (Dilemma) एक प्रकार का मिश्र सिलाजिज्म है जिसमें मुख्य वाक्य मिश्र

1. Mutually Exclusive.

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार चल सकता है या अन्य की इच्छानुसार।

किसी भी अवस्था में उसकी समालोचना होती है।

यह उभयतः पाश शुद्ध है क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष है। यह विधायक है क्योंकि अमुख्य वाक्य में इस मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करते हैं।

शुद्ध-विधायक उभयतः पाश का एक सुन्दर उदाहरण इँगलैण्ड के राजा हेनरी सप्तम (Henry VII) के अन्यायी कर्मचारी का है जिसके द्वारा वह अपराधियों को राजकोष[1] में अर्थदण्ड के रूप में बड़ी-बड़ी रकमों को देने के लिये बाध्य किया करता था। वह कहता था—

यदि अपराधी मितव्ययता[2] से रहता है तो उसने प्रचुर धन इकट्ठा किया होगा और यदि वह खुले हाथ खर्च करता है तो इससे प्रतीत होता है कि वह धनी है।

किन्तु वह या तो मितव्ययता से रहता है या खुले हाथ खर्च करता है।

उसके पास किसी भी अवस्था में प्रचुर धन है। (अर्थात् वह राजकोष में अधिक मात्रा में धन दे सकता है)। इसको एम्पसन की कुधारी (Empson s fork) कहते हैं।

(२) मिश्र विधायक—उभयतः पाश मिश्र-विधायक तब कहलाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से, भिन्न हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करता है। यह मिश्र इसलिये है क्योंकि इसमें निष्कर्ष वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

1 State treasury 2. Economy

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

इस उभयत पाश का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण मुस्लिम सेनापति उमर खलीफा (Omar Caliph) का है जिसने अपने तर्क के बल पर अलक्षेन्द्रिया (Alexandria) के महान पुस्तकालय को जलवाकर खाक कर दिया था। उसका तर्क था —

यदि इस पुस्तकालय की पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो कुरान के रहते हुए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है और यदि वे कुरान के विरुद्ध हैं तो अधर्म को फैलानेवाली हैं।

या तो वे पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके विरुद्ध।
या तो वे अनावश्यक हैं या अधर्म को फैलानेवाली हैं।

(२) **शुद्ध-विनाशक** —उभयत पाश शुद्ध-विनाशक तब कहलाता है जब असुख्य वाक्य विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमदों का निषेध करता है। इसे शुद्ध इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे,

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'क' 'ख' है तो 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।
'क' 'ख' नहीं है।

यदि तुम्हे पढ़ना है तो तुम्हें कॉलिज जाना चाहिये और यदि तुम्हें पढना है तो पुस्तकें खरीदना चाहिये।

या तो तुम कॉलेज नहीं जा सकते या पुस्तकें नहीं खरीद सकते।
तुम पढ़ नहीं सकते।

इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण दार्शनिक ज़ेनो (Zeno)

हेतुहेतुमद् वाक्य होता है अमुख्य वाक्य वैकल्पिक वाक्य होता है और जिसके विकल्प या तो मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करते हैं या हेतुमद् का निषेध करते हैं और निष्कर्ष या तो निरपेक्ष होता है या वैकल्पिक होता है। अब हम उभयतः पाश के अङ्गीभूत तीनों वाक्यों की परीक्षा करते हैं—

(१) इसका मुख्य वाक्य मिश्र हेतुहेतुमद् वाक्य होता है अर्थात् इसमें दो हेतुहेतुमद् वाक्य मिले रहते हैं।

(२) इसका मुख्य वाक्य वैकल्पिक वाक्य होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि हेतुहेतुमद् निरपेक्ष शिक्षाक्रिया के नियमों के अनुसार हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु को हम अमुख्य वाक्य में विधान करके हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निष्कर्ष में विधेय करते हैं अथवा हेतुहेतुमद् के मुख्य वाक्य के हेतुमद् को निष्कर्ष में निषेध करके हम हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु का निष्कर्ष में निषेध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उभयतः पाश वास्तव में दो हेतुहेतुमद् निरपेक्ष शिक्षाक्रियों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये वैकल्पिक अमुख्य वाक्य के दो विकल्प या तो हेतुओं का विधान करते हैं या हेतुमद् का निषेध करते हैं जिससे कि निष्कर्ष के अन्दर प्रथम अवस्था में, हेतुमदों का विधान हो सके और द्वितीय अवस्था में हेतुओं का निषेध हो सके।

(३) निष्कर्ष निरपेक्ष हो सकता है या वैकल्पिक। आजकल उभयतः पाश का साधारण बोलचाल में प्रयोग किया जाता है इसलिये इसका साधारण प्रयोग हमें इसके गूढार्थ को स्पष्ट रूप से बतलाता है। साधारण बोलचाल में जब हम उभयतः पाश में फँस जाते हैं तब कहा जाता है कि हम दो शृंगों[1] के बीच में फँस गये हैं (यह उपमा बैल के सींगों

---

1 Horns of a bull

से ली गई है)। इसका अर्थ यह होता है कि हमारे लिये दो मार्ग खुले हुए हैं और हम दोनों में से किसी एक का भी आश्रयण करने से फँस जाते हैं। वास्तव में हमारी दशा 'इधर कुँआ तो उधर खाई' वाली होती है या 'इधर दानव और उधर समुद्र' वाली होती है। तर्क में भी इसी प्रकार दो विकल्पों में से एक को ग्रहण करना पड़ता है और दोनों अवस्थाओं में सिवाय फँसने के और कोई रक्षा का मार्ग नहीं दीखता। इसलिये ही कहावत है कि 'हम तो दो विकल्पों में बुरी तरह फँसे'।

उभयतः पाश के रूप.—

उभयत पाश के दो रूप होते हैं (१) विधायक और (२) विनाशक तथा इन प्रत्येक के भी दो रूप होते है (१) शुद्ध और (२) मिश्र। इस प्रकार उभयत पाश के ४ रूप हो गये। (१) शुद्ध-विधायक (२) मिश्र-विधायक (३) शुद्ध-विनाशक और (४) मिश्र विनाशक।

(१) **शुद्ध-विधायक** (Simple Constructive) उभयतः पाश शुद्ध-विधायक तब कहलाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का, विधान करता है। यह शुद्ध इसलिये कहलाता है कि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है। या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

∴ 'ग' 'घ' है।

यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार चलता है तो उसकी समालोचना[2] होती है और यदि अन्य की इच्छानुसार चलता है तो भी समालोचना होती है।

---

(1) Between Scylla and Charybdis (2) Criticism

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार चल सकता है या अन्य की इच्छानुसार।

किसी भी अवस्था में उसकी समालोचना होती है।

यह उभयतः पाश शुद्ध है क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष है। यह विधायक है क्योंकि अमुख्य वाक्य में हम मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करते हैं।

शुद्ध-विधायक उभयतः पाश का एक सुन्दर उदाहरण इंगलैण्ड के राजा हेनरी सप्तम (Henry VII) के सम्पायी कर्मचारी का है जिसके द्वारा वह अपराधियों को राजकोष में अर्थदण्ड के रूप में बड़ी-बड़ी रकमों को देने के लिये बाध्य किया करता था। वह कहता था—

यदि अपराधी मितव्ययता[2] से रहता है तो उसने प्रचुर धन इकट्ठा किया होगा और यदि वह खुले हाथ खर्च करता है तो इससे प्रतीत होता है कि वह धनी है।

किन्तु यह या तो मितव्ययता से रहता है या खुले हाथ खर्च करता है।

उसके पास किसी भी अवस्था में प्रचुर धन है। (अर्थात् वह राजकोष में अधिक मात्रा में धन दे सकता है)। इसको एम्पसन की कुदारी (Empson s fork) कहते हैं।

(२) मिश्र विधायक—उभयतः पाश मिश्र विधायक तब कहलाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से, भिन्न हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करता है। यह मिश्र इसलिये है क्योंकि इसमें निष्कर्ष वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क ख' है तो 'ग घ' है और यदि 'ङ' 'च' है तो 'छ' 'ज' है।

1 State treasury 2 Economy

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

इस उभयत पाश का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण मुस्लिम सेनापति उमर खलीफा (Omar Caliph) का है जिसने अपने तर्क के बल पर अलक्षेन्द्रिया (Alexandria) के महान पुस्तकालय को जलवाकर खाक कर दिया था। उसका तर्क था —

यदि इस पुस्तकालय की पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो कुरान के रहते हुए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है और यदि वे कुरान के विरुद्ध हैं तो अधर्म को फैलानेवाली हैं।

या तो वे पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके विरुद्ध।
. या तो वे अनावश्यक हैं या अधर्म को फैलानेवाली हैं।

(२) **शुद्ध-विनाशक**—उभयत पाश शुद्ध-विनाशक तब कहलाता है जब अमुख्य वाक्य विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमदों का निषेध करता है। इसे शुद्ध इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे,

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'क' 'ख' है तो 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।
'क' 'ख' नहीं है।

यदि तुम्हें पढ़ना है तो तुम्हें कॉलिज जाना चाहिये और यदि तुम्हें पढ़ना है तो पुस्तकें खरीदना चाहिये।

या तो तुम कॉलेज नहीं जा सकते या पुस्तकें नहीं खरीद सकते।
. तुम पढ़ नहीं सकते।

इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण दार्शनिक ज़ेनो (Zeno)

का है जो अपने उभयतः पाश के द्वारा गति[1] की असम्भवता सिद्ध करना चाहता था। वह इस प्रकार है—

यदि भौतिक पदार्थ[2] घूमता है तो इसे वहीं घूमना चाहिये जहाँ वह है या जहाँ वह नहीं है।

किन्तु एक भौतिक पदार्थ जहाँ है वहाँ नहीं घूम सकता और न वहाँ जहाँ वह नहीं है।

एक भौतिक पदार्थ घूम नहीं सकता—अर्थात्—गति असम्भव है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि इस उदाहरण में अमुख्य वाक्य वैकल्पिक नहीं है। जो कुछ *विकल्प है वह मुख्य वाक्य के दूसरे* भाग में है।

(४) *मिश्र विनाशक*—उभयतः पाश *मिश्र विनाशक* तब कह लाता है जब वैकल्पिक अमुख्य वाक्य *विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद्* मुख्य वाक्य के हेतुमतों का निषेध करता है। यह मिश्र इसलिये कहलाता है क्योंकि निष्कर्ष इसमें वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' नहीं है।

या तो 'क' 'ख' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।

यदि मनुष्य कर्त्तव्यनिष्ठ[3] है तो वह आज्ञाओं को पालन करेगा और यदि वह बुद्धिमान है तो वह उन्हें समझेगा।

या तो वह आज्ञाओं को पालन नहीं करता है या उन्हें समझता नहीं है।

या तो वह कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं है या वह बुद्धिमान नहीं है।

---

1 Motion. 2. Body 3 Dutiful.

७—उभयतःपाश का खंडन

किसी उभयतःपाश के सर्वथा विरुद्ध उसी प्रकार का उभयतः-पाश रखकर ठीक उलटा निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को उभयतः-पाश का खडन[1] (Reb utting a dilemma) **कहते हैं**। जब हम किसी उभयतःपाश का खडन करते हैं तब हमें मुख्य वाक्य के हेतुमदों को बदल देना चाहिये और उनका गुण भी बदल देना चाहिये। यह नियम केवल मिश्र-विधायक उभयतःपाश में लागू हो सकता है। अब यहाँ हम साकेतिक मिश्र विधायक उभयतःपाश का खडन करते हैं:—

प्रस्तुत-उभयत पाश

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

. या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

खडित रूप.—

यदि 'क' 'ख' है तो 'ज' 'झ' नहीं है और यदि 'च' 'छ' है ता 'ग' 'घ' नहीं है।

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

. या तो 'ज' 'झ' नहीं है या 'ग' 'घ' नहीं है।

अब हम कुछ प्रसिद्ध उदाहरणों को लेते हैं जिनमें जैसे को तैसा[1] उत्तर दिया गया है। दोनों प्रकार के जाल से बचने का यही ढंग है। जैसे,

प्रस्तुत-उभयत पाश—

यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो वे निरर्थक हैं और यदि वे कुरान के अनुकूल नहीं है तो वे हानिकारक[2] हैं।

या तो पुस्तकें कुरान के अनुकूल है या नहीं हैं।

---

1 Tit for tat 5 Pernicious

या तो वे निरर्थक[1] हैं या हानिकारक हैं।

संक्षिप्त रूप–

यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो वे हानिकारक नहीं हैं।
यदि वे कुरान के अनुकूल नहीं हैं तो वे निरर्थक नहीं हैं।
या तो पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके अनुकूल नहीं है।
या तो वे हानिकारक नहीं हैं या वे निरर्थक नहीं हैं।

एथेन्स नगर की एक माँ का उभयतापाश जिसके द्वारा उसने अपने पुत्र को देश सेवा से रोकने के लिये प्रयत्न किया था, यह है—

यदि तुम न्याय-पूर्वक काम करोगे तो मनुष्य तुमसे घृणा करेंगे और यदि तुम अन्याय से कार्य करोगे तो देवता लोग तुमसे घृणा करेंगे।

या तो न्यायपूर्वक कार्य करो या अन्यायपूर्वक कार्य करो।

या तो मनुष्य तुमसे घृणा करेंगे या देवता लोग तुमसे घृणा करेंगे।

पुत्र ने माँ के उभयतापाश का इस प्रकार खंडन किया और देश-सेवा को सर्वोत्कृष्ट कार्य सिद्ध किया।

यदि मैं न्यायपूर्वक कार्य करता हूँ तो देवता मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

यदि मैं अन्यायपूर्वक काय करता हूँ तो मनुष्य मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

या तो मैं न्याय पूर्वक कार्य करूँ या अन्यायपूर्वक कार्य करूँ।

या तो देवता लोग मुझसे घृणा नहीं करेंगे या मनुष्य मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

प्रस्तुत-उभयतापाश—

यदि मनुष्य अकेला है तो उसकी परवा करनेवाला कोई नहीं है

---

1 Useless.

(अतः दुखी है) यदि मनुष्य विवाहित[1] है तो उसे अपनी धर्म-पत्नी की परवा करनी होगी (अत दु:खी होगा)।

या तो मनुष्य अकेला हो या विवाहित हो।

या तो उसकी कोई परवा करनेवाला नहीं है या उसे अपनी धर्म-पत्नी की परवा करनी होगी (अत. दु खी होगा)

इसका खंडन—

यदि मनुष्य अकेला है तो उसे अपनी धर्म पत्नी की परवा नहीं करनी पड़ेगी और यदि वह विवाहित है तो उसकी परवा करनेवाली उसकी धर्म पत्नी है (अत दोनों अवस्थाओं में सुखी है)।

या तो मनुष्य अकेला है या विवाहित है।

. या तो उसे अपनी स्त्री की परवाह नहीं करनी है या उसकी परवा करनेवाली धर्मपत्नी है (अत दोनों अवस्थाओं में सुखी है)।

अन्य प्रस्तुत-उभयत पाश—

इतिहास में यह एक प्रसिद्ध उभयतःपाश है इसे लिटिजिओसस (Litigiosus) कहते हैं। कहा जाता है कि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्रोटेगोरास (Protegoras) ने युअथलस (Euathlus) को सुन्दर वाक्‌चातुरी[2] की कला को सिखाने के लिये यह शर्त रक्खी कि आधी फीस उसे उसी समय मिलनी चाहिये और आधी जीतने पर। इस कला को सीख लेने पर युअथलस ने बहुत दिनों तक विवाद नहीं किया और उसने फीस का आधा भाग देने से रोक लिया। प्रोटेगोरास ने आधी फीस न देने पर उसपर अभियोग[3] दायर किया और निम्न-लिखित उभयत.पाश उसके सामने रक्खाः—

यदि तुम अभियोग में हार गये तो न्यायालय की आज्ञा से तुम्हें

---

1 Married 2. Rhetoric. 3 Case

फीस देनी होगी यदि तुम जीत गये तो भी तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फीस देनी होगी।

युआथ्लस ने निम्नलिखित उत्तर दिया—

यदि मैं अभियोग मे हार गया तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फीस नहीं दूँगा और यदि मैं जीत गया तो न्यायालय की आज्ञा से फीस नहीं देनी होगी।

८—उभयतःपाश का परीक्षण

तर्कशास्त्र की दृष्टि से किसी उभयतःपाश को सत्य होने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी रूपविषयक और विषय-विषयक सत्यता की परीक्षा की जाय। उभयतःपाश के नियमों के पालन करने से ही उसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो जाती किन्तु इसकी वास्तविक सत्यता विषय की दृष्टि से सिद्ध होनी चाहिये।

रूपविषयक उभयतःपाश की शुद्धि।

यह हम देख चुके हैं कि उभयतःपाश दो हेतुहेतुमद् सिलाजिज़्मों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये परीक्षा करने के लिये कि अमुक उभयतः पाश शुद्ध है या नहीं हमें इसका दो हेतुहेतुमद् सिला जिज़्मों में विश्लेषण कर देना चाहिये पश्चात् यह देखना चाहिये कि इनमें हेतुहेतुमद् सिलाजिज़्मों के नियमों का पालन ठीक प्रकार हुआ है या नहीं। हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज़्म के नियम हैं कि यदि अमुख्य वाक्य में हम हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करते हैं तो हम निष्कर्ष में हेतुमद् का विधान कर सकते हैं किन्तु विपरीत रूप से नहीं। तथा यदि अमुख्य वाक्य में हम हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निषेध करते हैं तो हम निष्कर्ष में उसके हेतु का निषेध कर सकते हैं किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

यदि उभयतःपाश के विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि

उक्त नियमों का पालन किया गया है तो उभयत पाश रूप की दृष्टि से सत्य होगा। उदाहरणार्थ हम एक शुद्ध विधायक उभयतः पाश को लेते हैं —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है
या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
∴ 'ग' 'घ' है।

इस उभयत पाश को हम अङ्गीभूत हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्मों में विश्लेषित कर इस प्रकार रखते हैं —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।	यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है।
'क' 'ख' है।	'च' 'छ' है।
∴ 'ग' 'घ' है।	'ग' 'घ' है।

इन दोनों हेतुहेतुमद् सिलाजिज्मों के अमुख्य वाक्यों मे हेतुओं का विधान किया गया है और निष्कर्ष मे हेतुमद् का विधान किया गया है अत. प्रस्तुत उभयत.पाश ठीक है। इसका हम एक वास्तविक उदाहरण लेते है:—

यदि एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं और यदि वह अन्य के विचारानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है या अन्य के विचारानुसार कार्य करता है।

किसी भी अवस्था मे लोग उसकी समालोचना करते हैं।

इस उभयतःपाश को हम अङ्गीभूत हेतुहेतुमद-निरपेक्ष सिलाजिज्मों में विश्लेपित कर इस प्रकार रखते हैं —

(१) यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

यह अपनी इच्छानुसार कार्य करता है।
लोग उसकी समालोचना करते हैं।

(२) यदि मनुष्य अन्य के विचार के अनुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

मनुष्य अन्य के विचार के अनुसार कार्य करता है।
लोग उसकी समालोचना करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उभयतःपाश ठीक है क्योंकि इसमें प्रमुख वाक्य में हेतु का विधान करके निष्कर्ष में हेतुमद् का विधान किया है।

इसी प्रकार यदि हम मिश्रविधायक उभयतःपाश के उदाहरणों का विश्लेषण[1] करें या अन्य उदाहरणों का विश्लेषण करें तो हमें प्रतीत होगा कि रूप की दृष्टि से ये ठीक हैं क्योंकि इनमें हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म के सम्पूर्ण नियमों का भलीभाँति पालन किया गया है। यदि इन नियमों का पालन किया जाय तो उभयतःपाश गलत होगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि यदि उभयतःपाश की रूपविषयक सत्यता का निर्णय करना है तो हमें उसके अन्तर्भूत हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज्मों में उसका विश्लेषण कर लेना चाहिये और यह दिखलाना चाहिये कि इनमें उनके नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया गया है।

(२) विषय विषयक उभयतःपाश की शुद्धि—

उभयतःपाश का केवल रूप की दृष्टि से ठीक होना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु यह विषय की दृष्टि से भी ठीक होना चाहिये। अर्थात् जिन प्रतिज्ञावाक्यों से यह बना हुआ है वे ठीक होने चाहिये। यह प्रसिद्ध है कि उभयतःपाश सत्य होने की अपेक्षा असत्य अधिक होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जहाँ

1 Analysis.

दोनों विकल्प एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हों। अधिकतर उदाहरणों में ऐसा होता है कि दोनों विकल्प पूर्ण रूप से एक दूसरे के विरुद्ध नहीं होते, किन्तु विरुद्ध की भाँति प्रतीत होते हैं। गहरी जाँच करनेपर यही प्रतीत होता है कि उनमें विषय-विषयक दोष भरे रहते हैं। एक उभयत पाश में विषय-विषयक दोष तब मालूम होते हैं जब उसमें हम प्रतिज्ञा वाक्यों को विषयगत दोषों से भरा हुआ पाते हैं। जब प्रतिज्ञा-वाक्य विषय की दृष्टि से दोष पूर्ण हैं तो उनसे निकाला हुआ निष्कर्ष अवश्य ही असत्य होगा। अत यह आवश्यक है कि एक उभयतः-पाश की विषय-विषयक परीक्षा कर ली जाय।

किसी उभयत-पाश की विषय विषयक अशुद्धि तीन प्रकार से दिखलाई जा सकती है:—

(१) मुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से ग़लत हो सकता है।

उभयत पाश का मुख्य वाक्य दो हेतुहेतुमद् वाक्यों को बनाता है। यदि परीक्षा करने पर यह मालूम होता है कि उक्त हेतुहेतुमद् वाक्यों के हेतुमद विषय की दृष्टि से हेतु से नहीं निकलते हैं तो स्पष्ट रूप से दिया हुआ मुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से गलत होगा। जब वाक्य मिथ्या है तो उससे निकाला हुआ निष्कर्ष भी अवश्य गलत होगा।

मिश्र विधायक उभयत पाश के उदाहरण में हेतुमद् हेतु से नहीं भी निकल सकता है। यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो यह हम कैसे कह सकते हैं कि वे निरर्थक हैं, केवल इसी कारण से कि 'क्योंकि वे कुरान के अनुकूल हैं'। इसी प्रकार दूसरा हेतुहेतुमद् वाक्य—'यदि पुस्तकें कुरान के अनुसार नहीं हैं तो वे हानिकारक हैं' भी उसी प्रकार विषय की दृष्टि से ग़लत हो सकता है। यह हो सकता है कि एक किताब कुरान के अनुसार न हो और हानिकारक भी न हो। इस विधि से यह दिखलाया जा सकता है कि उभयतः पाश ग़लत है क्योंकि

इसका मुख्य वाक्य दो हेतुहेतुमद् वाक्यों से बना हुआ है और यह विषय की दृष्टि से मिथ्या है।

यह हम जानते हैं कि एक मनुष्य उभयतःपाश के दो शृङ्गों के बीच में फँसा हुआ रहता है। इसलिये उभयतःपाश की किसी क्रुद्ध बैल के दो शृङ्गों से उपमा दी जाती है और मनुष्य जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया गया है, उसकी एक अपराधी से तुलना की जाती है और वह क्रुद्ध बैल[1] के एक या दूसरे शृङ्ग का शिकार बना हुआ रहता है। इस प्रकार के उभयतः पाश की असत्यता सिद्ध करने के लिये उभयतःपाश को उसके सींगों से पकड़ना—कहते हैं। जिस मनुष्य के विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है वह बैल को सींगों से पकड़ कर दबाता है और दिखलाता है कि उभयतःपाश में दबाये हुए बैल की तरह, कोई शक्ति नहीं है। किन्तु यह केवल दिखावा है। क्योंकि इसी प्रकार उभयतःपाश की असत्यता भी बतलाई जा सकती है।

(२) अमुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से गलत हो सकता है। उभयतःपाश का अमुख्य वाक्य एक वैकल्पिक होता है। दो विकल्प रक्खे जाते हैं और मान लिया जाता है कि दोनों विकल्पों में विरोध पूर्ण है, और कोई सम्भावना यहाँ नहीं है। यदि यह मालूम हो कि और सम्भावनाएं भी हैं और उनकी अवहेलना की गई है तो अमुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से मिथ्या होगा।

शुद्ध-विभाजक उभयतःपाश के उदाहरण में जो विकल्प अमुख्य वाक्य में दिये गये हैं कि मनुष्य या तो अपनी इच्छानुसार कार्य करता है या अन्य के विचारानुसार कार्य करता है वे सर्वथा एक दूसरे से विरुद्ध नहीं है। यह सर्वथा सम्भव है कि मनुष्य का अपनी इच्छा का निर्णय कुछ अवस्थाओं में उसी प्रकार हो जैसा कि अन्य के निर्णयों का

1 Angry bull.

विचार। अत: यह कहा जा सकता है कि जैसा वैकल्पिक वाक्य में विरोध दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है। यह विधि जिससे हम उभयत पाश की विषय-सम्बन्धी असत्यता सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि दोनों विकल्प सर्वथा एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इस विधि को उभयत. पाश के दोनों सींगों से बचने का उपाय कहते हैं।

(३) तीसरी विधि—किसी उभयत. पाश की असत्यता सिद्ध करने के लिये हमें उभयतःपाश का खडन करना चाहिये अर्थात् उतना ही सबल विरुद्ध उभयत पाश रखकर उसके विरुद्ध निष्कर्ष निकाल कर उसकी असत्यता सिद्ध कर देनी चाहिये। जब किसी उभयतःपाश का खडन किया जाता है तब हम उससे विरुद्ध उभयत.पाश बनाते हैं और यह प्रस्तुत उभयत' पाश थोडी सी वकीली करने से बन जाता है। क्योंकि हम बड़ी आसानी से सर्वथा विरुद्ध विकल्प रखकर उसकी निर्बलता पर प्रकाश डाल सकते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार की निर्बलता दिखाकर हम सर्वथा किसी उभयत.पाश की असत्यता नहीं दिखलाते किन्तु केवल विरोधी पुरुष की अवस्था की निर्बलता दिखाने का प्रयत्न करते हैं। किसी उभयत पाश का किस प्रकार खडन किया जाता है यह पहले दिखलाया जा चुका है। पिष्ट-पेषण की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न

१ मिश्र सिलाजिज्म का स्वरूप क्या है? इसके कितने प्रकार होते हैं? प्रत्येक का उदाहरण दो।

२ विधि प्रकार (Modus Ponens) मिश्र सिलाजिज्म के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

३ वैकल्पिक निरपेक्ष सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर इस नियम को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करो:—

"वैकल्पिक मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को अमुख्य

वाक्य में निषेध करने से हम मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को निष्कर्ष में विधान कर सकते हैं।'

४ यदि 'क' सत्य है तो 'ख' सत्य है।
यदि 'ग' सत्य है तो 'ख' सत्य नहीं है।
दिखलाइये इन वाक्यों से क्या निष्कर्ष निकलता है ?
(क) यदि 'क' सत्य हो, और
(ख) यदि 'ग' सत्य हो।
इन निष्कर्षों में कौन सा नियम लागू होता है ?

५. निम्नलिखित वक्तव्य की उदाहरण पूर्वक व्याख्या करो—
"क्या हेतुहेतुमद् और वैकल्पिक निरपेक्ष क्रियाविधियों को निरपेक्ष क्रियाविधियों के रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है ?"

६. उभयतःपाश तर्क का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि किन परीक्षणों द्वारा इसकी व्यवस्था का निर्णय किया जाता है ?

७ एक उभयतःपाश बनाओ और उसके द्वारा यह सिद्ध करो कि 'धन निरर्थक है।

८. निम्नलिखित में क्या दोष हैं ?
(क) यदि एक लड़का परिश्रमी है तो वह परीक्षा पास कर लेता है।
वह परीक्षा पास कर लेता है।
वह परिश्रमी है।
(ख) यदि एक व्यक्ति अपराधी है तो उसे सजा मिलेगी।
किन्तु वह अपराधी नहीं है।
उसे सजा नहीं मिलेगी।

९ सापेक्ष तर्कों की सत्यता की सिद्धि के लिये नियमों का उल्लेख करो और निम्नलिखित उभयतःपाश का खंडन करो—
"यदि एक शिष्य को पढ़ने का शौक है तो उसे प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं और यदि उसे पढ़ने का शौक नहीं है तो

भी प्रोत्साहन उसके लिये लाभप्रद नहीं है। वह या तो पढ़ने का शौकीन है या वह इसे नापसन्द करता है। अत. प्रोत्साहन या तो उसके लिये अनावश्यक है या यह लाभदायक नहीं।"

२०. उभयत पाश का लक्षण लिखकर निम्नलिखित वक्तव्य पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करोः—

"उभयत.पाश जन्य तर्क, सत्य की अपेक्षा असत्य अधिक होते हैं।"

२१ उभयतःपाश कितने प्रकार का होता है? निम्नलिखित उभयत.-पाश का खडन करो.—

'यदि मैं खेत को पार कर जाता हूँ तो मुझे बैल मिलता है और यदि गली में होकर जाता हूँ तो मुझे किसान मिलता है।'

या तो मुझे खेत पार कर जाना चाहिये या गली मे होकर जाना चाहिये।

या तो मुझे बैल मिलेगा या मुझे किसान मिलेगा।

२२ एक उभयतःपाश बनाओ और सिद्ध करो कि 'परीक्षाएँ सार्थक हैं' तथा उसका खडन भी करो।

२३ उभयत.पाश के खडन से आपका क्या अभिप्राय है? इस प्रकार खंडन करने के क्या नियम हैं? उदाहरण देकर नियमों का प्रयोग समझाओ।

२४ उभयत.पाश की विषय-विषयक सत्यता से आपका क्या अभिप्राय है? यह कितने प्रकार से सिद्ध हो सकता है? उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

२५ उभयतःपाश के सींगों के बीच से बचने का क्या मतलब है? उदाहरण देकर समझाओ।

———

अध्याय १४

संक्षिप्त सिलाजिज्म

संक्षिप्त सिलाजिज्म (Enthememe) एक प्रकार का सिला-
जिज्म है जिसमें इसके अंगीभूत वाक्यों को दबा दिया जाता है।
जब हम एक सिलाजिज्म को अपने पूर्ण रूप में रखते हैं तो इसमें ३
वाक्य होते हैं अर्थात् (१) मुख्य वाक्य[1], (२) अमुख्य वाक्य[2] और
(३) निष्कर्ष[3]। साधारण रूप से तर्क करते समय यह कभी नहीं देखा
जाता कि सिलाजिज्म के तीनों ही वाक्यों का प्रयोग किया जाय।
तर्कशास्त्र की पुस्तकों को छोड़कर सामान्य व्यवहार में हमें कहीं भी
सिलाजिज्म के तीनों वाक्यों का प्रयोग नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा
प्रयत्न भी करे तो लोग उसे केवल पंडिताई का नमूना समझते हैं।
मनुष्य की प्रवृत्ति सदा संक्षिप्त रूप से व्यवहार करने की रही है। वह
उतने ही वाक्य प्रयोग करना चाहता है जिसमें उसका अभिप्राय या
तर्क स्पष्ट रूप से दूसरे की समझ में आ जाय। यही कारण है कि
हमें सिलाजिज्म का पूर्ण रूप व्यवहार में नहीं मिलता। अतः सिला-
जिज्म का प्रयोग अधिकतर हमें संक्षिप्त सिलाजिज्म के रूप में मिलता
है जिसमें सिलाजिज्म के कुछ वाक्य दबे रहते हैं। अतः संक्षिप्त
सिलाजिज्म का अर्थ है अपूर्ण सिलाजिज्म या संकीर्ण सिलाजिज्म।

संक्षिप्त सिलाजिज्म के ४ क्रम[4] हैं —

(१) प्रथम क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है

---

1 Major premise. 2. Minor Premise. 3. Conclusion.
4 Order

जब हम सिलाजिज्म में से मुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं; किन्तु अमुख्य वाक्य और निष्कर्ष को पूर्ण रूप से प्रगट किये हुए रहते है। उदाहरणार्थ, गौतम मरणशील है क्योंकि वह मनुष्य ही तो है'। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा —

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
गौतम एक मनुष्य है।
∴ गौतम मरणशील है।"

उपर्युक्त उदाहरण मे 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह मुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत' यह प्रथम क्रम का सक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(२) द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब हम सिलाजिज्म में से अमुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु मुख्य वाक्य और निष्कर्ष का स्पष्ट रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'नागार्जुन मरणशील है और इसी प्रकार सब मनुष्य मरणशील हैं' इसका पूर्ण रूप यह है :—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
वह मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'नागार्जुन मनुष्य है' यह अमुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत' यह द्वितीय क्रम का सक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(३) तृतीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जिसमें निष्कर्ष को अलग कर देते हैं किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्य पूर्ण रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य मरणशील है क्योंकि समतभद्र मनुष्य ही तो है। यहाँ स्पष्ट रूप से निष्कर्ष को दबा दिया गया है। इसका रूप यह है :—

अध्याय १५

संक्षिप्त सिलाजिज्म

संक्षिप्त सिलाजिज्म (Enthememe) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें इसके अंगीभूत वाक्यों को दबा दिया जाता है। जब हम एक सिलाजिज्म को अपने पूर्ण रूप में रखते हैं तो इसमें ३ वाक्य होते हैं अर्थात् (१) मुख्य वाक्य[1], (२) अमुख्य वाक्य[2] और (३) निष्कर्ष[3]। साधारण रूप से तर्क करते समय यह कभी नहीं देखा जाता कि सिलाजिज्म के तीनों ही वाक्यों का प्रयोग किया जाय। तर्कशास्त्र की पुस्तकों को छोड़कर सामान्य व्यवहार में हमें कहीं भी सिलाजिज्म के तीनों वाक्यों का प्रयोग नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा प्रयत्न भी करें तो लोग उसे केवल पंडिताई का नमूना समझते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति सदा संक्षिप्त रूप से व्यवहार करने की रही है। वह उतने ही वाक्य प्रयोग करना चाहता है जिसमें उसका अभिप्राय या तर्क स्पष्टरूप से दूसरे की समझ में आ जाय। यही कारण है कि हमें सिलाजिज्म का पूर्ण रूप व्यवहार में नहीं मिलता। अतः सिलाजिज्म का प्रयोग अधिकतर हमें संक्षिप्त सिलाजिज्म के रूप में मिलता है जिसमें सिलाजिज्म के कुछ वाक्य दबे रहते हैं। अत संक्षिप्त सिलाजिज्म का अर्थ है अपूर्ण सिलाजिज्म या संकीर्ण सिलाजिज्म।

संक्षिप्त सिलाजिज्म के ४ क्रम हैं —

(१) प्रथम क्रम[4] का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है

---

1 Major premise 2. Minor Premise 3. Conclusion
4 Order

जब हम सिलाजिज्म में से मुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु अमुख्य वाक्य और निष्कर्ष को पूर्ण रूप से प्रगट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम मरणशील है क्योंकि वह मनुष्य ही तो है'। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा '—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
गौतम एक मनुष्य है।
· गौतम मरणशील है।"

उपर्युक्त उदाहरण में 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह मुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अतः यह प्रथम क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(२) द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब हम सिलाजिज्म में से अमुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु मुख्य वाक्य और निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'नागार्जुन मरणशील है और इसी प्रकार सब मनुष्य मरणशील हैं' इसका पूर्ण रूप यह है :—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
वह मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'नागार्जुन मनुष्य है' यह अमुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत॰ यह द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(३) तृतीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जिसमें निष्कर्ष को अलग कर देते हैं किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्य पूर्ण रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य मरणशील है क्योंकि समंतभद्र मनुष्य ही तो है। यहाँ स्पष्ट रूप से निष्कर्ष को दबा दिया गया है। इसका रूप यह है ·—

"मनुष्य मरणशील है।
धर्मतमद्र मनुष्य है।
धर्मतमद्र मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'धर्मतमद्र मरणशील है' यह निष्कर्ष निकाल देने पर यह तृतीय क्रम के संक्षिप्त सिलाजिज्म का उदाहरण कहलायेगा।

(४) चतुर्थ क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब एक ही वाक्य पूर्ण सिलाजिज्म के भाव को व्यक्त करने की शक्ति रखता है। यह प्रायः देखा जाता है कि साधारण बातचीत में या कथन में केवल एक वाक्य चाहे वह प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक हो या निष्कर्ष हो प्रकट किया जाता है और अन्य वाक्य छिपाए हुए रहते हैं और वे इतने स्पष्ट रहते हैं कि प्रकरणानुसार उनको परिपूर्ण किया जा सकता है उदाहरणार्थ जब महान कवि शेक्सपीयर[1] ने कहा निर्बलता तेरा नाम स्त्री है' (Frailty thy name is woman. H) यह एक वाक्य ही पूर्ण सिलाजिज्म की शक्ति रखता है। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा—

"सब स्त्रियाँ निर्बल होती हैं।
कार्ट्रेड एक स्त्री है।
कार्ट्रेड निर्बल है।"

इस वाक्य को स्पष्ट करने पर यह प्रतीत होता है कि शेक्सपीयर हेमलेट की माँ की ओर इशारा कर रहा था। प्रायः देखा जाता है कि जब हम किसी व्यक्ति के निधन पर शोक प्रकट करने के लिये जाते हैं तो कहते हैं हा कष्ट, मनुष्य मरणशील ही तो है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि अन्ततः मनुष्य को मरना आवश्यक है। इसका भी पूर्ण रूप बनाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई न्यायाधीश गलती करता

1 Shakespeare (A great poet of England).

है तो हम कहते हैं 'अन्ततो गत्वा,'[1] न्यायाधीश मनुष्य ही तो है' अथवा 'गलती करना मनुष्य का स्वभाव है' इत्यादि। इन सब वाक्यों को पूर्ण सिलाजिज्म के रूप मे रखकर इनकी अन्तर्हित शक्ति को प्रकट किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१. संक्षिप्त सिलाजिज्म क्या है? इसको अपूर्ण या संकीर्ण सिलाजिज्म क्यों कहते हैं?

२ संक्षिप्त सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर प्रथम क्रम और तृतीय-क्रम के उदाहरण दो।

३ चतुर्थ क्रम का सिलाजिज्म क्या है? उदाहरण देकर समझाओ।

४ द्वितीय क्रम का सिलाजिज्म किस प्रकार का होता है? उसका उदाहरण लिखकर उसको पूर्ण रूप में परिवर्तित करो।

५ 'सभी तो गलती करते हैं' इसका पूर्ण रूप बनाकर लिखो और बतलाओ यह किस क्रम का उदाहरण है?

---

1. After all

अध्याय १६

१—मिश्र सिलाजिज्म अथवा तर्कमालाएँ

वर्धमान और हीयमान

तर्कमाला (Train of Reasoning) सिलाजिज्म की वह प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक सिलाजिज्में मिली रहती हैं और वे एक दूसरे से इस प्रकार मिली रहती हैं कि अन्त में मिलकर एक ही निष्कर्ष को निकालती हैं। जैसे,

(१) 'सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।

(२) सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।

(३) सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।

(४) सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।
सब 'क' 'छ' हैं।'

इस उदाहरण में ४ सिलाजिज्में इस प्रकार एक दूसरे से मिली हुई हैं कि एक का निष्कर्ष दूसरी का अमुख्य वाक्य बन जाता है यहाँतक कि अन्तिम निष्कर्ष सब 'क' 'छ' है निकलता है इससे

तर्कमाला, या **बहु-अवयव-घटित न्याय** (Polisyllogism) कहते हैं।

एक बहु-अवयव-घटित-न्याय अथवा तर्कमाला मे एक सिलाजिज्म, जिसका एक निष्कर्ष दूसरे में वाक्य की तरह प्रयोग किया जाता है तो वह उसके सम्बन्ध मे **पूर्वावयवघटित न्याय** (Pro syllogism) **कहलायेगा** तथा एक सिलाजिज्म जिसका एक वाक्य दूसरे सिलाजिज्म के निष्कर्ष की तरह प्रयोग किया जाता है तो वह दूसरे के सम्बन्ध में **पश्चादवयवघटित-न्याय** (Episyllogism) **कहलायेगा**।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूर्वावयव-घटित-न्याय और पश्चादवयवघटित न्याय ये दोनों पद सापेक्ष हैं। वही सिलाजिज्म एक दृष्टि से पूर्वावयव-घटित-न्याय कहा जा सकता है और वही दूसरी दृष्टि से पश्चादवयव-घटित न्याय कहा जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में दूसरी सिलाजिज्म पहली सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित न्याय कहलाता है तथा तीसरे सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित न्याय कहलाता है। उसी प्रकार तीसरा सिलाजिज्म दूसरे सिला-जिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित-न्याय कहलाता है और चतुर्थ सिलाजिज्म के सम्बन्ध मे पूर्वावयव-घटित-न्याय कहलाता है।

पहले दिये हुए तर्कमाला के उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रथम सिलाजिज्म दूसरे के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित-न्याय है तथा द्वितीय, तृतीय के सम्बन्ध मे पूर्वावयव घटिय न्याय है तथा तृतीय, चतुर्थ के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित-न्याय है। इस प्रकार हम इस तर्कमाला को पूर्वावयव-घटित-न्याय से पश्चादवयव-घटित न्याय की ओर बढ़ता हुआ देखते हैं अतः इसको हम वर्धमान (Progressive) पश्चाद-वयव-घटित-न्यायवती, सश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं। इस प्रकार **वर्धमान तर्कमाला सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें दो या**

अधिक सिलाजिज्मों को मिलाते हैं और जिसमें हम पूर्वावयव घटित न्याय से पश्चादवयव घटित न्याय की ओर बढ़ते हैं।

इसके अतिरिक्त जब हम तर्कमाला में पश्चादवयव घटित न्याय से चलकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाते हैं तो इसको हीयमान (Regressive) पूर्वावयव घटित न्यायवती या विश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं। पूर्व में दिये हुए उदाहरण को यदि प्रतिलोम-विधि से देखा जाय तो हीयमान तर्कमाला का उदाहरण बन जायगा। जैसे,

(१) सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'ख' ह हैं और
सब 'क' 'ख' हैं।
(२) सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं और
सब 'क' 'ग' हैं।
(३) सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं और
सब 'क' 'ग' हैं।
(४) सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ल' ग' हैं और
सब 'क' 'ल' हैं।"

इस उदाहरण में प्रथम सिलाजिज्म दूसरे सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित न्याय है; क्योंकि प्रथम का एक वाक्य "सब 'क' 'ख' हैं" दूसरे का निष्कर्ष बन जाता है। उसी प्रकार द्वितीय और तृतीय सिलाजिज्में तृतीय और चतुर्थ के सम्बन्धों में क्रमशः पश्चादवयव घटित-न्याय हैं। इनमें तर्कमाला पश्चादवयव-घटित-न्याय से पूर्वावयव

घटित न्याय की ओर जाती है इसलिये इसे हीयमान, पूर्वावयव-घटित-न्यायवती या विश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. तर्कमाला किसे कहते हैं? उदाहरण देकर इसके स्वरूप पर प्रकाश डालो।
२. वर्धमान तर्कमाला का स्वरूप लिखकर उदाहरण दो।
३. हीयमान तर्कमाला किसे कहते हैं? हीयमान तर्कमाला में क्या क्रम होता है? उदाहरण देकर प्रकाश डालो।
४. पूर्वावयव-घटित न्याय और पश्चादवयव-घटित न्याय से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? वर्धमान और हीयमान मिश्र सिलाजिज़्मों में इनका क्या स्थान रहता है?
५. बह्ववयव-घटिय-न्याय का लक्षण लिखकर एक उदाहरण दो।

———

अध्याय १७

संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Sontes) और संक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema)

(१) संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला

संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Sontes) सिलाजिज़्म का वह प्रकार है जिसमें समस्त पूर्वावयव पठित-न्यायों के (और तत्संगत पश्चादवयव पठित-न्यायों के वाक्य) निकाल दिये जाते हैं। इसीलिये इसको संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला कहते हैं। संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला सर्वदा पूर्वावयव-पठित-न्याय से शुरू होकर पश्चादवयव पठित-न्याय की ओर बढ़ती है यद्यपि पूर्वावयव-पठित-न्याय और पश्चादवयव-पठित-न्याय पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं रहते। पूर्वावयव पठित-न्यायों के निष्कर्ष तथा तत्संगत पश्चादवयव-पठित न्यायों के वाक्य दबे हुए रहते हैं। इस प्रकार संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला एन्थीमीम्स (Enthememes) का ही विशिष्ट रूप है—

"सब 'क' 'ख' है।
सब 'ख' 'ग' है।
सब 'ग' 'घ' है।
सब 'घ' 'ङ' है।
सब 'ङ' 'च' है।
सब 'क' 'च' है।"

यदि इसको इसके पूर्ण रूप में रक्खा जाय तो इसका स्वरूप इस प्रकार होगा :—

(१) "सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
∴ **सब 'क' 'ग' हैं।**

(२) सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
∴ **सब 'क' 'घ' हैं।**

(३) सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।

(४) सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।
सब 'क' 'छ' हैं।"

यह स्पष्ट है कि बड़े अक्षरों मे दिये हुए वाक्य जो पूर्वावयव-घटित-न्यायों के निष्कर्ष हैं और तत्सङ्गत पश्चादवयव-घटित न्यायों के वाक्य, ऊपर दी हुई सक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला में से निकाल दिये गये हे।

सक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला (Sorites) दो प्रकार की होती हैं— (१) आरस्तवीय, (२) गोक्लेनिअसीय।

(१) आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Aristotelian Sorites) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें पूर्वावयव घटित न्याय के दबाए हुए निष्कर्ष तत्संगत पश्चादवयव घटित-न्याय के अमुख्य वाक्य बनाते हैं। जैसे :—

सांकेतिक[1] उदाहरण	यथार्थ[1] उदाहरण
सब 'क' 'ख' हैं	चेतक एक घोड़ा है।
सब 'ख' 'ग' हैं	घोड़ा चतुष्पद होता है।
सब 'ग' 'घ' हैं	चतुष्पद एक पशु होता है।
सब 'घ' 'च' हैं	पशु एक पदार्थ है।
सब 'च' 'छ' हैं	पदार्थ एक सत्ता होती है।
सब 'क' 'छ' हैं	चेतक एक सत्ता है।

यदि एक संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला को पूर्णरूप से व्यक्त किया जाय तो प्रतीत होगा कि इसमें पूर्वावयव-वर्जित न्यायों के दबाए हुए निष्कर्ष उत्तरगत-प्रधानावयव वर्जित न्याय के प्रमुख वाक्य बनाए गये हैं। सांकेतिक उदाहरण पहले बतलाया जा चुका है। इसका यथार्थ उदाहरण इस प्रकार से पूर्णरूप से प्रकट किया जा सकता है:—

(१) सब घोड़े चतुष्पद होते हैं।
चेतक एक घोड़ा है।
चेतक चतुष्पद है।

(२) सब चतुष्पद पशु होते हैं।
चेतक एक चतुष्पद है।
चेतक पशु है।

(३) सब पशु पदार्थ होते हैं।
चेतक एक पशु है।
चेतक एक पदार्थ है।

(४) सब पदार्थ सत्तात्मक होते हैं।
चेतक एक पदार्थ है।
चेतक सत्तात्मक है।

1 Symbolical Example. Concrete Example

(२) गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला (Goclenian Sorites) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें पूर्वावयव-घटित न्याय के दबाए हुए निष्कर्ष तत्संगत पश्चादवयवघटित-न्याय के मुख्य वाक्य बनाते हैं। जैसे,

सांकेतिक उदाहरण	यथार्थ उदाहरण
"सब 'च' 'छ' हैं।	"पदार्थ एक सत्ता होता है।
सब 'घ' 'च' हैं।	पशु एक पदार्थ है।
सब 'ग' 'घ' हैं।	चतुष्पद एक पशु होता है।
सब 'ख' 'ग' हैं।	घोड़ा चतुष्पद होता है।
सब 'क' 'ख' हैं।	चेतक एक घोड़ा है।
∴ सब 'क' 'छ' हैं।"	∴ चेतक एक सत्ता है।"

यदि इस संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला को पूर्णरूप से स्पष्ट किया जाय तो पूर्वावयव घटित-न्याय के दबे हुए निष्कर्ष तत्संगत-पश्चादवयव घटित न्याय के मुख्य वाक्य बन जायँगे। उपर्युक्त सांकेतिक उदाहरण को पूर्णरूप में स्पष्ट करने पर उसका यह रूप होगा'—

(१) "सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'घ' 'छ' हैं।

(२) सब 'घ' 'छ' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'ग' 'छ' हैं।

(३) सब 'ग' 'छ' हैं।
सब 'ख' 'ग' हैं।
∴ सब 'ख' 'छ' हैं।

(४) सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।"

उसी प्रकार इसका यथार्थ उदाहरण भी निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) 'पदार्थ एक सत्ता है।
पशु एक पदार्थ है।
पशु एक सत्ता है।
(२) पशु एक सत्ता है।
चतुष्पद एक पशु है।
चतुष्पद एक सत्ता है।
(३) चतुष्पद एक सत्ता है।
घोड़ा चतुष्पद होता है।
घोड़ा एक सत्ता है।
(४) घोड़ा एक सत्ता है।
चेतक एक घोड़ा है।
चेतक एक सत्ता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोक्लेनिअनीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में पूर्वावयव घटित-न्याय के दिये हुए निष्कर्ष पश्चादवयव घटित न्याय के मुख्य वाक्य बन जाते हैं।

यदि दोनों प्रकार की तर्कमालाओं का अच्छी तरह पर्यवेक्षण किया जाय तो हमें प्रतीत होगा कि दोनों के रूपों में वही वाक्य प्रयोग किये गये हैं और वही निष्कर्ष हैं। किन्तु उनमें निम्नलिखित भेद स्पष्ट प्रतीत होते हैं —

मुख्य वाक्य—अरस्तवीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में अन्तिम

वाक्य का निष्कर्ष मुख्य पद है तथा गोक्लेनिश्रसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम वाक्य का विधेय मुख्य पद है।

अमुख्य वाक्य—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में प्रथम उद्देश्य अमुख्य पद है तथा गोक्लेनिश्रसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में अन्तिम उद्देश्य अमुख्य पद है।

अवरुद्ध निष्कर्ष—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में पूर्वावयव-घटित-न्यायों के अवरुद्ध या दबे हुए निष्कर्ष तत्संगत पश्चादवयव घटित-न्यायों के अमुख्य वाक्य बनाए जाते हैं तथा गोक्लेनीश्रसीय सक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला मे तत्संगत पश्चादवयव-घटित-न्यायों के मुख्य वाक्य बनते है।

अङ्गीभूत वाक्य—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला मे प्रथम वाक्य अमुख्य वाक्य होता है और अवशिष्ट सब वाक्य मुख्य वाक्य होते हैं। गोक्लेनिश्रसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम वाक्य मुख्य वाक्य होता है और अवशिष्ट वाक्य अमुख्य वाक्य होते हैं।

(२) संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला के नियम।

यदि सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला, सर्वथा प्रथम आकृति में ही हो अर्थात् सब अङ्गीभूत सिलाजिज्में प्रथम आकृति में ही हों तो निम्न-लिखित नियम आरस्तवोय आ गोक्लेनिश्रसीय तर्कमालाओं में ठीक बैठते हैं।

(१) इन तर्कमालाओं में केवल एक ही वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् आरस्तवीय में अन्तिम और गोक्लेनिश्रसोय में प्रथम।

सिद्धि—केवल एक ही वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् एक से अधिक वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। यह विदित है कि निषेधात्मक वाक्य से निषेधात्मक ही निष्कर्ष हो सकता है। यदि

एक से अधिक वाक्य निषेधात्मक हों तो इसका अर्थ यह होगा कि अङ्गीभूत सिलाजिज्मों में से एक में दो निषेधात्मक वाक्य होने से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकेगा। अतः यह सिद्ध है कि यदि कोई निषेधात्मक वाक्य हो सकता है तो आरस्तवीय में यह अन्तिम होगा और गोक्लेनियसीय में प्रथम होगा। यदि कोई वाक्य निषेधात्मक होगा तो अन्तिम निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा और यदि निष्कर्ष निषेधात्मक होगा तो वह अपने विधेय को पूर्णार्थ में ग्रहण करेगा। अतः उस वाक्य में जिसमें अन्तिम निष्कर्ष का विधेय विधेय है वह अवश्य निषेधात्मक होगा। तथा जिस वाक्य में अन्तिम निष्कर्ष का विधेय, विधेय है वह आरस्तवीय रूप में अन्तिम वाक्य होगा और गोक्लेनियसीय रूप में प्रथम वाक्य होगा। यदि अन्य कोई वाक्य निषेधात्मक ग्रहण किया जायगा तो अनियमित मुख्य पद का दोष हो जायगा।

(२) केवल एक वाक्य ही विशेष हो सकता है अर्थात् एक से अधिक वाक्य विशेष नहीं हो सकते।

यदि एक वाक्य भी विशेष हो तो निष्कर्ष भी विशेष होगा। इसलिये यदि एक से अधिक वाक्य विशेष हों तो अन्ततः अङ्गीभूत सिलाजिज्मों में से एक में दो विशेष वाक्य होंगे और उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अतः यदि कोई वाक्य विशेष हो सकता है तो आरस्तवीय रूप में यह प्रथम होगा और गोक्लेनियसीय में यह अन्तिम होगा। आरस्तवीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम को छोड़कर सब मुख्य वाक्य हैं। ये नियम संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला में तब लागू हो सकते हैं जब सब अङ्गीभूत सिलाजिज्म प्रथम आकृति में हों। प्रथम आकृति के विशेष नियमों के अनुसार मुख्य वाक्य सामान्य होना चाहिये। अतः केवल प्रथम वाक्य जो कि अमुख्य वाक्य है विशेष हो सकता है। गोक्लेनियसीय संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में यदि अन्तिम को छोड़कर और कोई वाक्य विशेष हो तो उस सिलाजिज्म का

निष्कर्ष, जिसमें ऐसा वाक्य आवेगा, वह विशेष होगा। गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला मे निष्कर्ष दूसरे सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य है किन्तु प्रथम आकृति मे मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। अत. यह सिद्ध हुआ कि गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में केवल अन्तिम वाक्य विशेष हो सकता है। यदि अन्य किसी वाक्य का विशेष ग्रहण किया जायगा तो इससे अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष होगा।

(३) सक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला—

सक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema) सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य निकाला हुआ होता है।

सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला, हीयमान अथवा विश्लेषणात्मक वा पूर्वावयव-घटित न्याय की तर्कमाला कहलाती है, इसलिये इसमें तर्क पश्चादवयव-घटित न्याय से आरम्भ होकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाता है। इसको सक्षिप्त इसलिये कहते है क्योंकि इसमे प्रत्येक पूर्वावयव-घटित न्याय का एक वाक्य दबा हुआ रहता है यद्यपि इसमें पश्चादवयव-घटित न्याय पूर्णरूप से प्रकट रहता है। इस प्रकार एक सक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला मे एक पश्चादवयव घटित-न्याय तो पूर्णरूप मे प्रकट रहता है किन्तु अन्य पूर्वावयव-घटित-न्याय तर्कमालाओं के बने हुए होते हैं।

सक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो भेद होते हैं। (१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध (Simple) सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव घटित-न्याय के वाक्य तर्कमालाओं से सिद्ध होते हैं। मिश्र (Complex) सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में ये तर्कमालाएं पुन. अन्य तर्कमालाओं से सिद्ध की जाती हैं।

निष्कर्ष, जिसमें ऐसा वाक्य आवेगा, वह विशेष होगा। गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में निष्कर्ष दूसरे सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य है किन्तु प्रथम आकृति मे मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। अत यह सिद्ध हुआ कि गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला मे केवल अन्तिम वाक्य विशेष हो सकता है। यदि अन्य किसी वाक्य को विशेष ग्रहण किया जायगा तो इससे अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष होगा।

(२) संक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला—

संक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema) सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य निकाला हुआ होता है।

संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला, हीयमान अथवा विश्लेषणात्मक वा पूर्वावयव-घटित न्याय की तर्कमाला कहलाती है, इसलिये इसमे तर्क पश्चादवयव-घटित न्याय से आरम्भ होकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाता है। इसको संक्षिप्त इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य दबा हुआ रहता है यद्यपि इसमे पश्चादवयव-घटित न्याय पूर्णरूप से प्रकट रहता है। इस प्रकार एक संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला में एक पश्चादवयव घटित-न्याय तो पूर्ण-रूप से प्रकट रहता है किन्तु अन्य पूर्वावयव-घटित-न्याय तर्कमालाओं के बने हुए होते हैं।

संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो भेद होते हैं। (१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध (Simple) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव-घटित-न्याय के वाक्य तर्कमालाओं से सिद्ध होते हैं। मिश्र (Complex) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में ये तर्कमालाएँ पुन. अन्य तर्कमालाओं से सिद्ध की जाती हैं।

संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो और भी भेद होते हैं (१) एकसिद्ध और (२) उभयसिद्ध। किसी एकसिद्ध (Single) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव परित-न्याय का कोई एक वाक्य तर्कमाला द्वारा सिद्ध किया जाता है तथा उभयसिद्ध (Double) संक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला में पश्चादवयव-परित-न्याय के दोनों ही वाक्य तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये जाते हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला चार प्रकार की होती है (१) शुद्ध एकसिद्ध (Simple Single) (२) शुद्ध उभयसिद्ध (Simple-Double) (३) मिश्र एकसिद्ध (Double Single) और (४) मिश्र उभयसिद्ध (Complex Double)

(१) शुद्ध एकसिद्ध—

"सब 'क' 'ख' हैं क्योंकि सब 'ग' 'ख' हैं और सब 'क' 'ग' हैं। सब 'क' 'ग' हैं क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं।

यदि इसको पूर्णरूप से व्यक्त किया जाय तो इसका रूप निम्न लिखित होगा—

"पश्चादवयव-परित न्याय —

सब 'ग' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।

पूर्वावयव परित न्याय—

सब 'घ' 'ख' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं।"

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथम सिलाजिज्म का वाक्य 'ग' 'ख' है वह दूसरे सिलाजिज्म का निष्कर्ष है। इसलिये यहाँ एक पश्चादवयव-परित-

न्याय से पूर्वावयव-घटित-न्याय की ओर बढ़ता है अथवा अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह हीयमान-तर्कमाला है। क्योंकि इसमें पूर्वावयव घटित-न्याय का वाक्य दबा दिया जाता है इसलिये इसे संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला कहते हैं।

यह संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला शुद्ध है क्योंकि इसमें—सब 'ग' 'ख' हैं—यह वाक्य पूर्वावयव-घटित-न्याय का, न्यायमाला द्वारा सिद्ध किया गया है। तथा इसको एकनिष्ठ इसलिये कहते हैं क्योंकि इसका केवल एक ही वाक्य इस प्रकार सिद्ध किया गया है और दूसरा वाक्य नहीं सिद्ध किया गया है।

(२) शुद्ध उभयनिष्ठ—

"सब 'क' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'ग' 'ख' हैं और सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'व' 'ख' हैं और
सब 'क' 'ग' हैं, क्योंकि सब 'क' 'च' हैं।"

यह शुद्ध है क्योंकि पश्चादवयव-घटित-न्याय के वाक्य इसमें न्याय-मालाओं के द्वारा सिद्ध किये गये है। यह उभयनिष्ठ इसलिये कहलाता है क्योंकि दोनों ही वाक्य इस प्रकार सिद्ध किये गये हैं। प्रथम तर्क-माला, मुख्य वाक्य—सब 'ग' 'ख' हैं—इसको सिद्ध करती हैं। तथा द्वितीय तर्कमाला, अमुख्य वाक्य—सब 'क' 'ग' हैं—इसको सिद्ध करती है। इसको भी पूर्णरूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

"पश्चादवयव-घटित-न्याय—

सब 'ग' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।

पूर्वावयव-घटित न्याय—

सब 'घ' 'ख' हैं।
(क) सब 'ग' 'घ' है।

सब 'ग' 'ख' हैं।

(ख) सब 'ख' 'ग' हैं।

सब 'क' 'ख' हैं।

सब 'क' 'ग' हैं।"

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि प्रथम पूर्वावयव पठित न्याय प्रमुक्त वाक्य को सिद्ध करता है तथा द्वितीय पूर्वावयव-पठित-न्याय प्रमुक्त वाक्य को सिद्ध करता है। जो वाक्य बड़े अक्षरों में दिये हुए हैं, उन्हें दबा दिया गया है।

(३) मिश्र एकनिष्ठ—

सब 'क' 'ख' है क्योंकि सब 'घ' 'ख' है और सब 'क' 'घ' है।
सब 'ग' 'ख' हैं क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं और
सब 'घ' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'च' 'ख' हैं।'

यह संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला मिश्र है क्योंकि प्रथम पश्चादवयव-पठित-न्याय का वाक्य एक तर्कमाला से सिद्ध किया गया है और एक तर्कमाला का वाक्य दूसरी तर्कमाला से सिद्ध किया गया है। यह एकनिष्ठ इसलिये कहलाता है क्योंकि केवल एक पश्चादवयव पठित-न्याय का वाक्य यहाँ सिद्ध किया गया है। दूसरा वाक्य सब 'क' 'घ' है नहीं सिद्ध किया गया है।

(४) मिश्र समपनिष्ठ—

सब 'क' 'ग' है क्योंकि सब 'ग' 'ख' है और सब 'क' 'ख' है।
सब 'ग' 'ख' हैं क्योंकि सब 'च' 'ख' है और
सब 'घ' 'ख' हैं क्योंकि सब 'च' 'ख' है।

और फिर—

सब 'क' 'ग' हैं क्योंकि सब 'छ' 'ग' है और
सब 'छ' 'ग' हैं क्योंकि सब 'ज' 'ग' है।"

यह मिश्र उभयनिष्ठ सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का उदाहरण है क्योंकि इसमें पश्चादवयव-घटित न्याय के दोनों वाक्य तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये गये हैं और इन तर्कमालाओं के वाक्य फिर दूसरी तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये गये हैं। निम्नलिखित तालिका भिन्न-भिन्न प्रकार की तर्कमालाओं के वर्गीकरण का स्पष्ट बोध कराती है.—
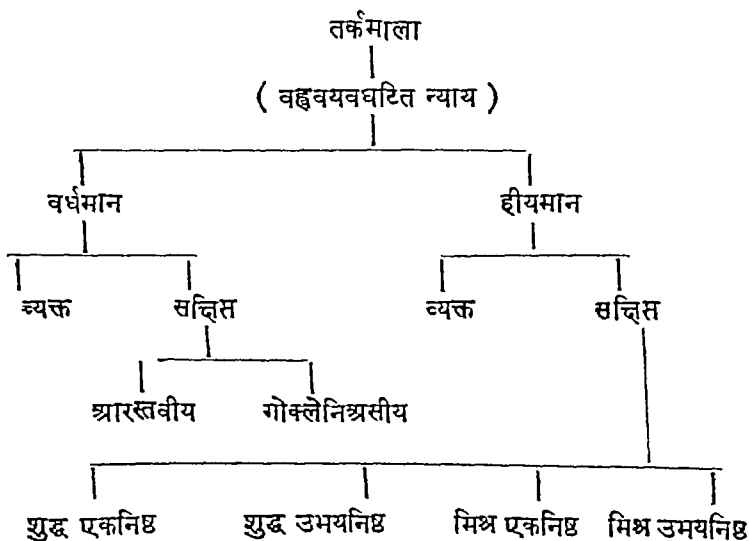
अभ्यास प्रश्न

१ सक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला का लक्षण उदाहरण सहित लिखो तथा यह बतलाओ कि आरस्तवीय और गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमालाओं मे क्या अन्तर है ?

२. सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला का स्वरूप लिखकर उसके नियमों पर प्रकाश डालो।

३ संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का लक्षण लिखकर उसको उदाहरण से स्पष्ट करो। यह कितने प्रकार की होती है? प्रत्येक का उदाहरण दो।

४ शुद्ध उभयनिष्ठ संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का लक्षण उदाहरण सहित लिखो।

५. मिश्र एकनिष्ठ संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला का लक्षण लिखकर उसका उदाहरण दो।

६ संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला और संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में क्या अन्तर है? प्रत्येक का उदाहरण देकर समझाओ।

७ सिद्ध करो कि संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में केवल एक वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् आरस्तवीय में अन्तिम और गोक्लेनिअसीय मे प्रथम'।

८. एक संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला जो पाँच वाक्यों की बनी हुई हो लो और उसको उसके अंगीभूत पर्वावयव मध्यित-न्यायों और पश्चादवयव मध्यित-न्यायों में परिवर्तित करो।

६. सिद्ध करो कि संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला में केवल एक ही वाक्य विशेष हो सकता है—प्रथम तो आरस्तवीय मे और अन्तिम गोक्लेनिअसीय में।

१ शुद्ध एकनिष्ठ हीयमान तर्कमाला का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

अध्याय १८

विशेषानुमान के दोष और उनका वर्गीकरण

(१) दोष का स्वरूप

दोष (Fallacy) का साधारण अर्थ ग़लती, भ्रम, आभास आदि है। तार्किक लोग इसका व्यापक अर्थ ग्रहण करते हैं और दोष से वे सब प्रकार की ग़लतियाँ और भ्रमों को ले लेते हैं। तथापि यहाँ दोष से हम यही अर्थ ग्रहण करते हैं कि **दोष वह है जो तार्किक नियमों के उल्लंघन करने से पैदा होता है**। तर्कशास्त्र उन सिद्धान्तों या नियमों का स्पष्ट वर्णन करता है जो सत्य विचारों को नियमित और सुसम्बद्ध बनाते हैं। अत जहाँ नियम हैं वहाँ दोषों की भी सम्भावना है। ये दोष अँगरेजी में फेलेसीज़ (Fallaciep) कहलाते हैं। क्योंकि तार्किक नियम अनेक है इसलिये उनको भग करनेवाले दोष भी अनेक हैं। निम्नलिखित तालिका दोषों का ज्ञान कराने में अत्यन्त सहायक होगी—
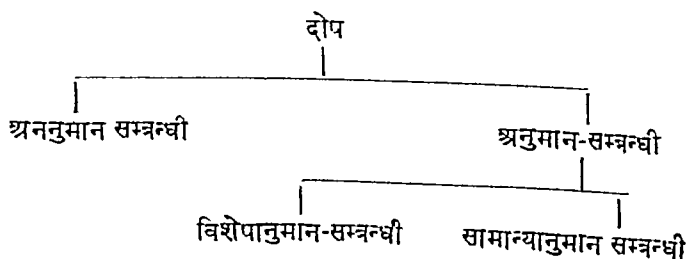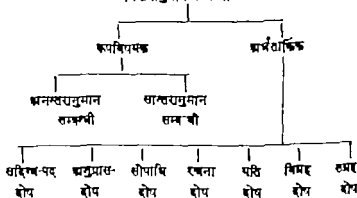
(२) दोष के भेद

दोष दो प्रकार के होते हैं (१) अननुमान-सम्बन्धी (२) अनुमान सम्बन्धी। अनुमान सम्बन्धी दोष वे हैं जो लक्षण और विभाग के नियमों को उल्लंघन करने से उत्पन्न होते हैं।

लक्षण के दोष निम्नलिखित हैं—

(१) निरर्थक।
(२) आकस्मिक
(३) अपूर्ण लक्षण (अव्याप्ति और अतिव्याप्ति)
(४) संदिग्ध और आलंकारिक
(५) निषेधात्मक

तार्किक विभाग के निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) अतिभौतिक विभाग या शारीरिक (भौतिक) विभाग
(२) विपरीत संक्रमण
(३) अपूर्ण या अतिसंकुचित
(४) अतिविस्तृत
(५) लंघित संक्रमण

उपर्युक्त दोषों का विषद[1] वर्णन तत्सम्बन्धी अध्यायों में हो चुका है अत. इनके पुनः वर्णन करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अनुमान के दो भेद है (१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान। अत. दोष भी दो प्रकार के होंगे (१) विशेषानुमान-सम्बन्धी और (२) सामान्यानुमान-सम्बन्धी। जहाँ तक सामान्यानुमान-सम्बन्धी दोषों का सम्बन्ध है उनका वर्णन द्वितीय भाग मे किया जायगा। यहाँ केवल हम विशेषानुमान-सम्बन्धी दोषों का ही वर्णन करेंगे।

विशेषानुमान सम्बन्धी दोषों के भी दो भेद हैं (१) रूपविषयक और (२) [2]अर्धतार्किक। रूपविषयक दोषों के अन्दर हम अनन्तरानुमान और सान्तरानुमान-सम्बन्धी दोषों को अन्तर्भूत करते हैं।

(१) अनन्तरानुमान सम्बन्धी दोष.—गत अध्यायों मे हम ९प्रकार के अनन्तरानुमान का वर्णन कर चुके हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) परिवर्तन।
(२) अभिमुखीकरण।
(३) विरुद्धभाव।
(४) व्यत्यय।
(५) विपर्यय।
(६) सम्बन्ध रूपान्तर।
(७) रीति-परिणाम।
(८) विशेषण-सयोगानुमान।
(९) मिश्रभावानुमान।

इनके सब नियमों का वर्णन पहले किया गया है। उन नियमों के उल्लंघन करने से भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। उन सबका यथास्थान वर्णन किया जा चुका है।

---

1 Clear 2 Semi-Logical

(२) साम्यरानुमान के दोष—साम्यरानुमान के तीन भेद हैं—(१) शुद्ध (२) मिश्र और (३) तर्कमाला। इन सब अनुमानों के विशेष नियम हैं जिनका उल्लंघन करने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे, सिलाजिज्म के साधारण नियम हैं हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष-सिला जिज्म के नियम हैं, उभयतःपाश के नियम हैं वर्धमान और हीयमान तर्कमालाओं के नियम हैं तथा संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला और संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला के नियम हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन सबका यथास्थान वर्णन किया जा चुका है, अतः उनकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं।

(३) अर्धतार्किक दोष[2] —

अर्धतार्किक दोष रूपगत तर्क के दोषों से सर्वथा भिन्न हैं। ये दोष भ्रामक भाषा के प्रयोग करने से उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत रूपविषयक तर्क के दोष केवल तर्क के रूप से जाने जा सकते हैं किन्तु अर्धतार्किक दोषों का ज्ञान करने के लिए भाषा का शुद्ध ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

अर्धतार्किक दोषों के मुख्य-मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) संदिग्ध पद दोष (Fallacy of equivocation)—प्रत्येक सिलाजिज्म में तीन पद होते हैं और वे तीनों पद अपने शुद्धार्थ में प्रयोग करने चाहिये किन्तु जब हम इन तीनों पदों को अनेकार्थ में प्रयोग करते हैं तब तीनों पदों को एक से भिन्न अनेकार्थ में प्रयोग करने से ३ तीन दोष उत्पन्न होते हैं—(१) संदिग्ध मध्यम पद (२) संदिग्ध मुख्य पद और (३) संदिग्ध अमुख्य पद। ये दोष चार पदों के दोष के समान हैं और इनका यथास्थान वर्णन हो चुका है।

(२) अनुप्रास दोष (Fallacy of figure of Speech)—यह वह दोष है जो शब्दों के समान रूप होने से उत्पन्न होता है।

1 Repetition. 2. Semi Logical.

कभी-कभी एक ही धातु से बने हुए शब्द समान रूप होते हुए या संज्ञा विशेषणादि से भेद रखते हुए प्रयोग कर दिये जाते हैं तो इस प्रकार का दोष उत्पन्न होता है। यह दोष प्रायः तब उत्पन्न होता है जब हम इस प्रकार के भिन्नार्थक शब्दों को एकार्थ में ही ग्रहण कर लेते हैं। जैसे,

(१) काल्पनिकों[1] पर विश्वास नहीं करना चाहिये।
मैथिलीशरण कवि कल्पना करता है।
∴ मैथिलीशरण पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

यहाँ काल्पनिक और कल्पना करना भिन्नार्थक होनेपर भी एकार्थ मे ग्रहण किये गये हैं इसलिये यहाँ अनुप्रास दोष हुआ है।

(२) दाता होना बहुत अच्छा है।
राम गोमास देता है।
राम बहुत अच्छा है।

यहाँ भी दाता और देना भिन्नार्थक होते हुए समानार्थ में प्रयोग किये गये हैं इसलिये यह तर्क सदोष है।

(३) **सोपाधि दोष** (Fallacy of accident) तब होता है जब हम मध्यमपद को एक वाक्य में बिना किसी उपाधि के ग्रहण करते हैं और दूसरे वाक्य में उपाधि सहित ग्रहण करते हैं, अथवा मध्यमपद को दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अन्दर ग्रहण करते हैं। जैसे,

(१) पानी तरल पदार्थ है।
बर्फ पानी है।
∴ बर्फ तरल पदार्थ है।

(२) जो कुछ हम खाते हैं वह खेत में पैदा होता है।
रोटी, दाल आदि वस्तुयें हैं जिन्हें हम खाते हैं।

---

1 Projectors

रोग़ी, दाल आदि खेत में पैदा होते हैं।

(३) तुम्हें पशु कहना सत्य है।
तुम्हें बन्दर कहना तुम्हें पशु कहना है।
तुम्हें बन्दर कहना सत्य है।

(४) भ्रामक-रचना दोष (Fallacy of Amphiboly)—भ्रामक रचना दोष किसी वाक्य की भ्रमपूर्ण रचना करने से उत्पन्न होता है। भ्रामक-रचनात्मक वाक्य वह होता है जिसका अर्थ दो रचनाओं में लिया जा सके। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक वाक्य के दो अर्थ या अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं। उनमें से यह निश्चय करना कठिन होता है कि कौन-सा अर्थ ठीक है और कौन-सा ग़लत है।

राम गोविन्द मारता है।

इस वाक्य की रचना भ्रमपूर्ण है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि राम गोविन्द को मारता है और यह भी कि गोविन्द राम को मारता है।

इस दोष का उदाहरण अतिप्रसिद्ध एक चतुर ज्योतिषी का है। किसी सेठ के घर बाल-बच्चा होनेवाला था। उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और कहा 'मेरे घर क्या होगा'। उसने एक वाक्य लिखकर दे दिया और कहा 'होनेपर देख लेना'। उसमें लिखा था लड़का न लड़की'। इस वाक्य में अल्प विराम 'न' के पहिले और बाद में लगाने से दो अर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार वह ज्योतिषी अपनी दक्षिणा लेने में सफल हुआ।

(५) ध्वनि दोष (Fallacy of accent)—यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम वाक्य के किसी ग़लत शब्द पर ज़ोर या दबाव देकर उसका उच्चारण करते हैं। जैसे,

"तुम अपने पड़ोसी के विरुद्ध गवाही नहीं दे सकते"।

इसमें पड़ोसी और विरुद्ध, दोनों पदों पर ज़ोर देने से इस वाक्य

के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। 'पडोसी पर जोर देने से इसका अर्थ होगा कि अन्य के विरुद्ध दे सकते हो। 'विरुद्ध' पर जोर देने से यह अर्थ होगा कि उसके पक्ष में दे सकते हो। इस प्रकार भिन्न २ शब्दों नर जोर देने से कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) **विग्रह दोष** (Fallacy of Division)—यह दोष तब होता है जब हम किसी पद के समुदायार्थ को विग्रहार्थ मे ग्रहण करके तर्क करते हैं। जैसे,

(१) कालिदास की सब रचनाएँ एक दिन में नहीं पढ़ी जा सकती।
शकुन्तला नाटक कालिदास की रचना है।
शकुन्तला नाटक एक दिन में नहीं पढ़ा जा सकता।

(२) मुझे सब याद है जो कुछ मैंने पढा है।
मैंने रामायण का प्रत्येक श्लोक पढ़ा है।
. मुझे रामायण का प्रत्येक श्लोक याद है।

(३) पन्द्रह एक सख्या है।
सात और आठ पन्द्रह होते हैं।
. सात और आठ एक सख्या है।

(४) पचायत ने उसे निर्दोष घोषित किया है।
रामनाथ पचायत का एक सदस्य है।
. रामनाथ ने उसे निर्दोष घोषित किया है।

(५) भारतीय सभ्य पुरुष होते हैं।
गोविन्द भारतीय है।
गोविन्द सभ्य पुरुष है।

(७) **संग्रह दोष** (Fallacy of composition)—यह तब होता है जब हम किसी पद के विग्रहार्थ को संग्रहार्थ में लेकर तर्क करते हैं। जैसे,

(१) पंचायत के सदस्यों में से एक भी ठीक निर्णय नहीं दे सकता।
पंचायत ठीक निर्णय नहीं दे सकती।

(२) प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है।
सब मनुष्य अपना सुख चाहते हैं।

(३) आठ और सात सम और विषमांक हैं।
सात और आठ पंद्रह हैं।
∴ पंद्रह सम और विषमांक हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ दोष किसे कहते हैं? तर्कशास्त्र में दोष का क्या अर्थ है? दोषों का वर्गीकरण करो।

२ अनुपात दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

३ निम्नलिखित तर्कों की परीक्षा करके दोषों का उद्घाटन करो:—

(१) यह वस्तु वायु के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती क्योंकि सब वायुएँ शब्द पैदा करती हैं।

(२) मैं अपने विद्यार्थी को समाचार पत्रों से नहीं बनाता हूँ क्योंकि मैं उनको कभी नहीं पढ़ता।

(३) प्रत्येक मुर्गी अंडे से पैदा होती है प्रत्येक अंडा मुर्गी से पैदा होता है, इसलिये प्रत्येक अंडा अंडे से पैदा होता है।

(४) जो सबसे ज्यादा भूखा होता है वह सबसे ज्यादा खाता है।
जो सबसे कम खाता है वह सबसे ज्यादा भूखा होता है।
जो सबसे कम खाता है वह सबसे ज्यादा खाता है।

(५) सेनेट बुद्धिमानों का समुदाय है।
रामभद्र एक सेनेट का सदस्य है।
रामभद्र एक बुद्धिमान व्यक्ति है।

(६) क न ख न ग इस भार को उठा सकता है।
क, ख ग इस भार को नहीं उठा सकते।

४ भ्रामक रचना दोष से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? उदाहरण देकर समझाओ।

५ सिकन्दर दारा जीतेगा' इसमें कौन सा दोष है? विश्लेषण करके स्पष्ट समझाओ।

६ 'चाचाजी आज मर गये' इसमे क्या दोष है? स्पष्ट बतलाओ।

७ जो तुम्हें मनुष्य कहता है सत्य कहता है।
जो तुम्हें बुद्धू कहता है वह तुम्हें मनुष्य कहता है।
. जो तुम्हें बुद्धू कहता है वह सत्य कहता है।
इस तर्क में क्या दोष है? स्पष्ट बतलाओ।

८ यदि बिल्ली नहीं है तो चूहे खेलते हैं।
चूहे खेल रहे हैं।
बिल्ली नहीं है।

९ गोविन्द यथार्थ में भला मनुष्य है क्योंकि वह धर्मात्मा है केवल धर्मात्मा ही वास्तव में भले मनुष्य होते हैं।

१० आचरण की शिक्षा व्यर्थ है क्योंकि सत्पुरुषों को उसकी आवश्यकता नहीं और असत् पुरुष उसकी परवा नहीं करेंगे।

अध्याय १६

परिशिष्ट १

सिलाजिज्म पर मिल महोदय की आपत्ति[1]

सिलाजिज्म के स्वरूप प्रकार, दोष आदि के वर्णन के बाद यहाँ हम एक प्रसिद्ध दार्शनिक और तार्किक मिल महोदय की सिलाजिज्म के ऊपर आपत्ति पर विचार आरम्भ करते हैं। मिल महोदय का कहना है कि सिलाजिज्म जिसको तर्क का रूपविपयक साधन माना गया है वह उचित नहीं। सिलाजिज्म को हम अवयव घटित-न्याय कहते हैं। प्रत्येक सिलाजिज्म में तीन वाक्य होते हैं किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार तार्किक पद्धति से सिलाजिज्म का प्रयोग नहीं करता। वह सिलाजिज्म को सर्वथा निरर्थक तो नहीं बतलाता। किन्तु उसका इतना कहना अवश्य है कि इसका विशेष उपयोग न होते हुए यदि हमें कभी अपनी तर्कणा में संदेह हो तो हम अपने तर्कों को सिलाजिज्म के रूपों में लाकर परीक्षा कर सकते हैं कि हमारा तर्क ठीक है या ग़लत है। इससे यह स्पष्ट है कि अवयव-घटित न्याय का उपयोग केवल विचार कोटि में है; किन्तु व्यवहार कोटि में बिलकुल नहीं।

(१) प्रथम मिल कहता है कि सिलाजिज्म की प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसके अनुसार हम तर्क करते हैं। उसके अनुसार सब तर्क विशेष से विशेष का ज्ञान कराते हैं सामान्य वाक्य केवल इसी प्रकार के

---

1 Objection.

किये हुए तर्कों के समूह होते हैं। हम इस प्रकार के साधारण सूत्र बना लेते हैं और उनके द्वारा तर्क किया करते हैं। सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य इसी प्रकार का सूत्र है तथा निष्कर्ष इस सूत्र से निकाला हुआ तर्क नहीं है, किन्तु निष्कर्ष इस सूत्र के अनुसार निकाला हुआ अनुमान है।

मिल के अनुसार सिलाजिज्म का मूल्य इतना ही है कि सिलाजिज्म की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम अपने तर्कों या अनुमानों की जाँच कर सकते हैं और देख सकते हैं कि हमारे निष्कर्ष अनिश्चित तो नहीं हैं। यदि उनमे किसी प्रकार की अनिश्चितता हो भी तो वह प्रकाश में लाई जा सकती है। अत· मिल के सिद्धान्त के अनुसार सिलाजिज्म को सर्वथा व्यर्थ तो नहीं समझा जा सकता। यद्यपि वह यह अवश्य मानते हैं कि मनुष्य जाति ने तर्क के जटिल नियमों के अनुसार कभी तर्क न किया, न कभी वह करेगी और न करती है। इस मत को हर्शेल (Herschel) ह्वेल (Whewell) बेन (Bain) आदि महानुभावों ने भी स्वीकार किया है और उनका कहना है कि मिल की यह आपत्ति ठीक है।

किन्तु कुछ तार्किक ऐसे भी हैं जिनमे मेनसेल (Mansel), डी, मोरगन (De Morgan) मार्टिनो (Martineau) पी० के० रे (P. K. Ray) हेमिल्टन (Hamilton) आदि सम्मिलित हैं जो उपर्युक्त मिल महोदय के मत का विरोध करते हैं। इसके विरोध मे निम्नलिखित विषय विचारणीय हैं—

(१) मिल महोदय की यह आपत्ति सत्य है कि हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया के अनुसार कभी तर्क नहीं करते। किन्तु यह कहना भी कम सत्य नहीं है कि हमारे साधारण अनुमान कभी सत्य नहीं हो सकते यदि उनमें जटिल सिलाजिज्म के नियमों में परिवर्तित होने की

क्षमता न हो। प्रतीत होता है मिल महोदय मनोविज्ञान और तर्क के कार्यों में गड़बड़ पैदा करते हैं। यह पहिले तर्क की उपयोगिता के विषय में कहा जा चुका है कि यह तर्कशास्त्र का काम नहीं है कि तर्कशास्त्र उन सब प्रकार की प्रक्रियाओं का वर्णन करे जिनके द्वारा लोग तर्क किया करते हैं। तर्कशास्त्र तो नियामक शास्त्र है और इस दृष्टि से यह तो केवल नियमों का विधान करता है और इसका उद्देश्य तो यही बतलाता है कि मनुष्यों का किस प्रकार तर्क करना चाहिये यदि वे दोषरहित तर्क करना चाहते हैं। निर्दोष तर्क के लिये यह आवश्यक है कि कुछ निश्चित नियमों का पालन किया जाय। यदि वे नियम ठीक तौर से नहीं पाले जायँगे तो तर्क ग़लत होगा। मनोविज्ञान इससे विपरीत है। यह तो वस्तुस्थितिवादी शास्त्र है। यह विषय जिस प्रकार के हैं उनका उसी प्रकार वर्णन करता है। यह 'है' का विचार करता है 'चाहिये' का नहीं। मनुष्य कैसे तर्क करते हैं? क्या करते हैं? इसका विचार करना तर्कशास्त्र का काम नहीं। यह तो केवल सत्य और ठीक तर्क करने के लिये नियम बना देता है। जिन्हें तर्क करना होगा उन्हें उन नियमों का अवश्य पालन करना होगा। मिल महाशय दोनों विज्ञानों के कार्य को गड़बड़ में डाल देते हैं। केवल इतने कहने से कि सिलाजिज्म ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा प्रायः मनुष्य तर्क करते हैं सिलाजिज्म का महत्व कम नहीं हो जाता। जब तक सिलाजिज्म को सत्य तर्क करने का साधन माना जाता है तब तक हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सिलाजिज्म के नियम सत्य हैं और सब प्रकार के तर्क इन्हीं नियमों के अनुसार किये जाते हैं। और उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिये उन्हें इसी रूप में परिवर्तित करना होगा। यही सिलाजिज्म की विशेषता है।

तथा मिल की यह आपत्ति कि सब तर्क विशेष से विशेष के ही द्वारा करते हैं—भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। यह ठीक

है कि प्रायः हम उपमान[1] द्वारा विशेष से विशेष का ज्ञान करते है किन्तु यह कहना, अतिशयोक्ति पूर्ण है कि यही सामान्य ज्ञान कराने का एकमात्र साधन है। उपमानजन्य ज्ञान प्राय' करके गलत होता है किन्तु जब वह सत्य होता है तब वह विशेषों में सामान्यभाव पर अवलम्बित नहीं रहता। हम विशेष से विशेष का ज्ञान करने के लिये ठीक कहे जा सकते हैं क्योंकि दोनों में हम सादृश्य का भाव देखते हैं। यह सादृश्य का भाव सामान्य का द्योतक होता है जिससे विशेष विषयों का सगठन होता है। इसलिये जब हम सादृश्य से अनुमान करते हैं तब हमारा अनुमान, विशेष पदार्थों में जो सामान्य गुण प्रतीत होते हैं उन्हीं के आधार पर चलता है जो स्वय विशेष नहीं होता। वेल्टन (Welton) महोदय का कहना बिलकुल सत्य है "उन उदाहरणों में जहाँ अनुमान एक या अधिक विशेषों पर निर्भर रहता है वहाँ वह सामान्य तत्व पर ही निर्भर रहता है और इस सामान्य तत्व, जिसमें वे सब घटित होते हैं, को हम साधारण वाक्य के रूप मे प्रकट कर सकते हैं और यह सामान्य वाक्य सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य होता है। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य के महत्व को हम दूर नहीं कर सकते।

(२) द्वितीय आपत्ति मिल महाशय की यह है कि प्रत्येक सिलाजिज्म में सिद्ध-साधन[2] दोष होता है। (सिद्ध साधन दोष वह है जब हम निष्कर्ष को प्रतिज्ञा वाक्यों में ही सम्मिलित कर लेते हैं और पश्चात् उनको सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस दोष का नाम प्रश्न-प्रार्थना (Begging the question) भी हैं। इसको चक्रक[3] दोष भी कहा जाता है। जैसे, मनुष्य मरणशील है क्योंकि उसकी मृत्यु

---

1 Analogy. 2 Petito Principii
3 Argument in circle

सामान्यानुमान भी होता है जिसमें सब उदाहरणों की परीक्षा करने पर व्याप्ति नहीं बनाई जाती, किन्तु केवल थोड़े से ही उदाहरणों की परीक्षा करने के बाद अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ "सब मनुष्य मरणशील हैं" इस सामान्य वाक्य को हम सब उदाहरणों की परीक्षा करने के बाद कभी नहीं बना सकते। इसमें तो अनेक उदाहरण छोड़ दिये जाते हैं और सब उदाहरणों की परीक्षा करना सम्भव भी नहीं है। अत. इस वाक्य को आधार वाक्य बनाकर हम निष्कर्ष निकालें तो हमारा निष्कर्ष कि 'भारत के प्रजातन्त्र राज्य का अध्यक्ष मरणशील है' आधार वाक्य में सम्मिलित नहीं किया गया है। यह तो एक सर्वथा नवीन निष्कर्ष है जो हमें पहले नहीं मालूम था। इसी हेतु से हम कह सकते हैं कि सिलाजिज्म मे हमे व्याप्ति द्वारा नवीन सत्यों का ज्ञान होता है जिनका उनमें समावेश नहीं किया गया है।

तथा एक सिलाजिज्म मे दो वाक्यों के योग की आवश्यकता होती है। वे हैं :—मुख्य वाक्य और अमुख्य वाक्य। किन्तु पूर्वोक्त आपत्ति के अनुसार तो अमुख्य वाक्य बिलकुल व्यर्थ सिद्ध होगा। स्थिति यह है कि निष्कर्ष दोनों वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला जाता है, किसी एक वाक्य से नहीं निकाला जाता है। इसलिये अमुख्य वाक्य की सत्ता से यह बिलकुल सिद्ध है कि सिलाजिज्म मे सिद्धसाधन दोष नहीं आता। अमुख्य वाक्य इस तथ्य का द्योतक है कि सिलाजिज्म में निष्कर्ष केवल मुख्य वाक्य में निहित नहीं रहता, किन्तु यह सर्वथा अपूर्व है जो दोनों वाक्यों की तुलना का परिणाम है। इस निष्कर्ष के निकालने मे मध्यम-पद विशेष स्थान रखता है। वास्तव मे जैसे भारतीय अनुमान में हेतु मुख्य वस्तु है उसी प्रकार सिलाजिज्म में मध्यम-पद मुख्य है। इस मध्यम-पद के बल से ही नवीन निष्कर्ष निकालने में हम सफल होते हैं।

यदि वास्तव में सिलाजिज्म में सिद्धसाधन दोष होता तो ससार में हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। हमारा ज्ञान अन्य जन्तुओं के

समान विशेष पदार्थों का ज्ञान करके ही संतुष्ट रहता किन्तु हम यह अनुभव करते हैं कि मनुष्य ही है जो विशेष से उठकर सामान्य के तथ्य पर पहुँचता है और सामान्य सिद्धान्तों को बनाकर, उनके द्वारा नवीन-नवीन तथ्यों की खोज करता है। हम यह कह सकते हैं कि सिलाजिज्म में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्य में निहित रहता है; किन्तु जब तक हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया को धारण न करें हमें निष्कर्ष मिल ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि निष्कर्ष मुख्य वाक्य में अन्तर्भूत रहने पर भी हमें उसका ज्ञान तभी हो सकता है जब हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया से निष्कर्ष निकालते हैं। अनुमान की विशेषता इसीमें है कि जो अज्ञात है उसको ज्ञात के आधार पर जान लिया जाय। ज्ञान की वृद्धि संसार में इसी प्रक्रिया से ही होती है। अतः जब हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया से निष्कर्ष निकालते हैं तो अवश्य ही हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य सत्य-प्राप्ति है। सत्य का स्वरूप किस प्रकार से हमारे ज्ञान का विषय बने उन सब बातों को हमें ग्रहण कर प्रयोग में लाना चाहिये।

तथा यदि यह मान भी लिया जाय कि मिल की आपत्ति उपयुक्त है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस आपत्ति का मूल कारण मनोवैज्ञानिक है, तार्किक नहीं। किसी तर्क को इस आधार पर असत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि 'इसको सब जानते हैं।' रेखागणित के सिद्धान्त इसलिये निरर्थक नहीं कहे जा सकते क्योंकि अमुक व्यक्ति उन्हें अच्छी तरह जानता है और उसे सब सिद्धान्त याद हैं।

इन हेतुओं से यह सिद्ध है कि सिलाजिज्म में सिद्धसाधन दोष निराधार है। सिलाजिज्म का जीवन में तर्क और विचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है।

इस विरुद्ध यदि हम ह्वाटले (Whatley) महोदय के विचारों को महत्व दें तो हमें प्रतीत होगा कि उनके अनुसार सिलाजिज्म को

छोडकर तर्क करने की और कोई प्रक्रिया है ही नहीं। यह भी विचार अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि सिलाजिज़्म को ही तर्क करने का आधार मानने पर हम तर्क को अत्यन्त संकुचित रूप में निबद्ध कर देंगे। सिलाजिज्म तो केवल उन्हीं वाक्यों से सम्बन्ध रखता है जिनमें द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है। किन्तु जब हम दूसरे सम्बन्धों से भी तर्क करते हैं तो वहाँ सिलाजिज्म की निरर्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि सिलाजिज्म तर्क करने का अच्छा उपाय है। केवल इसीको उपाय मानना और यह कहना कि और कोई उपाय है ही नहीं, ठीक नहीं है।

अभ्यास प्रश्न

१. मिल महोदय की सिलाजिज़्म के विरुद्ध क्या आपत्ति है? उन आपत्तियों को उठाकर उनका समाधान करो।

२ सिद्धसाधन दोष से तुम क्या समझते हो? क्या सब अवयव-घटित-न्याय इस दोष से दुष्ट होते हैं? समाधान करो।

३ मिल महोदय का यह कहना है कि सब तर्क—'विशेष से विशेष का होता है' कहाँ तक ठीक है? इसके विरुद्ध अपने विचार प्रकट करो।

४ किस दृष्टि से सिलाजिज्म को सिद्धसाधन दोष से दुष्ट गिना गया है? स्पष्ट करो।

५. 'क्या तर्क करने का सिलाजिज्म को छोडकर और कोई उपाय ही नहीं?' इसपर अपने समालोचनात्मक विचार प्रगट करो?

६ सिलाजिज्म की विशेष उपयोगिता क्या है, जब मनुष्य साधारण जीवन में इसके अनुसार तर्क ही नहीं करते?

अध्याय २०

परिशिष्ट २

प्राच्य और पाश्चात्य अनुमान विधियाँ

आजकल प्राच्य और पाश्चात्य अनुमान विधियों के ऊपर तुलनात्मक विवेचन करने की परिपाटी बन गई है। मनुष्य जब से इस सृष्टि पर विद्यमान है, सोचता रहा। आज हम जितना ज्ञान विज्ञान का उत्कर्ष देखते हैं वह सब मनुष्य के चिन्तन का परिणाम है। चिन्तन करना या सोचना हमें यह बतलाता है कि मनुष्य की तर्क करने की शक्ति स्वाभाविक[1] है। दृश्य जगत् को तो हम अपनी इन्द्रियों से प्राप्त करते हैं किन्तु जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों के ज्ञान के परे हैं उनके विषय में हमें अनुमान की या तर्क की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ही तर्क का उद्गम हुआ है।

हमारे सामने इस समय दो तर्क पद्धतियाँ उपस्थित हैं। (१) प्राच्य और (२) पाश्चात्य। यह पुस्तक पाश्चात्य तर्कविधि पर लिखी गई है। यद्यपि इसका प्राच्य पद्धति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है तथापि तर्क की दृष्टि से दोनों की तुलना करना संगत है। इसमें कौन प्राचीन और कौन अर्वाचीन है? किसका किसके ऊपर असर है? इन प्रश्नों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य तर्कशास्त्री एकमत नहीं हैं। हाँ इतना स्पष्ट है कि दोनों तर्क पद्धतियाँ यथेष्ट प्राचीन हैं। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। एक पक्ष के लोगों का कहना यह है कि पाश्चात्य पद्धति का प्राच्य पर प्रभाव

---

1 Natural.

है। दूसरे पक्ष के लोगों का कहना है कि प्राच्य का पाश्चात्य पर प्रभाव है। मैंने जहाँ तक अध्ययन किया है मुझे यह प्रतीत होता है कि दोनों तर्क पद्धतियाँ स्वतन्त्र हैं और दोनों देशों के लोगों ने स्वतन्त्र रीति से तर्क करना आरम्भ किया है। यही कारण है कि मूल प्रक्रिया और अवान्तर प्रक्रियायें दोनों सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं।

दोनों के भिन्न होने पर विचार की दृष्टि से दोनों प्रकार की अनुमान विधियों में तुलना भलीभाँति हो सकती है। इसके लिये प्रथम हम भारतीय तर्क पद्धति को लेते हैं। भारतीय न्यायशास्त्रों में अनुमान का साधारण लक्षण यह है "साधन से साध्य का ज्ञान करना" यहाँ साधन 'हेतु' कहलाता है और 'साध्य' उसे कहते हैं जिसे सिद्ध किया जाय। उदाहरणार्थ 'यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि यहाँ धूम है'। यहाँ धूम, हेतु है और पर्वत में अग्नि, साध्य है। अतः धूम से अग्नि के होने की सिद्धि करना अनुमान है।

यह अनुमान दो प्रकार का होता है (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने लिये होता है। इसलिये स्वार्थानुमान में केवल हेतु और साध्य का ही ज्ञान आवश्यक है। बुद्धिमान मनुष्य हेतु को देखकर तुरन्त साध्य का ज्ञान कर लेता है। किन्तु जब दूसरे को समझाने के लिये अनुमान का प्रयोग किया जाता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। यह वचनात्मक होता है। परार्थानुमान के एक से लेकर पाँच तक अंग होते हैं। यदि कोई शिष्य अत्यधिक बुद्धिमान है तो उसके लिये हेतु के उच्चारण मात्र से साध्य का ज्ञान हो जाता है किन्तु शिष्यों की ग्राहकता की दृष्टि से ५ अंगों तक का प्रयोग किया जाता है। ये अंग निम्नलिखित हैं।

१ प्रतिज्ञा — पर्वत अग्निमान् है।
२ हेतु — क्योंकि वहाँ धूम है।

३ उदाहरण जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है;
जैसे रसोई घर।
४ उपनय जैसे यहाँ धूम है।
५ निगमन इसलिये यहाँ अग्नि भी है।

यह क्रम भारतीय पद्धति का है। इसमें सबसे प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य दिया गया है पश्चात् हेतु दिया गया है। ये दो अंग मुख्य हैं। इन्हीको स्पष्ट करने के लिये उदाहरण दिया गया है। उदाहरण में भी यदि किसीको सन्देह उत्पन्न हो तो उसको दूर करने के लिये उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह पञ्चांग-पूर्ण ही भारतीय तर्क-पद्धति है।

हम एक उदाहरण सिलाजिज्म का भी लेते हैं। सिलाजिज्म वाक्यानुमान का वह रूप है जिसमें हम दिये हुए दो वाक्यों के योग से एक तीसरा निष्कर्ष निकालते हैं। जैसे

सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन एक मनुष्य है।
नागार्जुन मरणशील है।

इसमें हम देखते हैं कि तीन पद प्रयुक्त किये गये हैं और वे भी दो-दो बार। निष्कर्ष का उद्देश्य अमुख्य पद होता है और विधेय मुख्य पद। तीसरा पद मध्यम पद होता है जो विशिष्ट स्थान रखता है। यह निष्कर्ष में नहीं होता किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है। यह योजक है और मुख्य और अमुख्य पद में बिचवानिया या दलाल का काम करता है। इस प्रकार हम एक नवीन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

अब इन दोनों का तुलनात्मक विचार करना चाहिये। सबसे पहले हम भारतीय अनुमान को सिलाजिज्म में परिवर्तित करते हैं पश्चात् दोनों की तुलना करना सुगम होगा :—

सब धूम के दृष्टान्त	अग्नि के दृष्टान्त हैं।
यह पर्वत	धूम का दृष्टान्त है।
यह पर्वत	अग्नि का दृष्टान्त है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे से उलटी सी मालूम होती हैं। सर्वप्रथम हम प्रतिज्ञा को ले सकते हैं। भारतीय पद्धति में यह सर्वप्रथम रक्खी गई है किन्तु पाश्चात्य पद्धति में यह निष्कर्ष के रूप मे हमारे सामने उपस्थित होती है। सिलाजिज़्म मे जिनको हम मुख्य पद और अमुख्य पद कहते हैं भारतीय पद्धति मे वे ही पक्ष और साध्य हैं। इस व्यत्यय का कारण क्या ? इसमें एक दूसरे के आदान प्रदान का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। मैं समझता हूँ इसका उत्तर ज्ञान की सापेक्षता मे है। आप किसी भी दृष्टि विन्दु से चलें आप पहुँचेंगे उसी निष्कर्ष पर। यहाँ पर भी भारतीय लोग अनुलोम विधि से और पाश्चात्य लोग प्रतिलोम विधि से, एक ही निर्णय पर पहुँचे हैं। यह निर्णय है वस्तुसिद्धि। वस्तुसिद्धि सरलता पूर्वक जिस प्रकार से हो सके वही पद्धति ग्रहण करनी चाहिये।

प्राच्य पद्धति में निष्कर्ष को पहले रखने का प्रयोजन यही है कि जिस वस्तु को हमे सिद्ध करना है उसे पहले ही रक्खा जाता है। रेखागणित मे भी यही प्रक्रिया ग्रहण की जाती है। वहाँ भी प्रतिज्ञा वाक्य पहिले दिया जाता है पश्चात् उपपत्ति दी जाती है। किन्तु पाश्चात्य पद्धति में ऐसा नहीं है। वे व्याप्ति वाक्य मे एक दृष्टान्त को लेकर निष्कर्ष निकालते हैं। इस प्रकार उनकी यह प्रक्रिया सामान्य से विशेष की ओर चलती है। इस प्रक्रिया को वे निष्कर्षण प्रक्रिया (Deductive method) कहते हैं।

कार्वेथ रीड (Carveth Read) ने अनुमान के दो अभिप्राय पकट किये हैं। प्रथम अभिप्राय तो यह है कि अनुमान विधि

प्रायः किसी वस्तु को देखकर या सुनकर हम कुछ उसके विषय में कल्पना करते हैं। प्रथम हमें किसी वस्तु का दर्शन या श्रवण कर उस वस्तु के विषय में आशंका सी उत्पन्न होती है। उसके निवारणार्थ हम कल्पना की सृष्टि करते हैं। मेघ मेघाच्छादित कृष्ण बादलों को देखकर वृष्टि होने की कल्पना की जाती है। यह प्रक्रिया मानसिक है और इसलिये मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान की किसी पुस्तक को उठाकर हम देखें तो कल्पना के प्रभाव में हमें अनुमान करने की इस क्रिया का बयान मिल जायगा।

दूसरा अभिप्राय रीड महोदय का एक काल्पनिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त फल से है। जब हम अपनी मानसिक कल्पना द्वारा फलित तरह निष्कर्ष निकालते हैं तब वह 'अनुमान' तर्कशास्त्र का विषय बन जाता है। इसमें हमें व्यक्ति और विशेष रूप से सद्युक्ति का अवलम्बन लेना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मनोविज्ञान प्रत्न और भूत के आधार पर कल्पना द्वारा हमें किस प्रकार नवीन सत्यों की खोज करने में सहायक होता है। तथा तर्कशास्त्र निष्कर्ष को लेकर इस बात की खोज कराता है कि यह निष्कर्ष हमें किस प्रकार सम्पन्न हुआ।

इस दृष्टि से हमें कहना पड़ेगा कि प्राच्य पद्धति में तर्क का विशेष आलम्बन लिया गया है किन्तु पाश्चात्य पद्धति में मनोविज्ञान का आधार अधिक है। हमारी मानसिक गति कैसे सामान्य की ओर से विशेष की ओर जाती है और किस प्रकार फिर विशेष से सामान्य की ओर जाती है—यह पाश्चात्य तर्क की विशेषता है। इसके विपरीत भारतीय पद्धति में केवल एक ही प्रकार है अर्थात् हेतु से साध्य का ज्ञान करना। यद्यपि इसके भेदों में स्वभाव व्याप्य व्यापक, कार्य कारण आदि अनेक आनुमानिक प्रक्रियाएँ अन्तर्भूत हैं। इसी कारण प्रक्रिया का उल्लेख सप्रथम किया जाता है।

दूसरा स्थान हेतु का है। हेतु का मुख्य लक्षण है 'अन्यथानुपपत्ति' अर्थात् जिसके अभाव में साध्य की सिद्धि न हो। हम देखेंगे कि पाश्चात्य तर्क पद्धति में भी अमुख्य वाक्य (Minor Premise) का बड़ा स्थान है। हम इसे हेतुवाक्य कहें तो आपत्ति नहीं। इसमें निष्कर्ष के उद्देश्य का हेतु के साथ सम्बन्ध रहता है। निष्कर्ष की प्राप्ति में यह विशेष कार्य करता है। इसको अमुख्य या गौण वाक्य इसलिये कहते हैं कि यह मुख्य वाक्य के अनन्तर रक्खा जाता है।

तीसरा स्थान उदाहरण का है। भारतीय पद्धति में उदाहरण के लिये विशेष महत्व नहीं। अल्पबुद्धि शिष्यों के लिये दृष्टान्त या उदाहरण की आवश्यकता पडती है। व्युत्पन्न शिष्य या मनुष्य तो हेतु और प्रतिज्ञा इन दोनों से ही भली भाँति ज्ञान कर लेता है। किन्तु पाश्चात्य पद्धति में इसके विपरीत इसका अत्यन्त महत्व है। जिस प्रकार रेखागणित में प्रतिज्ञा वाक्य (General Enunciation) होता है उसी प्रकार यह भी प्रतिज्ञा के रूप में रक्खा जाता है। इसको मुख्य वाक्य इसलिये कहते हैं क्योंकि यह सबसे पहले रक्खा जाता है। तथा निष्कर्षण या विशेषानुमान (Deduction) में हम सामान्य से विशेष की ओर चलते हैं। यह वाक्य सामान्य वाक्य कहलाता है और इसके साथ हम एक विशेष वाक्य की तुलना करके विशेष का निष्कर्ष निकालते हैं। यह मुख्य पद निष्कर्ष के विधेय का हेतु के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य पद्धति में किस प्रकार उद्देश्य पद, विधेय पद और मध्यम पद का उपयोग किया गया है। भारतीय पद्धति में विशेष रूप से मध्यम पद—हेतु और मुख्य पद—साध्य का प्रयोग किया गया है। अमुख्य पद साध्य के साथ ही ले लिया जाता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, या जो वस्तु सिद्ध करनी होती है उसे सिद्ध करते हैं।

चौथा और पाँचवाँ अवयव पाश्चात्य पद्धति में और भारतीय पद्धति में विशेष उपयोगी नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि यदि उदाहरण में किसी को संदेह हो या प्रतिज्ञा वाक्य में किसी को संदेह हो तो उसके दूर करने के लिये वे उपयोगी हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो उपनय हेतु के उपसंहार को छोड़कर कुछ नहीं है और प्रतिज्ञा के उपसंहार को छोड़कर निगमन कुछ नहीं है। दोनों अवयवों पर गौतम को छोड़कर अन्य किसी भारतीय तार्किक ने अधिक भार नहीं दिया है।

अतः दोनों पद्धतियों में तीन ही अवयव मानने चाहिये और तीन की ही उपयोगिता है। भारतीय पद्धति में (१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण और पाश्चात्य पद्धति में (१) उदाहरण (२) हेतु (३) पक्ष—यही अनुमान का क्रम है। दोनों पद्धतियाँ अनुलोम-प्रतिलोम रूप हैं। दोनों को एक समझना भूल है। न दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव ही प्रतीत होता है। दोनों पद्धतियाँ हमारे विचार के अनुसार स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम प्रतीत होते हैं। एक को अच्छा कहना और दूसरे को बुरा कहना दैशिक आग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। विद्यार्थियों को दोनों ही प्रक्रियाओं को समुचित रूप से अध्ययन कर लाभ उठाना चाहिये—यही हमारी मान्यता है।

अभ्यास प्रश्न

१ भारतीय और पाश्चात्य अनुमान विधियों में क्या अन्तर है? दोनों का स्पष्ट विवेचन करो।

२. भारतीय और पाश्चात्य तर्कविधियों में से किसका किसके ऊपर प्रभाव है? अपना स्वतन्त्र मत दो।

३ विशाखिम और पचाङ्ग पूर्ण अनुमान में कहाँ तक समानता है? उदाहरणपूर्वक समझाओ।

४. एक सिलाजिज्म को भारतीय अनुमान के रूप मे परिवर्तित करो और दोनों की समानता पर प्रकाश डालो।

५ भारतीय तर्क-पद्धति मे हेतुपद और पाश्चात्य तर्क-पद्धति में मध्यम पद का क्या स्थान है? इस पर सुस्पष्ट प्रकाश डालो।

६. 'विशेषानुमान को निगमन विधि कहना कहाँ तक संगत है' इस पर अपने विचार प्रकट करो।

७ 'प्राच्य पद्धति में निष्कर्ष को पहले क्यों रक्खा जाता है और पाश्चात्य पद्धति में यह अन्त में निकलता है' इस पर अपना विवेचनात्मक विचार प्रकट करो।

परिभाषिक शब्दों की सूची